श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थमाला का ४६वा पुष्प

- पुस्तक
  महावीर युग की प्रतिनिधि कथाएँ

- आशीर्वचन
  राजस्थान केसरी श्री पुष्कर मुनि जी

- लेखक
  देवेन्द्र मुनि, शास्त्री, साहित्यरत्न

- सम्पादक
  श्री ज्ञान भारिल्ल

- पृष्ठ

- प्रथम प्रवेश
  नवम्बर, १९७५
  २५वा महावीर निर्वाण शताब्दी वर्ष
  वि० सं० २०३२ कार्तिक पूर्णिमा

- प्रकाशक
  श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
  शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राजस्थान)

- मुद्रक
  श्रीचन्द सुराना के लिए
  राष्ट्रीय आर्ट प्रिन्टर्स, आगरा-३

- मूल्य
  बारह रुपए मात्र

समर्पण

जिनकी प्रवल-प्रेरणा
पथ-प्रदर्शन
एव आशीर्वाद से
चिन्तन-मनन-लेखन मे
मैं निरन्तर प्रगति कर रहा हूँ
उन्ही अध्यात्मयोगी महामनीषी
राजस्थान केसरी पूज्य गुरुदेव
श्री पुष्कर मुनि जी म० के
पवित्र कर-कमलो मे
अपार श्रद्धा के साथ

—देवेन्द्र मुनि

आशीर्वचन

कहानी जीवन चेतना की एक निर्मल तरग है, जिसमे अन्तर्जगत की दिव्य व भव्य अनुभूनियाँ रुपायित होकर लहराती है। जिसके प्रत्येक चरण मे, प्रत्येक ध्वनि मे और प्रत्येक शब्द मे पवित्र प्रेरणा अठखेलियाँ करती है। जिसमे विचारो का वेग होता है, अनुभूति का आलोक होता है और सवेदना की स्निग्धता होती है। ऐसी कहानियाँ सदा-सर्वदा अमर होती है। महाकाल का क्रूर प्रभाव भी उसे प्रभावित नही कर सकता इतिहास के पृष्ठो पर और जन-जिह्वा पर वे स्वर्णाक्षरो की भाँति चमकती रहती है।

जैन आगम व आगमेतर साहित्य मे इस प्रकार की कहानियाँ लबालब भरी है, जिनमे जीवन का शाश्वत सत्य है, विमल-विचारो की धडकन है, आचार का स्पन्दन है, अनेकान्त का अनुवन्धन है और उच्च सस्कारो का अङ्कन है।

श्रमण भगवान महावीर अपने पीयूषवर्षी प्रवचनो मे जहाँ दर्शन सम्वन्धी गम्भीर चर्चा करते थे वहाँ आचार सम्वन्धी सरल मार्ग भी प्रस्तुत करते थे, जहाँ गणित सम्वन्धी जटिल पहेलियो को बुझाते थे, वहाँ पर कथाओ के माध्यम से धर्म के मर्म को प्रकट करते थे। भगवान महावीर के निर्वाण शताब्दी के सुनहरे अवसर पर जीवन और दर्शन सम्वन्धी ग्रथो के साथ राष्ट्रभाषा हिन्दी मे भगवान महावीर द्वारा कही गई कथाएँ भी लिखी जाये—यह मेरा विचार था। मेरे विचार को मेरे प्रिय शिष्य देवेन्द्र मुनि ने आचार का रूप प्रदान किया तदर्थ मुझे हार्दिक आह्लाद है। मुझे ये कहानियाँ पसन्द आयी है, मुझे आशा ही नही, अपितु दृढ विश्वास है कि पाठको को भी ये कथाये पसन्द आयेगी।

देवेन्द्र मुनि पूर्ण स्वस्थ रहकर जैन साहित्य की अत्यधिक सेवा करे। साहित्य की प्रत्येक विधा मे वह सुन्दर से सुन्दर साहित्य का निर्माण कर अपनी प्रवल प्रतिभा का परिचय दे यही मेरा हार्दिक आशीर्वाद है।

—पुष्कर मुनि

मादडी-सदन
दीपावली पर्व
२५००वा वीर-निर्वाण दिवस
दि० ३-११-७५

प्रकाशकीय

अपने प्रिय पाठको के कर-कमलों मे 'महावीर युग की प्रतिनिधि कथाएँ' पुस्तक अर्पित करते हुए हृदय आनन्द विभोर है। भगवान महावीर के द्वारा कथित बोधप्रद कथाओ का इसमें सुन्दर सकलन है।

कहानी साहित्य की सबसे अधिक लोकप्रिय विधा है। नन्हे बालक से लेकर वृद्ध तक, अनपढ किसान से लेकर प्रकाण्ड-पण्डित तक, गृह कार्य मे अत्यधिक व्यस्त रहने वाली गृहणी से लेकर राजनीति के टेढे-मेढे दाँव-पेचो मे उलझे रहने वाले सब नेताओ तक यह प्रिय रही है। मानव सभ्यता के अरुणोदय से लेकर मध्याह्न तक कहानी जितनी जन-मन प्रिय रही है उतनी आज भी है। यही कारण है कि दर्शनकारो की अपेक्षा ईसप और विष्णु शर्मा आदि कहानी लेखक अधिक लोकप्रिय हुए है।

इन कहानियों के लेखक श्री देवेन्द्र मुनि जी शास्त्री है, जो राजस्थान केसरी, प्रसिद्ध वक्ता अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनिजी म० के सुशिष्य है। आपने साहित्य की विविध विधाओं मे लिखा है, खूब जमकर लिखा है। पूज्य गुरुदेव श्री के श्रीचरणो मे रहकर निरन्तर चिन्तन, मनन, लेखन करना आपको प्रिय है। आपने पचास से भी अधिक ग्रन्थो का लेखन-सम्पादन किया है। ग्रन्थ के सम्पादक हैं ज्ञानेन्द्र भारिल्ल। जो प० प्रवर शोभाचन्द्र जी भारिल्ल के सुपुत्र हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन मे जिन उदार महानुभावो ने हमे आर्थिक सहयोग प्रदान किया है हम उनके आभारी है भविष्य मे भी उनका मधुर सहयोग मिलता रहेगा जिससे हम नित-नूतन श्रेष्ठ साहित्य प्रकाशित करते रहेगे।

मुद्रण कला की दृष्टि से ग्रन्थ को सर्वाधिक सुन्दर व शुद्ध बनाने का श्रेय स्नेह सौजन्यमूर्ति श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' को है, अत हम उनका हृदय से आभार व्यक्त करते है।

मन्त्री
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राज०)

लेखक की कलम से

कथा-कहानी साहित्य की एक प्रमुख विधा है, जो सबसे अधिक लोकप्रिय और मनमोहक है। कला के क्षेत्र मे कहानी से बढकर अभिव्यक्ति का इतना सुन्दर एव सरस साधन अन्य नही है। कहानी विश्व के सर्वोत्कृष्ट काव्य की जननी है और ससार का सर्वश्रेष्ठ सरस साहित्य है। कहानी के प्रति मानव का सहज व स्वाभाविक आकर्षण है। फलत जीवन का ऐसा कोई भी क्षेत्र नही जिसमे कहानी की मधुरिमा अभिव्यजित न हुई हो। सच तो यह है कि मानव का जीवन भी एक कहानी है, जिसका प्रारम्भ जन्म के साथ होता है और मृत्यु के साथ अवसान होता है। कहानी कहने और सुनने की अभीप्सा मानव मे आदि काल से रही है। वेद, उपनिषद, महाभारत, आगम और त्रिपिटक की हजारो-लाखो कहानियाँ इस वात की साक्षी है कि मानव कितने चाव से कहानी को कहता व सुनता आया है और उसके माध्यम से धर्म और दर्शन, नीति और सदाचार, वौद्धिक चतुराई और प्रवल-पराक्रम परिवार और समाज सम्वन्धी गहन समस्याओ को सुन्दर रीति से सुलझाता रहा है।

श्रमण भगवान महावीर जहाँ धर्म-दर्शन व अध्यात्म के गम्भीर प्ररूपक थे वहाँ एक सफल कथाकार भी थे। वे अपने प्रवचनो मे जहाँ दार्शनिक विषयो की गम्भीर चर्चा-वार्ता करते थे वहाँ लघु-रूपको एव कथाओ का भी प्रयोग करते थे। प्राचीन निर्देशिका मे परिज्ञात होता है कि 'नायाधम्म कहा' मे किसी समय भगवान महावीर द्वारा कथित हजारो रूपक व कथाओ का सकलन था।[१] इसी प्रकार उत्तराध्ययन, विपाक आदि मे भी विपुल कथाये थी। मूल प्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग भी धर्म कथा के एक विशिष्ट एव महत्वपूर्ण ग्रन्थ थे। उनका सक्षिप्त परिचय समवायाङ्ग व नन्दी सूत्र मे इस प्रकार है—

"दृष्टिवाद का एक विभाग अनुयोग है। उसके दो विभाग है—मूल प्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग। मूल प्रथमानुयोग मे अरिहत भगवन्तो के पूर्वभव, च्यवन, जन्म, जन्माभिषेक, राज्यप्राप्ति, दीक्षा-तपस्या, केवल-ज्ञान, धर्म-प्रवर्तन, सहनन,

---

२. (क) समवायाङ्ग १४७
   (ख) नन्दी सूत्र ५६, पृष्ठ

संस्थान, ऊँचाई, आयुष्य, शरीर के वर्णन, शिष्य-समुदाय, गणधरो, साध्विया, प्रवर्तिनियो की सख्या, चतुर्विध सघ के सदस्यो की सख्या, केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, वादी, अनुत्तर विमानगामी तथा सिद्धो की सख्या एव वे अन्त मे कितने उपवास करके मोक्ष गये आदि भावो का वर्णन है ।

गण्डिकानुयोग क्या है ? गण्डिकानुयोग भी अनेक प्रकार का है । कुलकर गण्डिकाये, तीर्थङ्कर गण्डिकाये, चक्रवर्ती गण्डिकाये, दशारगण्डिकाये, वासुदेव गण्डिकाये, हरिवश गण्डिकाये, भद्रबाहु गण्डिकाये, तप कर्म गण्डिकाये, चित्रान्तर गण्डिकाये, उत्सर्पिणी गण्डिकाये, अवसर्पिणी गण्डिकाये, देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक आदि से सम्बन्धित गण्डिकाये आदि ।[2]

मूल प्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग बारहवे दृष्टिवाद के अन्तर्गत थे । वह अग विच्छिन्न हो चुका है, अत वे अनुयोग भी आज अप्राप्य है । मूल प्रथमानुयोग स्थविर आर्यकालक के समय भी प्राप्त नही था, जो राजा शालिवाहन के समकालीन थे, अत आर्यकालक ने मूलप्रथमानुयोग मे से जो इतिवृत्त प्राप्त हुआ उसके आधार से नवीन प्रथमानुयोग का निर्माण किया ।[3] 'वसुदेव हिण्डी[4]', आवश्यक चूर्णि[5] आवश्यक सूत्र[6] आदि अनुयोगद्वार की हारिभद्रीय वृत्ति[7] मे जो प्रथमानुयोग का उल्लेख हुआ है वह आर्यकालक रचित प्रथमानुयोग का होना चाहिए और आवश्यक निर्युक्ति[8] मे प्रथमानुयोग का जो उल्लेख हुआ है वह मूल प्रथमानुयोग का होना चाहिए, ऐसा आगम प्रभावक स्वर्गीय पुण्यविजय जी म०[9] का मानना था । पर अत्यन्त परिताप है कि आर्यकालक रचित प्रथमानुयोग भी आज प्राप्त नही है । एतदर्थ भाषा शैली, वर्णन-पद्धति, छन्द और विषय आदि की दृष्टि से उसमे क्या-क्या विशेषताएँ थी, यह स्पष्ट रूप से नही कहा जा सकता । अनुयोग की हारिभद्रीय वृत्ति[10] मे पच महामेघो के वर्णन को जानने के लिए प्रथमानुयोग का निर्देश किया है । जिससे सम्भव है कि उसमे अन्य भी अनेक वृत्त होगे । आर्यकालक रचित प्रथमानुयोग के आधार से ही भद्रेश्वरसूरि ने कहावली, आचार्य शीलाङ्क ने चउपण्ण महापुरिसचरिय और आचार्य हेमचन्द्र ने त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र की रचना की, ऐसा माना जाता है ।

---

३ पचकल्प महाभाष्य, गा० २ १५४५-४६
४ वसुदेवहिण्डी-प्रथम खण्ड, पत्र २
५ आवश्यक चूर्णि, भाग १, पृ० १६०
६ आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र १११-२
७ अनुयोगद्वार हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र ८०
८ आवश्यक निर्युक्ति, गा० ४१२
९ विजयवल्लभ सूरि स्मारक ग्रन्थ, पृ० ५२, पुण्यविजयजी
१० अनुयोगद्वार हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र ८०

आर्य रक्षित ने अनुयोग के आधार पर आगमो को चार भागो मे विभक्त किया। उसमे प्रथमानुयोग भी एक विभाग था।[११] दिगम्बर साहित्य मे धर्म कथानुयोग को ही पथमानुयोग कहा है। प्रथमानुयोग मे क्या-क्या वर्णन है उसका भी उन्होने निर्देश किया हे।[१२]

वताया जा चुका है कि भगवान महावीर सफल कथाकार थे। उनके द्वारा कही गई कथाएँ आज भी आगम साहित्य मे उपलब्ध होती है। कुछ कहानियाँ ऐसी भी है जो भिन्न नामो से या रूपान्तर से वैदिक व बौद्ध साहित्य मे ही उपलब्ध नही होती, अपितु विदेशी साहित्य मे भी मिलती है। उदाहरणार्थ—ज्ञाताधर्म कथा की ७वी चावल के पांच दाने वाली कथा कुछ रूपान्तर के साथ बौद्धो के सर्वास्तिवाद के विनयवस्तु तथा वाइविल[१३] मे भी प्राप्त होती है। इसी प्रकार जिनपाल और जिनरक्षित[१४] की कहानी वलाहस्स जातक[१५] व दिव्यावदान मे नामो के हेरफेर के साथ कही गई है। उत्तराध्ययन के वारहवे अध्ययन हरिकेशवल की कथावस्तु मातङ्ग जातक मे मिलती है।[१६] तेरहवे अध्ययन चित्तसम्भूत[१७] की कथावस्तु चित्तसम्भूत जातक मे प्राप्त होती है। चौदहवे अध्ययन इषुकार की कथा हत्थिपाल जातक[१८] व महाभारत के शान्तिपर्व[१९] मे उपलब्ध होती है। उत्तराध्ययन के नौवे अध्ययन 'नमि प्रव्रज्या की आशिक तुलना महाजन जातक[२०] तथा महाभारत के शान्तिपर्व[२१] से होती है। इस प्रकार महावीर के कथा साहित्य का अनुशीलन-परिशीलन करने से स्पष्ट परिज्ञात होता है कि ये कथाएँ आदिकाल से ही एक सम्प्रदाय से दूसरे सम्प्रदाय मे, एक देश मे दूसरे देश मे यात्रा करती रही हैं। कहानियो की यह विश्व यात्रा उनके शाश्वत और सुन्दर रूप की साक्षी दे रही है, जिस पर सदा ही जन-मानस मुग्ध होता रहा है।

मूल आगम साहित्य मे कथा साहित्य का वर्गीकरण अर्थकथा, धर्मकथा और

---

११ (क) साहित्य और सस्कृति, पृ० १६
१२ (ख। अगपण्णत्ती—द्वितीय अधिकार गा० ३५-३७ दि० आचार्य
(ख) श्रुत स्कन्ध गा० ३१, आचार्य व्रह्म हेमचन्द्र
१३ सेन्ट मेथ्यू की सुवार्ता २५, सेन्ट ल्युक की सुवार्ता १९
१४ ज्ञाताधर्म कथा ८
१५ वलाहस्स जातक, पृ० १८६
१६ जातक (चतुर्थ खण्ड) ४९७ मातङ्ग जातक, पृ० ५८३-०७
१७ जातक (चतुर्थ खण्ड) ४९८ चित्तसम्भूत जातक, पृ० ५९८-६००
१८ हत्थिपाल जातक ५०९
१९ शान्ति पर्व, अध्याय १७५, एव २७७
२० महाजन जातक ५३९ तथा सोनक जातक स० ५२९
२१ महाभारत शान्ति पर्व अ० १७८ एव २७६

कामकथा के रूप मे[२२] किया गया है। परवर्ती साहित्य मे विषय, पात्र, शैली और भाषा की दृष्टि से भेद-प्रभेद किये गये है।

आचार्य हरिभद्र ने विषय की दृष्टि से अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा और मिश्रकथा ये चार भेद किये है।[२३]

विद्यादि के द्वारा अर्थ प्राप्त करने की जो कथा है, वह अर्थकथा है।[२४] जिस श्रृङ्गारपूर्ण वर्णन का श्रवण कर हृदय मे विकार भावनाएँ उद्बुद्ध हो वह कामकथा है।[२५] और जिससे अर्थ व काम दोनो भावनाएँ जाग्रत हो वह मिश्रकथा है। ये तीनो प्रकार की कथाएँ आध्यात्मिक अर्थात् सयमी जीवन को दूषित करने वाली होने से विकथा है।[२६] विकथा के स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा और राजकथा ये चार भेद और भी मिलते हैं।

जैन श्रमण के लिए विकथा करने का निषेध किया है। उसे वही कथा करनी चाहिए जिसको श्रवण कर श्रोता के अन्तर्मानस मे वैराग्य का पयोधि उछाले मारने लगे, विकार भावनाए नष्ट हो एव सयम की भावनाएँ जाग्रत हो।[२७] तप सयमरूपी सद्गुणो को धारण करने वाले परमार्थी महापुरुषो की कथा, जो सम्पूर्ण जीवो का हित करने वाली है, वह धर्मकथा कहलाती है।[२८]

पात्रो के आधार से दिव्य, मानुष और दिव्यमानुष ये तीन भेद कथा के किये गये है। जिन कथाओ मे दिव्य लोक मे रहने वाले देवो के क्रिया-कलापो का चित्रण हो और उसी के आधार से कथावस्तु का निर्माण हो, वे दिव्य कथाएँ है। मानुष कथा के पात्र मानव लोक मे रहते है। उनके चरित्र मे मानवता का पूर्ण सद्भाव चित्रित होता है। कथा के पात्र मानवता के प्रतिनिधि होते है। किसी-किसी मानुष कथा मे ऐसे मनुष्यो का चित्रण भी होता है जिनका चरित्र उपादेय नही होता। दिव्य मानुषी कथा अत्यन्त सुन्दर कथा होती है। कथानक का गुम्फन कलात्मक होता है। चरित्र और घटना, परिस्थितियो का विशद व मार्मिक चित्रण हास्य-व्यग्य

---

२२ ठाणाग ३।१८९

२३ (क) दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति गा० १८८, पृ० २१२
(ख) समराइच्च कहा, याकोबी सस्करण, पृ० २

२४ अभिधान राजेन्द्र कोष भाग ३, पृ० ४०२

२५ वही

२६ वही

२७ [illegible]

२८ अभिधान राजेन्द्र कोष भाग ३, पृ० ४०२, गा० २१९

आदि मनोविनोद, सौन्दर्य के विभिन्न रूप, इन कथा में रस व्याप्त रहते हैं।[29] इनमें देव और मनुष्य के चरित्र का मिश्रित वर्णन होता है।

शैली की दृष्टि से सकलकथा, खण्ड कथा, उल्लापकथा, परिहासकथा और सकीर्णकथा ये पाँच भेद किये गये हैं।[30] सकलकथा में चारों पुरुषार्थ, नौ रस आदर्श चरित्र और जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों का वर्णन होता है।[31] जैन कथा साहित्य गुण और परिणाम दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। जन-जीवन का पूर्णतया चित्रण उसमें किया गया है।

आगम साहित्य मे बीज रूप मे कथाएं मिलती हैं तो निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका साहित्य मे उसका पूर्ण विस्तार दृष्टिगोचर होता है। हजारों लघु व वृहद् कथाएँ उनमे आयी है। आगमकालीन कथाओं की यह महत्वपूर्ण विशेषता है कि उसमे उपमाओ और दृष्टान्तो का अवलम्बन लेकर जन-जीवन को धर्म-सिद्धान्तो की ओर अधिकाधिक आकर्षित किया गया है। उन कथाओं की उत्पत्ति, उपमान, रूपक और प्रतीको के आधार से हुई है। यह सत्य है कि आगमकालीन कथाओं में सक्षेप करने के लिए यत्र-तत्र 'वण्णओ' के रूप मे सकेत किया गया है, जिससे कथा को पढते समय उसके वर्णन की समग्रता का जो आनन्द आना चाहिए उसमे कमी रह जाती है। व्याख्या साहित्य मे यह प्रवृत्ति नही अपनाई गई। कथाओ मे जहाँ आगम साहित्य मे केवल धार्मिक भावना की प्रधानता थी, वहाँ व्याख्या साहित्य मे साहित्यिकता भी अपनायी गई। एकरूपता के स्थान पर विविधता और नवीनता का प्रयोग किया जाने लगा। पात्र, विषय, प्रवृत्ति, वातावरण, उद्देश्य, रूपगठन एव नीति सश्लेषण, प्रभृति सभी दृष्टियो से आगमिक कथाओ की अपेक्षा व्याख्या-साहित्य की कथाओ मे विशेषता व नवीनता आयी है। आगमकालीन कथाओ मे धार्मिकता का पुट अधिक आ जाने से मनोरजन व कुतूहल का प्राय अभाव था किन्तु व्याख्या साहित्य की कथाओ मे यह बात नही है। आगम युग की कथाएँ चरित्रप्रधान होने से विस्तार वाली होती थी, पर व्याख्या साहित्य की कथाएँ सक्षिप्त। ऐतिहासिक, अर्द्ध-ऐतिहासिक, पौराणिक सभी प्रकार की कथाएँ आगम साहित्य मे आई है।

आगम साहित्य की कथाओ मे अहिंसा, सत्य, सयम, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य, आत्मदमन, कर्म सिद्धान्त और जाति-विरोध की मुख्यता प्रतिपादित की है। अस्पृश्य समझी जाने वाली जाति का व्यक्ति भी सद्गुणो को धारण कर किस प्रकार अपने जीवन को चमका सकता है वह बताया गया है।

---

२९. समराइच्चकहा—याकोबी सस्करण पृ० २
(ख) लीलावई कहा गा० ३५, गा० ४१, पृ० ११
३० कुवलयमाला, पृ० ४, अनुच्छेद ७
३१ हैम काव्य शब्दानुशासन ५।९, पृ० ४६५

भगवान महावीर की निर्वाण शताब्दी के ऐतिहासिक वर्ष मे ऐतिहासिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक ग्रन्थो के लेखन के साथ ही मेरे अन्तर्मानस मे यह विचार उद्बुद्ध हुआ कि भगवान महावीर द्वारा कथित आगम साहित्य की सभी कथाएँ आधुनिक हिन्दी मे लिखी जाये। भगवान महावीर एक अनुशीलन, जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण, भगवान महावीर की दार्शनिक चर्चाएँ प्रभृति ग्रन्थो के लेखन मे अत्यधिक व्यस्त होने से प्रस्तुत कार्य मे विलम्ब हो गया। ग्रन्थ अत्यधिक बडा न हो जाये इस दृष्टि से मूल आगम साहित्य की सम्पूर्ण कथाएँ इसमे नही दी है, अवशेष कथाए द्वितीय भाग मे देने का विचार है और उसके पश्चात् निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य और टीका व अन्य ग्रन्थो की कथाएँ भी लिखने की भावना है।

प्रबुद्ध पाठक अनुभव करेगा कि इन कहानियो मे कही पर वैराग्य की भावना अठखेलियाँ कर रही हैं तो कही पर बाल-क्रीडा, मातृस्नेह, और वात्सल्य रस तरगित हो रहा है कही पर पवित्र चरित्र की शुभ्र उर्मियाँ प्रवाहित हो रही है, कही पर दया क्षमा, सरसता की रसधारा बह रही है तो कही पर वीर व शान्त रस की उछलती हुई कल्लोलें कल्लोल कर रही हैं। पच्चीस सौ वर्ष पूर्व कही गई ये कथाएँ आज भी भौतिकता की चकाचोध मे पले पौसे मानव को प्रेरणा प्रदान करने वाली हैं, इनमे जीवन के वे शाश्वत तत्त्व है जो सदा-सर्वदा उपयोगी है।

परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य अध्यात्मयोगी, राजस्थानकेसरी प्रसिद्ध वक्ता श्री पुष्कर मुनि जी म० मेरे आध्यात्मिक व साहित्यिक जीवन के प्रेरणा-स्तम्भ है [illegible] मे ही मै प्रगति के पथ पर निरन्तर आगे बढ रहा हूँ, ग्रथ मे जो [illegible] उन्ही की कृपा का फल है।

[illegible] प्रतिभामूर्ति मातेश्वरी महासती श्री प्रभावती जी म० व ज्येष्ठ-भगिनी [illegible] विदुषी साध्वी रत्न श्री पुष्पवती जी की निरन्तर प्रेरणा और सेवामूर्ति [illegible] मुनि जी व दिनेश मुनिजी की सतत सेवा के कारण ग्रथ [illegible]।

[illegible] कथाशिल्पी श्री ज्ञानजी भारिल्ल ने कुछ कथाओ को सजाने का [illegible] उनके स्नेह भरे सहकार को विस्मृत नही हो सकता।

[illegible] मुद्रण कला की दृष्टि से सजाने का श्रेय स्नेहमूर्ति श्रीचन्द जी सुराना [illegible]। [illegible] यह महत्त्वपूर्ण सकलन पाठको के लिए अतीव [illegible]।

—देवेन्द्र मुनि

[illegible]

अनुक्रमणिका



१

अव्यक्त आनन्दानुभूति

एक राजा को घूमने-फिरने का बडा शौक था। जव जी मे आता अपना अश्व सजाकर निकला पडता। एक दिन अपने साथ कुछ सैनिक लेकर, अश्व पर सवार होकर वह वन-विहार के लिए निकला। उसका अश्व पवनगामी था। हवा से वाते करता था। अन्य कोई अश्व उसकी चाल की वरावरी कर ही नही सकता था। अत देखते-देखते ही राजा वहुत आगे निकल गया और सैनिक वहुत पीछे छूट गए।

प्रचण्ड ग्रीष्म की ऋतु थी। कडी धूप पड रही थी, हवा कानो व शरीर को जला डालना चाहती थी। पशु-पक्षी भी ठण्डी और छायादार जगत मे शरण लिए पडे थे। और तो ओर, ऐसा प्रतीत होता था मानो छाया भी छाया खोजती फिर रही हो।

ऐसे कठिन काल मे वह राजा अकेला पड गया और मार्ग भूल गया। घण्टो तक वह इधर-उधर भटकता हुआ मार्ग खोजता रहा, किन्तु मार्ग मिला ही नही। राजा थक कर चूर-चूर हो गया। प्यास के मारे उसके प्राणो पर वन आई। ग्रीष्म की उस भयावह ऋतु मे कही एक वूंद पानी भी उसे मिला नही। उसके प्राण छटपटाने लगे। अन्त मे थक हार कर, स्वय को भगवान के भरोसे छोडकर उसने एक छायादार वृक्ष के नीचे ठहर कर विश्राम करना चाहा। किन्तु वह इतना अशक्त हो चुका था कि अश्व पर से उतर भी न सका। गिर पडा और मूर्च्छित हो गया।

संयोगवश शिकार की खोज में घूमता हुआ एक भील युवक उस स्थान पर आ पहुँचा। उसने देखा कि एक पथिक मूर्च्छित पड़ा है। पास ही उसका सुन्दर अश्व खड़ा है। उसने सोचा कि अवश्य ही यह पथिक प्यास से व्याकुल होकर ही मूर्च्छित हुआ है। उसके पास जल था। उस जल के छींटे उसने राजा के मुख पर डाले। धीरे-धीरे राजा की चेतना लौटी। भील ने अब राजा को थोड़ा पानी पिलाया और बाद में कुछ कन्द-मूल तथा रोटियाँ भी उसे खाने के लिए दीं।

इस प्रकार राजा के प्राणों की रक्षा हुई।

राजा को वे रूखी-सूखी रोटियाँ उस दिन अपने छप्पन भोगों से भी

"अच्छा, देखा जायगा, कभी आऊँगा तो जरूर मिलूंगा। पर यह तो बता कि तेरा नाम-धाम क्या है? कैसे तेरा पता चलेगा? क्या तू मुझे देखकर पहचान लेगा?"

राजा को उस भील की इन भोली बातो को सुनकर हँसी आ गई। उसकी निश्छलता, सरलता और सहज प्रेम की तुलना उसने नगरवासियो के छल-छद्म भरे व्यवहार से मन ही मन की और एक विषाद तथा लज्जा का अनुभव करते हुए कहा—

"अरे भाई! तुम्हे क्यो नही पहिचानूंगा? तुझे इस जीवन मे मैं कभी भूल ही नही सकता। तूने तो आज मेरी आँखे खोल दी। नगर मे आकर तू किसी से भी पूछ लेना कि राजा का महल कहाँ है? बस मैं तुझे मिल जाऊँगा।"

"अच्छा, लेकिन महल क्या होता है? तू सीधे से अपना घर बता जिससे कि कुछ चक्कर न पडे। सीधा तेरे घर आ जाऊंगा।

राजा को उस भील के भोलेपन पर फिर हँसी आ गई। उसने कहा—

"महल से मतलब मेरा घर। तू तो जैसा कहा वैसा पूछ लेना।"

इसके बाद राजा अपने घोडे पर सवार होकर और अपने प्राणदाता भील से विदा लेकर नगर की ओर चल पडा। नगर का मार्ग उसने उस भील से पूछ लिया था। थोडी दूर जाने पर ही उसे अपने सैनिक भी मिल गए।

× × ×

कुछ दिन बाद वह भील किसी काम से शहर गया। उसने सोचा—चलो, आया ही हूँ तो उस राजा से भी मिल लूँ। बेचारा बार-बार कह गया था। यह सोच कर उसने किसी से पूछा—"राजा का घर कौनसा है?"

लोगो को उसकी मूर्खता पर बडी हँसी आई। एक ने कहा—"अरे राजा का घर नही, महल कह।"

"अरे बाबा, महल ही सही, किन्तु वह है कहाँ यह बताओ न।"

लोगो ने राजमहल का मार्ग बता दिया। वह भील सीधा धडधडाता हुआ वहाँ पहुँच गया। उसने देखा कि राजा का घर तो बहुत बडा है, ऊँचा है,

सुन्दर है। बड़ा अच्छा लग रहा है। वह भीतर जाने के लिए आगे बढ़ा तो द्वारपाल ने उसे डाँटकर रोकते हुए कहा—

"अरे ! अरे ! कहाँ घुसा चला आता है ?"

"यहाँ कोई राजा रहता है न ?"

"हाँ, रहता है तो तुझे क्या ? बड़ा आया राजा के पास जाने वाला। भाग यहाँ से मूर्ख, गँवार।"

द्वारपाल न जाने उस भोले भील को कितना डाँटता-फटकारता और गालियाँ देता, किन्तु संयोगवश अपने महल के गवाक्ष मे बैठे राजा की दृष्टि उस भील पर पड़ गई। देखते ही वह स्वयं उठकर शीघ्रता से द्वार पर आ गया और उसे प्रेमपूर्वक हाथ पकड़कर भीतर ले गया।

एक नवीन आनन्दानुभूति के कारण उसके पैर पृथ्वी पर नही पड रहे थे। हवा मे उडता हुआ सा वह जंगलो मे जा पहुँचा। अपने स्वजन-साथियो से उसने सारी घटना का और जो-जो कुछ भी उसने देखा था उसका वर्णन किया। उत्सुक भीलो को भीड लग गई। उसने क्या देखा, क्या खाया, कैसे रहा इत्यादि प्रश्नो का उत्तर देते-देते वह आखिर थक गया। अनेको वस्तुओ के नाम तो उसे याद थे नही, प्रश्नो के उत्तर मे वह इतना ही कहता रहा—'वहुत अच्छा, वहुत बढिया।'

वन मे पाई जाने वाली अनेक वस्तुओ के नाम ले-लेकर भील उससे पूछते—'क्या ऐसा ही था ?' किन्तु वह उत्तर देता—'नहो, इससे हजार गुना अधिक अच्छा था, लाख गुना अधिक स्वादिष्ट था वह!' और ऐसा कहते-कहते वह खुशी से नाच उठता था। कह देता था—"क्या था, कैसा था—कुछ न पूछो! अजीव था, वहुत बढिया।"

प्रकृति के सरल पुत्र उस भील युवक मे नागरिक सौंदर्य, आनन्द तथा राजमहल के सुख और वैभव को व्यक्त करने की क्षमता नही थी। वह तो मन ही मन उन अनुभूतियो का आनन्द लेकर मग्न हो रहा था। उन अनुभूतियो को शब्दो मे वॉध सकने मे वह समर्थ नही था।

इसी प्रकार जव मनुष्य को आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति होती है तो कोई भी शब्द उसे व्यक्त नही कर पाते। वह आनन्द मनुष्य के अन्तरतम को सुख से गुदगुदाता रहता है। उस नैसर्गिक, गहन सुखानुभूति मे साधक स्वय को भूला रहता है। परमानन्द मे डूबा हुआ वह भौतिक आनन्द की कल्पना भी नही करता, कामना तो दूर की वात रह जाती है।

—औपपातिक सूत्र



२

अग्नि कहाँ है ?

[illegible] देखने पर यह शरीर हाड-मास का एक पिण्ड ही दिखाई [illegible] । [illegible] जड शरीर मे जो अनन्त चैतन्यमय चिन्मय आत्मा [illegible] है, उसके दर्शन कर सकने के लिए कुछ सहज ज्ञान एवं बुद्धि [illegible] है ।

[illegible] थे । आजीविका हेतु जंगल मे लकडियाँ काट-काट [illegible] मे बेचते, और अपना तथा परिवार का उदर पोषण किया [illegible] ।

[illegible] इसी आजीविका के क्रम मे वे किसी जंगल मे गए [illegible] लकडी काटने मे विलम्ब तो होगा ही, भूख भी लगेगी, [illegible] उन्होंने अपने एक साथी से कहा—

[illegible] पर ठहरो । तुम्हारे हिस्से की लकडियाँ हम काट [illegible] तुम हम सबके लिए भोजन तैयार कर रखना । सूखी [illegible] अग्नि तो हम साथ मे लाए है, उसमे अग्नि प्रज्वलित [illegible] यह आग बुझ जाय तो अरणि की लकडी से अग्नि [illegible]

[illegible] और उस अरणि की लकडी भी देकर वे लोग [illegible] ।

[illegible] तैयार करने के लिए ठहर गया था उसने

सोचा—"अभी से भोजन की क्या जल्दी ? लकड़ियाँ काट-काट कर लाने मे इन लोगो को बहुत समय लगेगा। कुछ समय विश्राम कर लूँ। सायंकाल से पूर्व भोजन तैयार कर लूँगा।" यह विचार कर वह छाया मे लेट गया और धीरे-धीरे निद्रादेवी की सुखद गोद मे चला गया।

नीद उसकी जब खुली तब तक सूर्य पश्चिम की ओर ढल चला था। घबरा कर वह उठ बैठा और साथियो के आने का समय समीप देखकर जल्दी-जल्दी भोजन बनाने की चिन्ता मे लगा।

किन्तु आग बुझ चुकी थी। सोचा—अरणि की लकडी मे से आग प्रकट करलूँ। अरणि की लकडी के उसने दो टुकडे कर डाले। किन्तु उसमे से आग नही निकली। कुछ घबराया। दो के स्थान पर लकडी के चार, छह, आठ—टुकडे ही टुकडे कर डाले, किन्तु आग कही भी दिखाई नही दी। चिन्ता मे निमग्न होकर वह मन मार कर, सिर पर हाथ रखकर बैठ गया। कुछ खीझ भी उसे थी कि साथियो ने उससे झूठ कहा कि अरणि की लकडी मे से अग्नि प्रकट कर लेना। यदि ऐसा उन लोगो ने न कहा होता तो वह साथ लाई हुई आग को ही सम्हाल कर रखता।

उधर उसके थके-माँदे साथी दिन भर लकड़ियाँ काट कर, बोझा लादे-लादे इस आशा के साथ जल्दी-जल्दी चलते हुए लौटे कि भोजन तो तैयार मिलेगा ही। भूख मिट जायगी, थकान दूर हो जायगी।

किन्तु लौटकर वे देखते क्या है कि भोजन का तैयार मिलना तो दूर की बात, कही धुँए की एक लकीर तक दिखाई नही दी, चूल्हा ही नही जला था। उन्हे बड़ी निराशा हुई और क्रोध उमडने लगा।

किन्तु वे लोग कुछ बोल पाएँ उससे पूर्व ही वह साथी उलटा उन्हे ही डाँटने लगा—"मुझे तुम लोगो ने मूर्ख क्यो बनाया ? झूठ-मूठ ही कह गए कि अरणि की लकडा मे से अग्नि प्रकट कर लेना। अरे मूर्खो ! मैंने व्यर्थ ही तुम्हारी बात पर विश्वास कर लिया। उस समय शायद मेरी भी मति मारी गई थी। भला अग्नि का और लकडी का क्या मेल ? यदि लकडी मे अग्नि होती तो क्या वह अब तक जलकर भस्म न हो गई होती ? फिर भी मैंने तुम लोगो की बात का भरोसा कर उस लकडो के टुकडे-टुकडे करके उसे देखा, किन्तु मुझे तो उसमे कही भी अग्नि नही मिली।"

बेचारे अपढ़ अज्ञानी लकडहारे आपस मे एक-दूसरे को बुरा-भला कहने लगे। किन्तु उनमें से एक समझदार और ज्ञानी था। उसने अरणि की लकड़ी के दो टुकडे उठाए और उन्हे घिसा। उस घर्षण से अग्नि प्रकट हो गई। तब उसने कहा—"भाइयो! अरणि की लकडी को काटने से अग्नि नही प्रकट होती। उसके दो टुकडो के संघर्षण से प्रकट होती है। किसी भी बात को भली प्रकार समझकर और अपनी बुद्धि का उपयोग कर कार्य करने से ही सफलता प्राप्त होती है।"

लकड़ी के टुकडो के सघर्पण से जो चिनगारियाँ फूट निकली थी, उनको घास के सम्पर्क मे लाया गया और देखते-देखते ही चूल्हा जल उठा। भूखे प्यासे हारे-थके लोगो को भोजन की आशा बँधी।

जिस प्रकार अरणि मे अग्नि है, उसी प्रकार शरीर मे आत्मा स्थित है। अरणि मे अग्नि प्रकट करने के लिए उसके टुकडे नही, घर्षण करना पड़ता है। उसी प्रकार शरीर मे स्थित चिदानन्द चिन्मय आत्मा के दर्शन के लिए भी [illegible] चिन्तन की आवश्यकता होती है।

—राजप्रश्नीय सूत्र



३

आसक्ति और अनासक्ति

प्राचीन काल मे राजगृह नामक नगर दूर-दूर के देशो तक विख्यात था। वहाँ के निवासी सम्पन्न और सुखी थे। परिश्रमी थे इसलिए सम्पन्न और सन्तोषी तथा सुखी थे। अनेक देशो से व्यापार करने के लिए अनेक सार्थवाह समय-समय पर राजगृह नगर से प्रयाण किया करते थे।

उस नगर मे धन्य नामक एक अत्यन्त धनाढ्य सार्थवाह भी रहता था। उसकी सम्पत्ति की कोई गणना नही थी। स्वभाव से भी वह अत्यन्त सरल और भला था। दीन-दुखी और दरिद्रो की वह सदा सहायता किया करता था।

धन्य सार्थवाह की पत्नी का नाम भद्रा था। उससे सार्थवाह को पाँच पुत्र प्राप्त हुए थे—धन, धनपाल, धनदेव, धनगोप तथा धनरक्षित। इनके अतिरिक्त उनके एक कन्या भी थी जिसका नाम सुँसुमा था। वह सबसे छोटी थी। यह कन्या अत्यन्त रूपवती थी और उसके शरीर मे कोई दोष नही था।

सार्थवाह के यहाँ चिलात नामक एक दासपुत्र था। बच्चो को खिलाने मे वह बडा निपुण था। उसके साथ बच्चे खूब हिले-मिले और प्रसन्न रहते थे। अत सुंसुमा को खिलाने के लिए उसी को नियुक्त किया गया था। वह बालिका को अपनी गोद मे लेकर इधर-उधर घुमाया करता और उसे खेल मे मग्न रखा करता था।

उस दासपुत्र चिलात के स्वभाव मे एक दोष भी था कि वह बालको की बहुत-सी वस्तुओ को चुरा लिया करता था। कभी वह किसी बालक की

कौडिया चुरा लेता, कभी गेद, कभी कोई वस्त्र अथवा कोई माला इत्यादि। परिणामत जिन बालको की वस्तुएँ वह चुराता उनके माता-पिता प्राय रुष्ट होकर धन्य सार्थवाह से उसकी शिकायत किया करते। उसे वे लोग बहुत उपालम्भ देते, कटु वचन कहते और खेद प्रकट करते।

धन्य सार्थवाह को इस कारण बहुत बुरा लगा करता। वह बार-बार चिलात को समझाता और इस प्रकार की बाते करने से मना करता। किन्तु उस दासपुत्र का तो स्वभाव ही बालको की वस्तुएँ चुराने का बन गया था। अपने स्वामी की वर्जना का उस पर कोई प्रभाव नही पडा।

जब पानी सिर से ऊपर आने लगा, अर्थात् जब चिलात बालको की वस्तुएँ चुराता ही रहा, उन्हे चिढाता और मारता-पीटता ही रहा, तब बालको ने अपने-अपने माता-पिता से उसकी गम्भीर शिकायत की।

जिनकी सहनशीलता की अब सीमा आ गई थी ऐसे वे संरक्षक धन्य सार्थवाह के घर पहुँचे और बोले—

"हे श्रेष्ठिवर! आप हमारे अग्रणी है। हम सब आपका अत्यन्त सम्मान करते है। किन्तु अब हम विवश है। आपके दासपुत्र ने हमारे बच्चो को बहुत हैरान कर रखा है। अब इसका कुछ न कुछ उपाय किया ही जाना चाहिए।"

धन्य सार्थवाह बहुत लज्जित हुए। बोले—

"देवानुप्रियो! लज्जित हूँ। अनेक बार मै इस दुष्ट को समझा चुका, किन्तु यह मानता ही नही। इस बार इसे अच्छी शिक्षा दूँगा। आप लोग अब निश्चिन्त रहे।"

लोग लौट गए। सार्थवाह ने चिलात को बुलाया और कहा—

"दासपुत्र! तुम बडे नीच हो। सारे समाज के सामने मुझे तुमने लज्जित किया है। अनेक बार समझाने पर भी तुम माने नही। तुम इस योग्य ही नही हो कि तुम पर दया की जाय। कुत्ते की पूँछ टेढी की टेढी ही रहती है। अत तुम इसी क्षण मेरा घर छोडकर चले जाओ।"

इस प्रकार अनेक कटु शब्दो से चिलात की भर्त्सना कर सार्थवाह ने उसे दूध की मक्खी की तरह अपने घर से निकाल दिया।

सार्थवाह के घर से निकल कर चिलात अब बिलकुल स्वच्छन्द हो गया। उसे कोई कुछ कहने वाला नही रहा। कोई रोकने वाला नही रहा। उसके जहाँ जी मे आता, जाता और जो जी मे आता वही करता।

नगर के गली कूचो मे, मदिरालयो मे, जुआरियो के अड्डो मे, वेश्यालयो मे—अर्थात् जो भी नीच से नोच स्थान हो सकते थे वहाँ पर चिलात दिखाई पडता। निरकुश होकर वह सारे कुव्यसनो मे सिर से पैर तक डूब गया। जुआ खेलता, मदिरा पान करता, वेश्याओ के घर जाता और चोरी किया करता।

नगर से कुछ ही दूर दक्षिण-पूर्व दिशा मे सिंहगुफा नाम की एक चोर पल्ली थी। वह चोर पल्ली सघन वन से घिरी हुई थी। बांस की वडी-वडी झाडियो से चारो ओर से आवेष्ठित होने के कारण उसका पता लगाना भी कठिन था। अनेक झरनो, खड्डो और पहाडियो को पार करने पर ही वहाँ तक पहुँचा जा सकता था। रात दिन जो व्यक्ति उस सघन वन मे आते-जाते रहते वे हो उसका पता लगा सकते थे। इतनी विकट थी वह पल्ली कि यदि एक पूरी सेना भी उस स्थान पर आक्रमण करती तो भी उसके भीतर छिपे हुए लोगो का कुछ भी नही बिगाड़ सकती थी।

उस पल्ली का स्वामी था विजय नामक एक चोर सेनापति। वह साक्षात् अधर्म की ध्वजा के सदृश था। जीवन मे उसने कोई भी अच्छा कार्य कभी नही किया था। अत्यन्त क्रूर और शूर था। प्रहार करता था तो ऐसा कि प्रतिद्वन्द्वी उसे सहन नही कर सकता था। अत्यन्त साहसी और शब्दवेधी वह चोर सेनापति पाँच सौ चोरो का अधिपतित्व भोगता हुआ वहाँ रहता था।

वह विजय चोर समस्त अन्यायी, अत्याचारी और कुटिल लोगो का आश्रयदाता था। चोर, जार, जेब काटने वाले, सेंध लगाने वाले, खात खोदने वाले, राज्य अपराधी, कर्जदार, बालको की हत्या करने वाले, विश्वासघाती, जुआरी—कौन ऐसा व्यक्ति था जो विजय चोर की शरण मे आकर आश्रय न पाता था? चिलात दासपुत्र भी उसकी शरण मे पहुँचा।

चोर-चोर मौसेरे भाई। विजय चोर को यह जानने मे देर नही लगी कि यह आदमी काम का है। उसने चिलात को अपने पास रख लिया।

धीरे धीरे चिलात विजय चोर सेनापति का दाहिना हाथ बन गया। क्रूरता और कुटिलता मे वह अन्य सब चोरो से बढा-चढा था। जहाँ भी सेनापति आक्रमण करता वहाँ उसके साथ चिलात अवश्य होता। उसकी योग्यता से विजय इतना आश्वस्त हो गया था कि अनेक बार तो वह स्वय अपनी पल्ली मे ही रहता और चिलात के ही नेतृत्व मे अपने साथियो को भेज देता। चिलात भी बडी कुशलतापूर्वक जिस काम के लिए उसे भेजा जाता उसे पूरा कर लौट आता।

काल की गति समर्थ से समर्थ प्राणी के रोके भी नही रुकती। विजय चोर भी बूढा हुआ और एक दिन उसकी मृत्यु भी हो गई।

नया सेनापति बनाये जाने का प्रश्न उठा। सर्वसम्मति से चिलात को ही चुना गया क्योकि वही सबसे अधिक समर्थ और विजय चोर का विश्वास-पात्र भी था।

अब चिलात के पास शक्ति थी। शक्ति मे मद होता है। धन्य सार्थवाह द्वारा किया गया अपना अपमान भी वह भूला नही था। शूल-सा उसके हृदय मे चुभा हुआ था। अत उसने बदला लेने का निश्चय किया।

एक दिन अपने सभी साथियो को उसने इकट्ठा किया और मास-मदिरा से उन्हे पूर्णतया परितुष्ट करने के उपरान्त उनसे कहा—

"मेरे बहादुर साथियो ! धन्य सार्थवाह अत्यन्त धनाढ्य है। उसकी कन्या भी अत्यन्त रूपवती है। हम उसके घर पर आक्रमण करेगे। धन का लोभ मुझे नही है। जितना भी धन मिलेगा वह मैं सारा तुम लोगो मे बाँट दूँगा। केवल उस कन्या को मैं अपने लिए रखूँगा। बोलो, क्या तुम लोग प्रस्तुत हो ?"

सेनापति की इच्छा तो उन सबके लिए आदेश ही था। धन प्राप्त होने का आकर्षण अलग। अत उन्हे इस कार्य के लिए तैयार होने मे क्षण-मात्र का भी विलम्ब नही हुआ।

निश्चय हो गया। शुभ शकुन के लिए चिलात अपने साथियो के साथ आर्द्र चर्मा पर बैठा। जब दिन ढलने लगा तो वह अपने पाँच सौ साथियो सहित कवच इत्यादि धारण कर तैयार हो गया। शस्त्र सजा लिए गए।

ढाले कस ली गईं। तलवारे निकाल ली गईं। तीर और तरकश संभाल लिए गए। भाले और बर्छियाँ उछलने लगी। रण-वाद्य बजा दिये गए।

इस प्रकार चोरो की वह सेना जब उस सिंह पल्ली से बाहर निकली तो ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे समुद्र उफन रहा हो और उसका घोर गर्जन दिशाओ मे फैल रहा हो।

पल्ली से निकलकर वे राजगृह नगर के बाहर एक सघन वन मे छिपकर सूर्यास्त की प्रतीक्षा करने लगे।

सूर्य अस्त हुआ। अन्धकार घिरने लगा। रात्रि धीरे-धीरे उतरने लगी। अर्धरात्रि भी हो गई। तब चिलात अपनी चोर-सेना सहित नगर के पूर्व दिशा के द्वार पर जा पहुँचा। वहाँ पहुँचकर उसने जल से आचमन किया, स्वच्छ हुआ। इसके बाद उसने ताला खोलने की विद्या का आह्वान किया। मन्त्र से अभिषिक्त जल उसने द्वार पर छिडका ······।

खट् खट् शब्द के साथ देखते-देखते ही ताले टूट गए और द्वार खुल गया।

नगर मे प्रविष्ट होकर वह धन्य सार्थवाह के महल की ओर बढा। चलते-चलते वह ऊँचे स्वर से घोषणा करता गया—

"मैं, चिलात नाम का चोर सेनापति पाँच सौ चोरो के साथ सिंह गुफा नामक चोर-पल्ली से धन्य सार्थवाह का घर लूटने आया हूँ। जो भी व्यक्ति नवीन माता का दूध पीना चाहता हो वह निकल कर मेरे सामने आए।"

किसे नई माता का दूध पीना था ? किसे अपनी मृत्यु बुलानी थी ?

कोई भी उसका सामना करने नही आया, चोर-सैन्य बिना किसी अवरोध के धन्य सार्थवाह के घर पर पहुँच गई। घर का द्वार तोड दिया गया।

धन्य सार्थवाह उस भयंकर आक्रमण से भयभीत होकर अपने पुत्रो सहित किसी सुरक्षित स्थान पर छिप गया।

चिलात को सार्थवाह अथवा उसके पुत्रो से कोई प्रयोजन न था। उसने जी भर कर उसकी सम्पत्ति को लूटा और सुंसुमा कन्या को लेकर अपनी गुफा मे लौट गया।

लुटा-पिटा सार्थवाह अपनी प्यारी वेटी से भी हाथ धो वैठा और दु खी होकर नगर रक्षको के पास जाकर वोला—

"देवानुप्रियो ! चिलात-नामक चोर मेरी सम्पत्ति तथा कन्या का हरण कर ले गया है । सम्पत्ति का मुझे कोई खेद नही । वह तो हाथ का मैल है । अपने पुरुपार्थ से उसे मै पुन. अर्जित कर लूंगा । किन्तु मुझे अपनी प्रिय पुत्री के अपहरण का वडा दु'ख है । आप नगर के रक्षक हे । कृपया चिलात से मेरी कन्या वापस लाकर मुझे दीजिए ।"

रक्षकों को अपने कर्त्तव्य का भान हुआ । वे प्रस्तुत हुए । सिह गुफा की ओर शस्त्र-सज्जित सैनिक चल पडे ।

चिलात ने यह सैन्य अपनी शरण-स्थली की ओर आती हुई देखी और तत्क्षण युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गया ।

विकट युद्ध हुआ । चिलात शक्तिशाली था, किन्तु रक्षक-सैन्य संख्या मे अधिक थे । चोरो के पॉव उखडने लगे ओर परास्त होकर व जंगल मे इधर-उधर भाग गए ।

चिलात ने जब अपनी सेना को तितर-वितर हुआ देखा तो वह सु सुमा को लेकर एक भीषण जंगल मे घुस गया ।

धन्य सार्थवाह ने चिलात को उस जंगल मे अपनी कन्या के साथ घुसता हुआ देख लिया था । अपने पॉचो पुत्रो के साथ वह उसका पीछा करने लगा ।

चिलात सुंसुमा के साथ गहन से गहनतम वन मे भागता गया, किन्तु वाप-वेटो ने भी उसका पीछा नही छोडा । प्राणो की वाजी लगाकर वे उसके पीछे पडे ही रहे ।

धीरे-धीरे चिलात थकने लगा । उसे सुंसुमा का भार भी ढोना पड रहा था । जव उसने देखा कि वह सुंसुमा का भार ढोता हुआ अव अधिक दूर नही जा सकता, तव उसने उस कोमल कन्या का सिर वेरहमी से काट लिया और उसे लेकर वह और भी अधिक सघन अटवी मे घुस गया ।

चिलात उस सघन अटवी मे घुस तो गया, किन्तु वह इतनी सघन और अन्धकारपूर्ण थी कि वहॉ जाकर वह मार्ग भूल गया । वहुत समय नक वह इधर-उधर भटकता रहा, भागते-भागते उसे तीव्र प्यास लग आई

थी, किन्तु कही जल नही था। जल केवल सिह गुफा मे ही था और उस गुफा का मार्ग वह भूल गया था। अत भटकते-भटकते वह प्यास के मारे रास्ते मे ही मर गया।

धन्य सार्थवाह चिलात के पीछे पडा था। उसे खोजते-खोजते आखिर वह उस स्थान पर पहुँचा जहाँ उसकी पुत्री का सिर कटा हुआ शव पडा था। उसे देखकर वह दु:ख के मारे मूर्च्छित होकर उसी प्रकार गिर पडा जैसे कुल्हाडे से काट दिए जाने पर चम्पक वृक्ष भूमि पर गिर पडे।

उसके पुत्रो ने अनेक प्रकार उसका उपचार किया और किसी तरह उसे होश आया। होश मे आने पर वह तीव्र विलाप करने लगा। वह और उसके पुत्र प्यास के मारे पहले से ही अधमरे हो चुके थे, अव विलाप करने से उनकी प्यास और भी अधिक वढ गई। किसी प्रकार साहस करके वे जल की खोज मे इधर-उधर भटकने लगे, किन्तु जल कही भी नही था।

भटकते-भटकते वे उसी स्थान पर वापिस लौट आए। तव धन्य सार्थवाह ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को अपने पास बुलाकर कहा—

"हे पुत्र ! आज हमारे दुर्भाग्य की चरम सीमा आ गई। किन्तु पश्चात्ताप तथा विलाप से तो अव कुछ होगा नही। भूख और प्यास से हम लोग इतने पीडित हो चुके है कि यदि कोई उपाय न किया गया तो हम सभी यही पर मर जाएँगे। अत तुम ऐसा करो कि मुझे जीवन से रहित कर दो और मेरे शरीर के रुधिर और मास से अपनी भूख-प्यास मिटाकर, शक्ति का संचय कर घर पर पहुँचो और शेष कुटुम्व का रक्षण करो एव धर्म और पुण्य के भागी वनो।

पिता की वात सुनकर पुत्र को वहुत दु ख हुआ। वात ही ऐसी थी। वह वोला—

"पूज्य पिताजी ! यह आप कैसी बात कह रहे है ? आप हमारे पिता है, पूज्य है, हमारे लिए देवता स्वरूप है। हम ऐसा पाप कैसे कर सकते है ? आप ऐसा कीजिए कि मुझे ही जीवन से रहित कर दीजिए तथा अपनी भूख-प्यास शान्त कर घर लौटिए।"

वडे भाई की यह वात सुनकर दूसरे भाई ने तुरन्त कहा—

"हे तात ! गुरु और देव के समान अपने ज्येष्ठ भ्राता को हम जीवन मे रहित नही होने देगे। उचित यही है कि आप लोग मेरे ही जीवन का अन्त कर दे।"

एक विकट समस्या उत्पन्न हो गई। सभी भाइयो मे शेप लोगो की जीवन-रक्षा के लिए अपने-अपने प्राणो का अन्त कर देने की होड-सी लग गई। तव धन्य सार्थवाह ने वस्तुस्थिति पर गहन विचार करके कहा—

"प्रिय पुत्रो ! ऐसे विकट सकट के समय पर क्या किया जाय और क्या न किया जाय यह मुझे सूझता नही। इस समस्या का अव तो एक ही समाधान दिखाई देता है। यह तुम्हारी वहिन मृत्यु को प्राप्त हो ही चुकी है। अत हमे अपनी जीवन-रक्षा के लिए इसी के शरीर का आहार कर लेना चाहिए।"

घोर दु'ख के साथ पिता ने यह वात कही थी और पुत्रो ने स्वीकार की थी। अन्य कोई मार्ग था भी तो नही ···· ।

पिता-पुत्र घर लौटे। स्वजनो से मिले। मृत सुंसुमा का लौकिक मृत-कृत्य किया गया। धीरे-धीरे शोक समाप्त हुआ।

उस समय श्रमण भगवान महावीर राजगृह नगर मे पधारे और गुण-शील चैत्य मे विराजे। उनके दर्शन करने तथा उपदेश सुनने के लिए नगर के सभी जन गए। धन्य सार्थवाह भी गया। भगवान का धर्मोपदेश सुनकर उसे वैराग्य हुआ और अपने ज्येष्ठ पुत्र को अपने पद पर आसीन करके वह दीक्षित हो गया।

दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् उसने ग्यारह अंगो का क्रमश अध्ययन किया। वहुत समय तक संयम का पालन करने के वाद सलेखना कर वह सौधर्म देवलोक मे उत्पन्न हुआ। वहाँ से चल करके वह महाविदेह क्षेत्र मे चारित्र धारण करके सिद्धि प्राप्त करेगा।

चिलात चोर विपयो मे आसक्त था। उसका दुष्परिणाम उसे भोगना पडा। साधु को चाहिए कि वह धन्य सार्थवाह के समान अनासक्त होकर केवल मोक्ष प्राप्ति के हेतु ही आहार ग्रहण करे।

—ज्ञाताधर्म कथा



४

उपसर्गजयी कामदेव

आत्मा अभय है। यदि धर्म मे दृढ आस्था हो और मनुष्य साधना के पथ पर पूर्ण निष्ठावान होकर रहे तो उसके आत्मप्रदेश मे कोई भी भय प्रवेश नही पा सकता।

अंग देश मे चम्पा नाम की एक नगरी थी। वहाँ के राजा का नाम जितशत्रु था। नगरी के बाहर पूर्णभद्र नामक एक चैत्य था। इसी नगरी में कामदेव नामक एक गृहस्थ रहता था। कामदेव सचमुच चम्पा नगरी का शृङ्गार था। भद्रा नाम की उसकी पत्नी थी। वह अत्यन्त रूपवती, सुकुमार एव पति पर श्रद्धा रखने वाली थी। कामदेव ऋद्धिसम्पन्न व ऐश्वर्यशाली था। उसके पास अठारह करोड स्वर्ण मुद्राएँ थी तथा दस-दस हजार गायो के अनेक गोकुल थे। अतुल धन-सम्पदा तथा गोधन का वह स्वामी था। उसके जीवन मे कोई अभाव नही था।

भगवान महावीर विहार करते हुए एक बार चम्पा नगरी मे पधारे। उनके आगमन की बात जानकर सहस्रो नागरिक हर्षित होकर उनके दर्शन करने निकले। कामदेव ने भी इतनी भीड को पूर्णभद्र चैत्य की ओर जाते देखा तो जिज्ञासावश अपने अनुचरो से वस्तुस्थिति का ज्ञान कर वह भी लोगो के साथ चल पडा।

भगवान के अमृत-वचनो का उसके हृदय पर ऐसा प्रभाव पडा कि कामदेव ने श्रावक के बारह व्रत ग्रहण कर लिए। उसकी पत्नी भद्रा ने भी एक सच्ची पति-अनुगामिनी की भाँति उन व्रतो को अगीकार किया।

इस प्रकार कामदेव भगवान महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति का विधिवत पालन करता हुआ कुटुम्बीजनो के साथ सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहा था। एक रात्रि उसके मन मे अध्यवसाय उत्पन्न हुआ कि सासारिक बन्धनो मे अपने को लिप्त रखते हुए कब तक धर्म-प्रज्ञप्ति का विधिवत पालन कर सकूँगा ? अनेक व्यवधान आते ही रहते है। व्रतो का पालन उन स्थितियो मे कठिन हो जाता है।

इस प्रकार का विचार उठते ही वह प्रात काल स्वजन-सम्बन्धियो की उपस्थिति मे अपने ज्येष्ठ पुत्र को गृह-भार सौंपकर पौपधशाला मे जाकर उपासको की प्रतिमा की आराधना मे सलग्न हो गया। गृह-भार से निवृत्त होने के पश्चात् एकाग्रचित्त से वह भगवान महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति मे लीन हो गया।

किन्तु शुभ कार्य मे विघ्न और कठिनाइयाँ भी आती है और वीर एवं साहसी व्यक्ति उन्हे धैर्यपूर्वक पार करते चलते है। एक दिन मध्य-रात्रि मे उसके समीप एक मिथ्यादृष्टि देव आया। उसका शरीर बडा भयकर था—गोकलिज के समान सिर, मोटे और सूखे केश, मटके की तरह ललाट, नेवले की पूँछ की तरह छितरे हुए भोहो के बाल, छोटे घडे के समान बाहर निकले हुए नेत्र, खण्डित छाज की तरह विचित्र कान, दो चूल्हो की तरह गहरी नासिका, घोडे की पूँछ सदृश मूँछे, ऊँट की तरह ओष्ठ, टूटे हुए शूर्प की तरह जिह्वा, मृदंग के समान कधे, चक्की के पाट जैसी हथेलियाँ, शिला के समान पैर।

इतना भयकर वह देव अपना मुख फाडे हुए था, जिह्वा बाहर निकली हुई थी। गिरगिट और चूहो की माला उसने पहिन रखी थी। कानो मे नेवले का कुण्डल था और वक्षस्थल पर सर्पों की माला झूल रही थी। घोर गर्जना और अट्टहास करता हुआ, हाथ मे नगी तलवार लेकर पौपध-शाला मे कायोत्सर्ग मे लीन कामदेव को सम्बोधित करते हुए वह कहने लगा—

"अरे कामदेव ! तू किसकी शरण मे बैठा है। किसके ध्यान मे लीन है ? तेरे अन्तिम और बुरे दिन सन्निकट है। तू तो अभागा है। तेरा जन्म चतुर्दशी तिथि को हुआ है। धर्म, पुण्य, स्वर्ग और मोक्ष की तेरी आकाक्षा कभी

पूरी नही होगी । मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि तू अपने व्रतो से चलित नही हुआ है और न चलित होना चाहता है । किन्तु यदि अब मेरे कहने मात्र से तू अपने व्रतो को भंग नही करेगा तो इसी तीक्ष्ण तलवार से तेरे शरीर के टुकडे-टुकडे कर डालूँगा ।"

उस देव-पिशाच के ये भयंकर शब्द कामदेव के कानो मे पडे, किन्तु वह यथावत् कायोत्सर्ग मे लीन रहा, किंचित्मात्र भय भी उसे स्पर्श न कर सका । उसे इस प्रकार निर्भय, अनुद्विग्न, अचल देखकर पिशाच क्रोध भरी चिनगारियाँ उगलने लगा—

"दुष्ट ! तू इस प्रकार निर्भय रखकर अपने प्राणो की रक्षा नही कर सकेगा । अपने व्रतो को शीघ्र खण्डित कर मेरी शरण मे आ जा अन्यथा बुरी तरह मारा जायगा ।"

इस प्रकार अनेक बार उसने कामदेव को आह्वान करने का उपक्रम किया किन्तु जब वह सफल न हुआ तो एकाएक क्रुद्ध होकर उस तीक्ष्ण तलवार से कामदेव के टुकडे-टुकडे करने लगा ।

कोमल काया पर उस प्रकार तीक्ष्ण आघात होने पर किसे पीडा न होगी ?

कामदेव को भी तीव्र व असह्य वेदना हुई । तथापि वह अपने निश्चय मे अडिग रहा । तनिक-सी भी व्यग्रता उसके हृदय मे नही आई । पिशाच ने उसे भली-भाँति देखा, समझा और अपनी क्रूर भावनाओ से उसे डिगाने मे अपनी सारी शक्ति लगा दी । किन्तु उसका सारा परिश्रम व्यर्थ गया । तब वह सोचने लगा—कामदेव निर्भय है । ध्यान मे लीन है । निर्ग्रन्थ वचन से अविचलित व अविक्षिप्त है । उसके ध्यान को भग करने मे मेरी सारी शक्ति व्यर्थ हुई ।

अब वह पिशाच शान्त होकर विचार करने लगा—मैं कैसा अभिमानी था, इसे विचलित करने के लिए कितने क्रूर कर्म किए किन्तु यह अविचलित ही रहा । इसने मेरे सारे प्रयासो पर पानी फेर दिया, मेरा अभिमान चूर-चूर कर दिया ।

इस विचार से उसका हृदय ग्लानि से भर गया । पौषधशाला से बाहर आकर उसने अपना पिशाच का रूप त्याग दिया ।

उस मिथ्यादृष्टि देव को अपनी असफलता पर बड़ा खेद हुआ। उसने कामदेव को पराजित करने की इच्छा से पुन हाथी का रूप बनाया। हाथी भी भयावह और विरूप था। मेघ के समान गर्जन करता हुआ वह पौषधशाला मे आया। बीभत्स आवाज मे चिघाड़ते हुए कहने लगा—

"कामदेव! अब भी तू अपने हठ पर अड़ा रहेगा? कान खोलकर सुन लो, मेरे कथनानुसार यदि तूने धर्म का परित्याग न किया तो अपनी सूँड मे लपेट कर तुझे पौषधशाला से बाहर ले जाकर अपने दाँतो, पैरो और मूँड से तेरे अंग-अंग विच्छिन्न कर दूँगा। तू दु ख से पीडित होकर मृत्यु का ग्रास बन जायगा।"

आत्मलक्षी किसी की चुनौती से घबराता नही। कामदेव अपने लक्ष्य पर दृढ था। वह पूर्ववत् कायोत्सर्ग मे लीन रहा। हाथी के रूप मे देव ने अपने कथन को अनेक बार दुहराया, किन्तु कोई फल न हुआ। अब क्रोध के अतिरेक मे उसने कामदेव को अपनी विशाल सूँड मे लपेटा और पौपधशाला से बाहर ला पटका। अत्यन्त निर्दय होकर उसे आकाश मे उछाला। नीचे गिरते हुए कामदेव को तीक्ष्ण दाँतो से विदीर्ण कर पैरो तले रौंदा। लेकिन असह्य वेदना से पीडित होते हुए भी कामदेव अविचलित रहा और शान्त भाव से सब कुछ सहता रहा।

देव ने दूसरी बार भी पराजित होकर कामदेव को पौपधशाला मे लाकर बिठा दिया। बाहर आकर हाथी का रूप त्याग दिया। पराजय पर पराजय होने पर किसी का भी हृदय प्रतिशोध की भावना से भर जाता है। वह दुष्ट देव भी प्रतिशोध की ज्वाला मे दग्ध हो रहा था। अत अशेष शक्ति का उपयोग कर वह इस बार भयकर सर्प बनकर फुफकारता हुआ पुन पौपधशाला मे प्रविष्टि हुआ। अपने भयानक फन फैलाता हुआ, अग्नि की भाँति उग्र साँसो को फेंकता हुआ बोला—

"कामदेव! यदि आज तू अपने व्रतो से विमुख न हुआ तो इस बार के उपसर्ग से तू बच नही सकता। देख मेरे विषैले, भयंकर शरीर को। सर-सर करता हुआ तुझ पर चढूँगा और गले मे तीन आँटे मारूँगा। विष से भरी पैनी दाढो मे तेरा वक्षस्थल चीर डालूँगा। उसमे भयानक विष उगल दूँगा। उसकी वेदना असहनीय होगी। तू तडप-तडप कर बेहोश हो जायगा और उसी अवस्था मे तेरी मृत्यु हो जायगी।"

किन्तु कामदेव निश्चल ही रहा। आत्मभावो मे रमण करता हुआ वह सर्प रूपी देव की वात सुनकर भी विचलित न हुआ। बार-बार दी गई सर्प को चेतावनी भी व्यर्थ गई।

रोप से भरा, बल खाता हुआ सर्प आगे बढा। कामदेव के शरीर पर चढ कर, गले मे आँट डालकर उसके वक्षस्थल को निर्दयता से डस लिया। इससे कामदेव को तीव्र वेदना हुई, किन्तु वह विचलित नही हुआ। धर्म-जागरणा मे वह पूर्ववत् ही लीन रहा।

सत्य, साधना और सयम का प्रभाव दुष्ट से दुष्ट प्राणी पर भी पडे बिना नही रहता।

लगातार तीन बार भयंकर उपसर्गो द्वारा पीडित किए जाने पर भी श्रमणोपासक कामदेव को स्वीकृत धर्म पर इस प्रकार दृढ रहते देखकर देव का मन अव सच्ची आत्म-ग्लानि से भर गया। पौषधशाला से बाहर आकर सर्प रूप त्याग कर अव वह अपने वास्तविक देव-स्वरूप मे उपस्थित हुआ। दसो दिशाओ को अपनी कान्ति से प्रकाशित करता हुआ वह पौषधशाला मे आया और कामदेव को सम्बोधित करते हुए कहने लगा—

"श्रमणोपासक कामदेव! तू धन्य है। कृतार्थ है, कृतलक्षण है। मनुष्य जन्म का फल तेरे लिए सुफल है क्योकि निर्ग्रन्थ वचन मे तुझे प्रतिपत्ति हुई है। देवराज इन्द्र ने अपनी भरी सभा मे उद्घोषित किया था— "जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र की चम्पा नगरी मे कामदेव श्रावक भगवान महावीर की धर्म प्रज्ञप्ति स्वीकार कर पौषधशाला मे कायोत्सर्ग मे लीन है। उसे धर्म पथ से विचलित करने मे कोई भी समर्थ नही है। भले ही वह महापराक्रमी देव, दानव, यक्ष, राक्षस और गन्धर्व ही क्यो न हो।"

"कामदेव! मुझे देवराज इन्द्र की इस बात पर विश्वास नही हुआ था, अत मैं तेरी परीक्षा लेने आया था। देवानुप्रिय! तूने जिस धार्मिक दृढता का परिचय दिया है वह अद्भुत है। देवराज ने जो कहा था वह मैंने प्रत्यक्ष देख लिया। उनका कथन सर्वथा सत्य है। मैं तुझसे अपने द्वारा किए हुए क्रूर कर्म की क्षमा चाहता हूँ। क्षमा करो, क्योकि तुम क्षमा करने के योग्य हो।"

ये शब्द कहते हुए वह देव कामदेव के चरणो मे गिर पडा और क्षमा प्राप्त कर वह अदृश्य हो गया।

सभी उपसर्ग सह लेने के पश्चात् कामदेव ने कायोत्सर्ग को पूर्ण किया। तत्पश्चात् नगरी मे भगवान महावीर के पुनरागमन की बात जब उसने सुनी तो निश्चय किया कि भगवान के दर्शन-वन्दन करने के उपरान्त ही भोजन करूँगा। अपने संकल्प को क्रियान्वित करने के लिए वह पूर्णभद्र चैत्य मे पहुँचा। भगवान को वन्दन किया, पर्युपासना की और देशना सुनी।

परिषद् के मध्य भगवान ने श्रमणोपासक कामदेव के गत रात्रि के उपसर्ग के वृत्तान्त पर सविस्तार प्रकाश डालते हुए उसकी दृढ निष्ठा की ओर संकेत किया और कहा—

"निर्ग्रन्थो! गृहवास मे रहने वाले श्रमणोपासक देव, मनुष्य या तिर्यञ्च सम्बन्धी सभी उपसर्गों को सम्यक् प्रकार से सहते हैं और ध्यानादिक आध्यात्मिक क्रियाओ से विचलित नही होते। द्वादशागी के धारक श्रमण निर्ग्रन्थ को तो ऐसे उपसर्ग सहन करने मे सर्वथा दृढ, समर्थ और पूर्ण तत्पर रहना चाहिए।"

कामदेव तीस वर्ष तक ग्यारह प्रतिमाओ की आराधना कर शीलव्रत आदि से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ श्रावक पर्याय मे स्थित रहा। अन्त मे अनशन, आलोचना-प्रत्यालोचना कर समाधि को प्राप्त हुआ और अपना आयुष्य पूर्ण कर सौधर्मकल्प के सौधर्मावतंसक महाविमान के ईशान कोण के अरुणाभ विमान मे देवरूप मे उत्पन्न हुआ। वहाँ उसकी चार पल्योपम की स्थिति है। वहाँ से आयु, भव और स्थिति का क्षय कर वह महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होगा और सिद्धि को प्राप्त करेगा।

—उपासक दशा-२



५

कर्मफल

किसी नगर मे एक कलाकार रहता था। काष्ठ-शिल्प मे वह प्रवीण था। अपने सधे हुए हाथो से वह जिस काष्ठ को भी छू देता वह देखते-देखते ही एक सुन्दर कलाकृति मे परिणत हो जाती। देखने वाले बस मुग्ध होकर देखते ही रह जाते।

किन्तु प्राय कलाकारो के साथ एक दुर्भाग्य भी छाया की तरह साथ-साथ चलता है कि उनकी कला का मूल्य जगत नही जानता और वे बेचारे कलाकार दरिद्रता मे ही अपने बहुमूल्य जीवन की इतिश्री कर संसार से विदा हो जाते है। शायद यह उक्ति सत्य ही है कि लक्ष्मी और सरस्वती का मेल बैठता ही नही।

उस कलाकार की भी यही स्थिति थी। कला तो उसे भरपूर मिली थी, किन्तु उसका मूल्य नही मिल रहा था। वैसे तो कला का कोई मूल्य हो ही नही सकता, किन्तु फिर भी सुविधापूर्वक जीवन-यापन हो सके, इतनी अपेक्षा तो की ही जाती है।

वह बेचारा कलाकार भी अपनी काष्ठ की कलाकृतियो को खा कर तो जीवित रह नही सकता था। उदरपूर्ति हेतु उसे धन की आवश्यकता पड़ती ही थी, और वह धन उसे मिलता नही था।

निदान, दुर्भाग्य का मारा, भूख की ज्वाला से हैरान, वह विवश कलाकार चोरी जैसे जघन्य कर्म मे प्रवृत्त हो गया।

चोरों के गिरोह में मिल जाने पर अपनी कुशलता से उसने शीघ्र ही उस दल का नेतृत्व अपने हाथ मे ले लिया। दिन के समय वह चोरी किये जाने लायक स्थान की खोज-वीन करता और रात्रि को अपने गिरोह के साथ उस स्थान पर धावा वोल देता। मजवूत-मजवूत और सुरक्षित से सुरक्षित स्थान मे भी पलक झपकते-झपकते सेंध लगा देना उसके वाएँ हाथ का खेल था।

एक वार वह अपने साथियो सहित चोरी करने के लिए एक ऐसे मकान मे पहुँचा जिसकी दीवारे चूने और पत्थर की न होकर काष्ठ की थी। यह कथा पुराने जमाने की है, उस समय लकडी के मकान वहुतायत मे पाये जाते थे। अव ज्यो ही वह उस काष्ठ की दीवार मे सेंध लगाने लगा कि उसका कलाकार-मानस जाग उठा। अनजाने ही, सहज भाव से वह वहाँ सेंध लगाने मे भी कला का उत्कृष्ट नमूना तैयार करने लगा। काष्ठ को वह इस ढंग से काटने लगा कि एक सुन्दर कंगूरे का रूप वन जाय। उसके साथी उसकी इस प्रकार की तन्मयता देखकर वौखलाए—

"भाई! यहाँ चोरी करने आए हो या अपनी कारीगरी दिखाने? इस प्रकार तो विलम्व हो जायगा और हम सव पकडे जाकर मारे जायँगे। जल्दी से सेंध लगाकर अपना काम खत्म करो।"

चोर वन जाने पर भी जिसके हृदय से कला का प्रेम विनष्ट नही हुआ था ऐसा वह कलाकार उत्तर मे वोला—

"अरे भाई! चोरी तो करनी ही है, किन्तु ऐसा स्थान और ऐसी वस्तु हर समय उपलव्ध नही होती। अत. तनिक अपनी कला का जादू भी दिखा दूँ, ताकि प्रात काल जव लोग उसे देखें तो उन्हे यह पता चले कि चोरी करने के लिए केवल चोर ही नही कोई असाधारण कलाकार भी आया था।"

उसकी इस सरल मूर्खता पर साथियो को हँसी आ गई।

तीक्ष्ण धार वाली आरी चलती रही। उसकी आवाज से गृहपति की नींद खुल गई। सावधान होकर वह एक ओर छिप गया। सेंध लग जाने पर ज्योंही कलाकार ने तीखे कंगूरो वाली सध से घर मे घुसने के लिए पैर भीतर डाला कि गृह स्वामी ने झपट कर उसके पाँव मजवूती से दवोच लिए

और सोचने लगा कि यदि यह भीतर आ गया तो कोन जाने किसी तीखे शस्त्र से मुझ पर आक्रमण ही कर बैठे ।

उधर बाहर खडे उसके साथियो को जब उस स्थिति का भान हुआ कि उसके पैर भीतर से पकड लिए गए है तो वे सोचने लगे कि यदि यह भीतर घसीट लिया गया और पकड लिया गया तो सारा भेद खुल जायगा, सब लोग नाहक मारे जायंगे ।

अत चिन्तित होकर वे लोग उसके दोनो हाथ पकडकर उसे बाहर खीचने लगे ।

इस प्रकार भीतर और बाहर दोनो ओर से खीचा जाने पर नोकदार, तीक्ष्ण कंगूरे वाली उसकी कारीगरी स्वयं उसी के शरीर को चीरने लगी । वह चिल्लाया—"अरे छोड दो मुझे. मै मर जाऊँगा ।"

किन्तु कृत-कर्म के फल भोगने की उसकी घडी आ चुकी थी । साथी उसे इसलिए नही छोडते थे कि यदि यह पकडा गया तो उन सभी का भेद खुल जायगा, तथा गृहस्वामी तो भला उसे छोडता ही क्यो ?

अन्ततः उस खीचातानी मे उसका सारा शरीर लहू-लुहान हो गया और वेदना से तडपते-तडपते उसने प्राण त्याग दिए ।

दुर्भाग्य का मारा एक कलाकार चोरी जैसे निकृष्ट कर्म मे प्रवृत्त हुआ और उसे अपने कर्म का फल भोगना ही पडा ।

—उत्तराध्ययन



६

राह का भिखारी

यदि मनुष्य विवेक पूर्वक पुरुषार्थ करे तो वह ससार की वड़ी से वड़ी निधि भी प्राप्त कर सकता है। किन्तु यदि विवेक न हो तो कितनी भी सम्पत्ति का वह स्वामी हो, एक दिन राह का भिखारी अवश्य वन जायगा।

एक वार एक वणिक ने अपने पुत्रो को वुलाकर प्रत्येक को एक-एक हजार स्वर्ण मुद्राएँ दी और समझाकर कहा—

"पुत्रो! इन मुद्राओ को लेकर तुम तीनो व्यापार करने के लिए अलग-अलग जाओ। वुद्धिमानी के साथ कार्य करना और अपनी-अपनी पूँजी को वढाने का प्रयत्न करना जिससे कि तुम सवका जीवन सुख-सुविधा से युक्त हो। मै यह देखना चाहता हूँ कि तुम किस प्रकार से अपने विवेक का उपयोग करते हो। तुम लोगो के लौटकर आने पर मै अपनी यह सारी चल-अचल सम्पत्ति तुम लोगो मे वाँट दूँगा।"

पिता की आज्ञा का पालन कर तीनो भाई अपने-अपने हिस्से की पूँजी लेकर किसी दूरस्थ नगर मे पहुँचे। वहाँ पर सवने अलग-अलग व्यापार करने की योजना वनाई। पहला भाई व्यवसाय-कुशल था। अपनी पूँजी से वह कोई अच्छा व्यवसाय करने लगा और उसमे पूरी मेहनत से काम करने लगा। सच्चाई और लगनशीलता के कारण उसके व्यापार की दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति होने लगी। 'व्यापार मे लक्ष्मी का निवास होता

है'—इस उक्ति के अनुसार उसके पास थोडे समय मे ही अपार सम्पत्ति जमा हो गई।

दूसरे भाई मे साहस, परिश्रम और लगनशीलता का अभाव था। परिश्रम कम करना पडे, इस दृष्टि से उसने ब्याज का कारोबार किया। ब्याज के पैसो से वह अपना जीवन-यापन करते हुए अपनी मूल पूँजी को सुरक्षित रखे रहा। यहाँ तक भी कुछ गनीमत मानी जा सकती थी।

किन्तु तीसरा भाई अत्यन्त विलासी ओर बुद्धिहीन था। व्यापार के द्वारा अधिक सम्पत्ति का अर्जन करने के स्थान पर वह उन एक सहस्र मुद्राओ का उपयोग वेश्याओ के साथ आमोद-प्रमोद तथा अन्य विलास कार्यों मे करने लगा। इस प्रकार खर्च करते-करते एक दिन उसकी सारी पूँजी समाप्त हो गई। भिखारी बनकर वह इधर-उधर धक्के खाने लगा। कल तक जो वेश्याएँ उसे अपने हाव-भाव से रिझाती थी और कल तक ही जो मित्र उस पर जान देने के दावे करते थे, वे सब अव उससे आँखे चुराने लगे। उन सवकी दृष्टि मे उसका मूल्य अव फूटी कौडी के बराबर भी नही रह गया।

आखिर कुछ समय वाद वे तीनो भाई अपने घर लौट आए। उनके पिता ने उन तीनो की परिस्थिति को देखा और उनकी अपनी-अपनी योग्यता का ज्ञान उन्हे हो गया।

व्यक्ति की आकृति एव क्रिया-कलापो से ही उसकी योग्यता-अयोग्यता का ज्ञान हो जाता है।

पहिले पुत्र का घर मे वडा सम्मान होने लगा, जो कि स्वाभाविक ही था, क्योकि उसने अपनी योग्यता और विवेक का अच्छा प्रमाण दिया था और अपार सम्पत्ति अर्जित की थी। आस-पास के लोगो ने भी उसकी भूरि-भूरि प्रशसा की। पिता ने उसे योग्यतम जानकर परिवार की वागडोर उसी के हाथो मे सौंप दी। वह अपनी सुन्दर पारिवारिक परम्परा को आगे वढाने वाला सिद्ध हुआ।

दूसरे पुत्र ने अपनी मूल पूँजी को सुरक्षित रखा था, अत उसके लिए लोगो के उद्गार थे—यह पैतृक सम्पत्ति की सुरक्षा मे प्रवीण है। यदि अधिक कुछ नही कर सकता तो कम से कम मूल पूँजी को तो सुरक्षित रख ही सकता है।

ऐसी स्थिति मे पिता ने उसे गृह-व्यवस्था तथा सम्पत्ति रक्षा का कार्य सौपा। अपना यह दायित्व वह कुशलता से निभाने लगा।

तीसरे पुत्र के चाल-चलन और कुरुचियो को देखकर सभी लोग वडे निराश हुए। पिता को भी वहुत दु ख हुआ। सभी ने उसका तिरस्कार किया। कुछ वडे-बूढो ने तो स्पष्ट ही कह दिया—यह नालायक है, अयोग्य है। स्वय तो वर्वाद हुआ ही है, साथ ही उसने वाप-दादो की प्रतिष्ठा को भी धक्का पहुँचाया है। उसके जैसे लडके से भविष्य मे कोई भी आशा रखना व्यर्थ है। ऐसी अयोग्य सन्तान से तो निस्सन्तान रहना ही श्रेयस्कर है। यदि सेठ ने उसे घर मे रखा तो यह स्वयं तो डूव ही रहा है, अपने साथ समस्त परिवार को भी ले डूवेगा।

इष्ट जनो की सारी वाते सेठ ने सुनी, गम्भीरतापूर्वक विचार किया और भारी मन से, हृदय मे गहन पीडा का अनुभव करते हुए अपने उस निकम्मे तीसरे पुत्र को घर से निकाल दिया।

विवेक पूर्वक चलकर वडे पुत्र ने अपार सम्पत्ति और यश का अर्जन किया। मँझले पुत्र ने सामान्य वुद्धि का प्रदर्शन करते हुए मूल पूँजी को तो सुरक्षित रख ही लिया, किन्तु तीसरा अविवेकी पुत्र सव कुछ गँवा कर राह का भिखारी वन गया।

—उत्तराध्ययन



७

तुम चोर नहीं हो

ढाई हजार वर्ष पूर्व की एक कथा है। मगध के सम्राट महाप्रतापी महाराज श्रेणिका अपने शानदार दरबार मे बैठे सभासदो से विनोद वार्ता कर रहे थे। उसी समय उन्हे कुछ कोलाहल सुनाई पडा और उसी के साथ-साथ बहुत से नागरिक उनके दरबार मे प्रविष्ट होकर हाथ जोडकर निवेदन करने लगे—

"महाराज ! आपके राज्य मे अब अन्धेर बढता जा रहा है। सुरक्षा का लोप होता जा रहा है। हम लोग बडे कष्ट मे पड गए है। आए दिन हमारे घरो मे चोरी होने लगी है। कडे परिश्रम से हम धनोपार्जन करते है, राज्य का उचित और निर्धारित कर चुकाते है, व्यापार-वाणिज्य करते है, किन्तु ये चोर है कि चुपचाप हमारे कडे परिश्रम की कमाई को चुरा ले जाते है। दयानिधान ! इस प्रकार हमारा गुजारा कैसे और कितने दिन चलेगा ?"

सम्राट श्रेणिक जैसे आकाश से पृथ्वी पर आ गिरे। वे तो सोचते थे कि प्रजा सुख मे है, राज्य मे सब अमन-चैन है, किसी को कोई कष्ट नही। किन्तु आज मालूम हुआ कि ऐसा नही है। उन्होने क्रोधित होकर कोतवाल को बुलाकर कहा—

"तुम करते क्या हो ? किस बात का वेतन तुम राज्य से लेते हो ? क्यो नही तुम्हे राज्य सेवा से मुक्त कर दिया जाय और किसी अन्य सुयोग्य अधिकारी की नियुक्ति की जाय जो अपना कर्तव्य भली प्रकार से पूरा करे ? उत्तर दो।"

कोतवाल सम्राट की टेढी भृकुटि देखकर थर-थर काँप गया। गिड-गिडाता हुआ-सा बोला—

"सम्राट ! मै दण्ड का भागी हूँ। स्वीकार करता हूँ। मुझ से अधिक कुशल और सुयोग्य व्यक्ति की नियुक्ति आप मेरे पद पर कर दीजिए। मैं तो स्वयं ही हैरान हो गया हूँ। लाख प्रयत्न करके मैं हार गया, किन्तु यह दुष्ट लौहखुर का बेटा रोहिणेय चोर अपने युग का अद्वितीय कलाकार है। चौर कर्म मे इस पापी ने अपने पिता को भी मीलो पीछे छोड दिया है। प्रभु ! उसकी गति बिजली के समान है। वह राक्षस कब आता है, किधर से आता है, कहाँ चला जाता है—कुछ पता ही नही चलता। इतना होशियार है कि एक भी प्रमाण उसके विरुद्ध मुझे मिल नही पाता। दया-निधान ! प्रमाण के अभाव मे मैं उसका क्या करूँ ?"

कोतवाल के कथन मे सार था। सम्राट विचार मे पडा गए। जब ऐसी स्थिति है तब बेचारे कोतवाल का क्या दोष ? वे न्यायी थे, अन्याय कैसे करते ? अन्त मे विचारते-विचारते उन्होने अपने मन्त्री अभयकुमार से कहा—

"अभय ! तुम विलक्षण व्यक्ति हो। तुम्हारी कुशाग्रबुद्धि की समता करने वाला इस भरतक्षेत्र मे कोई नही। इस रोहिणेय चोर के विरुद्ध प्रमाण एकत्रित कर, उसे पकडकर उचित दण्ड देने का कार्य आज से तुम्हारे जिम्मे रहा।"

जिस समय मगध-सम्राट के दरबार मे यह निर्णय हो रहा था, उस समय रोहिणेय चोर का वृद्ध पिता लौहखुर अपनी मृत्यु-शय्या पर पडा अपने सुयोग्य पुत्र को अन्तिम उपदेश दे रहा था—

"बेटा ! जहाँ तक अपने पैतृक कुल-कर्म का प्रश्न है, उस सम्बन्ध मे तुझे मैं अब कोई नई बात बता सकूँ या कोई उपदेश दे सकूँ ऐसी स्थिति नहीं है। तू मेरा बेटा है, और बाप से सवाया है। तू हमारे कुल का सर्वोत्तम उज्ज्वल प्रदीप है। इस अकेले मगध सम्राट की तो बिसात ही क्या, सारे भरतखण्ड के शासक भी यदि मिलकर प्रयत्न करे तो भी वे तुझे पकड नही सकते। इतना चतुर और प्रतिभाशाली है तू।"

"किन्तु बेटा ! अपने पिता की अन्तिम बात को कभी न भूलना कि तू कभी किसी साधु के समीप मत जाना और उसकी बात न सुनना। मै

तुझे आशीर्वाद देता हूँ और कहता हूँ कि यदि तूने मेरी इस बात का विस्मरण न किया तो तू कभी बन्धन मे नही पडेगा ।"

पुत्र ने यह बात हृदय मे धारण करली ।

पिता ने छुट्टी ली ।

अब दो अद्‌भुत व्यक्तियो की होड आरम्भ हुई । रोहिणेय चोर अपने चौर कर्म मे अद्वितीय था ही । दूसरी ओर था स्वय मन्त्रीश्वर अभयकुमार जिसके नाम से समस्त आर्यावर्त्त थर्राता था ।

रोहिणेय चोर खुले आम, दिन-दहाडे नगर मे आता और अवसर पाकर इतनी चतुराई से चोरी करके हवा हो जाता कि किसी को उसकी छाया के भी दर्शन न हो पाते । उसके द्वारा की गई चोरी का कोई प्रमाण मिलाने का तो प्रश्न ही नही था ।

अद्‌भुत बुद्धि का धनी अभयकुमार भी हैरान था और अवसर की ताक मे था ।

उन्ही दिनो भगवान महावीर विचरण करते हुए उस नगरी मे पधारे थे और नगर से बाहर राजमार्ग के समीप ही उपदेश दिया करते थे । रोहिणेय के आवागमन का मार्ग भी वही था और उसे अपने पिता के वचन याद थे—'कभी किसी साधु की बात सुनना नही ।'

अत रोहिणेय जब भी इस मार्ग से गुजरता था तब अपने कानो मे अँगुलियाँ डालकर शीघ्रता से निकल जाया करता था ।

सयोग की बात है कि एक दिन उधर से निकलते समय रोहिणेय के पैर मे काँटा चुभ गया । बडी पीडा हुई । काँटा निकालने के लिए उसने एक हाथ अपने कान पर से हटाया, काँटा निकाला और आगे बढ गया ।

किन्तु उतने अल्प समय मे ही उसके कान मे भगवान के वचन पडे—"देवताओ के गले की माला कभी मुरझाती नही । उनके पलक कभी झपकते नही । उनके शरीर पर पसीना इत्यादि जमता नही ।"

रोहिणेय ने इतनी बात सुनी, सोचा कि कोई विशेष बात नही, और आगे बढ गया ।

राज्य मे चोरियाँ होती रही। सभी जानते थे कि चोर कौन है, किन्तु प्रमाण नही मिलता था। यह क्रम चलता रहा और अभयकुमार गम्भीर विचार करता रहा।

आखिर उसने एक युक्ति खोज ही निकाली। रोहिणेय को अपने महल मे बुलाकर कहा—

"तुम्हारा नाम क्या है ? तुम क्या काम करते हो ? कहाँ रहते हो ?"

रोहिणेय ने उत्तर दिया—

"मन्त्रीश्वर ! गरीब आदमी का क्या नाम और क्या धाम ? जो चाहे सो कह लीजिए। वैसे लोग मुझे दुर्गचन्ड कहते है और मैं शालिग्राम नामक समीप के ही एक ग्राम मे पडा रहता हूँ। कभी-कभी इस नगर मे आ जाता हूँ और बुद्धि के अनुसार परिश्रम करके अपना पेट भर लेता हूँ।"

चतुर मन्त्रीश्वर को चतुर चोर से पाला पडा था। मन ही मन वे मुस्कराते रहे और फिर बोले—

"अच्छा दुर्गचन्ड ! आज तुम मेरा ही आतिथ्य स्वीकार करो।"

रोहिणेय ने सोचा—नेकी और पूछ-पूछ। आनन्द रहेगा। मन्त्रीश्वर का आतिथ्य भी ग्रहण करूँगा और जाते-जाते इन्हे कुछ प्रसाद भी देता जाऊँगा। उसने स्वीकार कर लिया।

मन्त्रीश्वर अभय ने रोहिणेय की खातिर मे कोई कसर उठा नही रखी। उत्तम, सुस्वादु, मधुर मदिरा उसे इतनी पिला दी कि वह अपना सारा भान भूल बैठा। मस्त होकर गहरी नीद मे सो गया।

अब अभयकुमार ने अपनी चतुराई दिखानी आरम्भ की। सोते हुए रोहिणेय को उठाकर एक आलीशान सतखण्डे महल मे ले जाया गया। इस महल की शोभा और सज्जा इन्द्र के महलो जैसी थी। देवागनाओ जैसी रूपसी दासियो की स्पर्धा मे जगर-मगर करते उस महल मे जब रोहिणेय की आँख खुली तब चकित विस्मित-हतप्रभ रह गया। वह सोचने लगा—मैं इस देवलोक मे कब और कैसे आ गया ? ये सारी देवियाँ मेरी सेवा मे कब उपस्थित हो गई ?

रोहिणेय को जागा हुआ देखकर देवियाँ [illegible] करने लगी। कोई चरण दबाने लगी, कोई पंखा डुलाने लगी [illegible] सुनाने लगी, कोई नृत्य दिखाने लगी और कोई अपने चचल [illegible] शरो से बीधने लगी [illegible]।

उस समय एक देव प्रतिहार स्वर्ण-दण्ड हाथ मे लिए [illegible] और पर्यक पर आराम से लेटे हुए रोहिणेय से बोला—

"हे देव ! इस देवलोक मे आपका स्वागत है। [illegible] आप देवता बने है। इस देवलोक की परिपाटी के अनुसार [illegible] पाप-पुण्य का वर्णन एक-बार करने की कृपा कीजिए और [illegible]— इस देवलोक मे इन देवियो के साथ यथेच्छ विहार कीजिए। [illegible] शीघ्र ही आपसे भेट करेगे।"

विलक्षण बुद्धि वाले मन्त्री अभयकुमार की यह चाल [illegible] वाली थी और रोहिणेय अपने विगत जन्म का लेखा-जोखा [illegible] कि उसे महावीर का वचन याद आया—देवताओ के गले की माला [illegible] मुरझाती नही, उनके पलक कभी झपकते नही . . . ।

और रोहिणेय सावधान हो गया। उसने देखा कि इन देवियो के पलक तो झपक रहे हैं . . . ।

वह सब कुछ समझ गया। जान गया कि यह सारा इन्द्रजाल उस अद्भुत बुद्धि वाले मन्त्री का ही रचा हुआ है। मैं पकड मे आ ही गया था, किन्तु भगवान के वे थोड़े से वचन जोकि मेरे कानो मे अकस्मात् पड गए थे, आज मेरे रक्षक सिद्ध हुए।

मुस्कराते हुए रोहिणेय ने मन्त्रीश्वर को अपना प्रणाम कहलवाया और प्रार्थना की कि गरीब दुर्गचन्ड को शालिग्राम जाने की आज्ञा मिले।

भगवान की कृपा के सामने चतुर मन्त्रीश्वर हार गए। वे चाहते थे, उनकी योजना थी कि भुलावे मे पडकर रोहिणेय अपने ही मुख से अपना अपराध स्वीकार करले ताकि उसे समुचित दण्ड दिया जा सके। किन्तु वैसा नही हुआ।

निदान प्रमाण के अभाव मे रोहिणेय को दण्ड नही दिया जा सकता था। वह मुक्त कर दिया गया।

किन्तु अब रोहिणेय का हृदय परिवर्तित हो गया था। भगवान की कृपा-किरण ने उसके आत्मलोक को प्रकाशित कर दिया था। अन्धकार से वह प्रकाश मे लौट आया था। अत स्वेच्छा से वह सम्राट श्रेणिक की सेवा मे उपस्थित होकर हाथ जोडकर बोला—

"सम्राट! मुझे अपने द्वारा किए हुए कुकर्मो के लिए आज आन्तरिक पश्चात्ताप है। मैं स्वयं ही अपने पाप-कर्म का दण्ड प्राप्त करने के लिए आपकी सेवा मे उपस्थित हुआ हूँ। आप मेरे विरुद्ध कोई प्रमाण प्राप्त नही कर सके, कभी कर भी नही सकते थे। किन्तु, प्रभु! मैं चोर हूँ। समीप ही वैभार गिरि की कन्दराओ मे मेरे द्वारा चुराई गई सारी सम्पत्ति सुरक्षित पडी है। उसे मँगा लीजिए। मुझे अब उसकी कोई आवश्यकता नही। मेरे पिता ने मृत्यु से पूर्व मुझे शिक्षा दी थी कि किसी साधु की बात कभी मत सुनना। किन्तु मेरे पुण्योदय मे एक बार भगवान महावीर का वचन मेरे कानो मे पड गया था और आज उसी वचन ने मेरे प्राणो की रक्षा कर ली।

प्राणो की रक्षा ही क्या, मेरी आत्मा को ही उन वचनो ने उबार लिया है। सम्राट! जिनके वचन मात्र इतने पुण्यकारक हैं, उन्ही की शरण मे अब मुझे जाना है। स्वीकार करता हूँ कि मेरा ही नाम रोहिणेय है, मुझे दण्ड दीजिए, मै चोर हूँ।"

सम्राट श्रेणिक ने कहा—

"तुम चोर नही हो। कभी रहे होगे। जाओ तुम मुक्त हो।"



८

यह सुख-दुःख का द्वार

किसी आदमी के पास एक थी गाय और एक थी भेड । दोनो की सार-सम्हाल वह भली प्रकार से करता था । समय पर उन्हे चारा आदि डालता और समय पर ही पानी पिलाने का भी ध्यान रखता । समय आने पर गाय ने एक वछडे को जन्म दिया और भेड ने एक मेमने को ।

धीरे-धीरे वछडा और मेमना वडे होने लगे । लेकिन उनके मालिक को जितनी चिन्ता मेमने की रहती थी, उतनी वछडे की नही । मेमने के प्रति उसका कुछ विशेष ही लगाव और पक्षपात था । फलत अच्छे पौष्टिक आहार मिलने तथा विशेष सार-सम्हाल होने के कारण मेमना बहुत जल्दी ही हृष्ट-पुष्ट होने लगा । वछडा वेचारा अपनी वडी-वडी आँखो से यह सारा दृश्य देखता, मन मार कर रह जाता और मेमने से ईर्ष्या करता किन्तु जानवर था, विवश था, अपने मालिक का वह क्या विगाड सकता था ?

वछडे को अपने प्रति मालिक के इस उपेक्षा भाव से इतना दु ख और मेमने के प्रति ईर्ष्या हुई कि धीरे-धीरे उसने अपनी माँ का दूध पीना भी छोड दिया । इससे गाय को वडा आश्चर्य हुआ । उसने अपने वेटे से पूछा "क्यो वेटा, तुझे क्या हो गया ? तूने दूध पीना क्यो छोड दिया ?

तव वछडे के हृदय मे भरे हुए सारे भाव सहज ही फूट पडे—"माँ ! अपना यह मालिक वडा कृतघ्न निकला । तुम इसे अमृत के समान मधुर

दूध देती हो। इस परोपकार को करते हुए तुम्हारा बच्चा भी भूखा रह जाता है। तुम्हारी अन्य सन्तान खेती-बाडी मे इसके काम आती है। अथक परिश्रम करती है। शायद ही कोई अन्य ऐसा पालतू पशु हो, जो मानव जाति की इतनी सेवा करता हो। किन्तु फिर भी अपना यह मालिक अपने सारे उपकार को भुलाकर उस भेड के बच्चे की ओर पक्षपात करता है। हमे न अच्छा चारा मिलता है, न स्वच्छ स्थान। दूसरी ओर जरा देख तो सही, उस भेड के बच्चे की वह कैसी देखरेख करता है ? उसे कितना अच्छा खाना देता है ? उसके रहने के स्थान को कैसा स्वच्छ रखता है ?

"माँ ! तू ही बता, यह मेमना उस मालिक के किस काम आने वाला है ? यह भेड का पिल्ला इसकी क्या सेवा करने वाला है। यह तो पूर्णत निरुद्यमी, निरुपयोगी और व्यर्थ है। फिर भी आवभगत होगी तो उसी आलसी की। उसे खाने के लिए ओदन दिया जायगा, हरी-हरी कोमल घास उसे खिलाई जायगी। उसे इतना प्यार किया जायगा जैसे वह मालिक का अपना ही बच्चा हो। भला यह अन्याय नही है क्या ?"

गाय समझदार थी, सरल ओर सन्तोषी जीव थी। अपने बेटे की ये रोष भरी बाते सुनकर उसने उसे समझाया—"बेटा ! दूसरे का सुख देखकर ईर्ष्या करना अच्छा नही। यह तो ससार है। इस संसार मे न जाने कितने अकर्मण्य जीव मजे मे सुख का भोग कर रहे है, ओर न जाने कितने कर्मशील जीव दु ख ही पाते रहते है। बेटा, हमे तो सन्तोष रखना चाहिए। हम जैसे भी हो, जिस स्थिति मे भी हो, चुपचाप अपना काम करते चलना चाहिए। दूसरो के सुख को देखकर जलना नही चाहिए और दूसरो के दु ख को देखकर प्रसन्न भी नही होना चाहिए। अपने हाल मे ही मग्न रहना चाहिए।"

"और बेटा, ध्यान से सुन, तू नही जानता कि इस मेमने की इतनी सेवा-टहल क्यो हो रही है। तू अभी दुनियाँ मे आया है, सब कुछ धीरे-धीरे समझ जायगा। इस मेमने को जो खिला-पिला कर मोटा-ताजा किया जा रहा है, इसका रहस्य तुझे थोडे दिन मे आने वाले एक पर्व के अवसर पर समझ मे आ जायगा।"

पर्व का दिन भी आ पहुँचा। मालिक के घर मे मेहमान आए। उत्सव की तैयारियाँ होने लगी। मेमने को सजाकर आँगन मे खडा किया गया। उसके पास नगी लपलपाती तलवार लिए एक आदमी खडा था। वह तलवार देखकर भयभीत मेमना "मे - मे" करके चिल्लाने लगा। किन्तु उसकी चिल्लाहट को किसी ने नही सुना। उसकी यही नियति थी कि एक दिन उसे वलि होकर उन माँसभक्षी मनुष्यो के उदरो मे समा जाना था।

वछडा भी तलवार देखकर भयभीत होकर अपनी माँ से चिपट गया था। किन्तु गाय ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा—

"वेटा ! तू मत घवरा। यह तलवार अपने लिए नही है। यह तो उस मेमने के ही लिए है, जोकि अव तक सुख-भोगो मे लिप्त था। अनर्गल सुख की लालसा और भोग ही प्राणी को मृत्यु को समीप खीच लाते है। अव तो तेरी समझ मे आ ही गया होगा कि क्यो उस मेमने की इतनी आव-भगत होती थी ?"

मनुष्य को अति सुख और अति भोग से सदैव वचते रहना चाहिए। अन्ततोगत्वा वे दुःख के ही कारण वनते है। इसके विपरीत जो सरल प्रकृति जन संयम से रहते है, सन्तोष धारण करते है तथा जैसी भी परिस्थिति हो, उसी मे अपनी गुजर करते चलते है, उन्हे कभी निराश नही होना पडता और वे दुःख के नरक से भी वच जाते है।

—उत्तराध्ययन



९

फिर क्या हुआ ?

एक बार भगवान महावीर चौदह हजार साधुओ सहित राजगृह नगर मे पधार कर गुणशील नामक चैत्य मे विराजे। राजा श्रेणिक परिषद् सहित उनके दर्शन करने गया। धर्मोपदेश सुनने के बाद परिषद् लौट गई।

उस काल की एक घटना है। सौधर्मकल्प मे, दर्दुरावतंसक विमान मे, सुधर्मा नामक सभा मे, दर्दुर नामक सिंहासन पर दर्दुर नामक देव चार हजार सामानिक देवो, चार अग्रमहिषियो और तीन परिषदो, अर्थात् अपने सम्पूर्ण परिवार सहित दिव्य भोगोपभोग करता हुआ रहता था।

वह देव अवधिज्ञानी था ही। अपने विपुल अवधिज्ञान से इस सम्पूर्ण जम्बूद्वीप को देखते-देखते उसने राजगृह नगर मे, गुणशील चैत्य मे भगवन महावीर को देखा। उसकी इच्छा भगवान के दर्शन करने की हुई। अत वह अपने परिवार सहित भगवान के पास आया और सूर्याभदेव के समान नाट्य विधि दिखाकर वापस लौट गया।

कुछ समय बाद गोतम स्वामी ने भगवान से प्रश्न किया—

"हे भगवान्! यह दर्दुरदेव महा ऋद्धिवान है। किन्तु उस देव की विक्रिया की हुई वह दिव्य देव-ऋद्धि कहाँ चली गई? वह कहाँ समा गई?"

भगवान ने उत्तर दिया—

"हे गौतम ! वह ऋद्धि शरीर मे समा गई । क्या तुम्हे कूटागार का दृष्टान्त ज्ञात नही है ? देखो एक कूट (शिखर) के आकार की शाला थी । वह वाहर से गुप्त थी किन्तु भीतर से अत्यन्त विशाल थी । उसके चारो ओर कोट था । वह इतनी सुरक्षित थी कि उसमे वायु का प्रवेश भी नही हो सकता था । उसके समीप ही वडा जन-समूह रहता था । एक वार वहुत जोर से वादल उमडे ओर तूफान आया । ऐसी विषम परिस्थिति मे वह सारा जन-समूह उस शाला मे घुस गया और निर्भय हो गया ।

इस प्रकार जैसे वे सव लोग उस शाला मे समा गए उसी प्रकार वह देवऋद्धि भी देव शरीर मे समा गई ।"

गोतम स्वामी इस उत्तर से सन्तुष्ट हो गए । किन्तु उनके मन मे एक और जिज्ञासा जागी । उन्होने भगवान से पूछा—

"हे भगवन् ! दर्दुर देव ने वह देव-ऋद्धि किस प्रकार की साधना द्वारा प्राप्त की ?"

केवलज्ञानी भगवान ने गौतम स्वामी की उस जिज्ञासा को भी शान्त करने के उद्देश्य से वह सारी कथा उन्हे सुनाई—

"हे गौतम ! इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र मे राजगृह नामक एक समृद्ध नगर था । उस नगर का राजा उस समय श्रेणिक था । उस नगर मे नन्द नामक एक मणिकार सेठ रहता था ।

एक वार अनुक्रम से विचरण करते हुए मैं उस नगर मे आया । वहाँ जाकर मैं गुणशील चैत्य मे ठहरा ।

अन्य लोगो के साथ वह मणिकार नन्द भी मेरे दर्शन करने आया । धर्मोपदेश सुनकर वह श्रमणोपासक हो गया । कुछ समय पश्चात् मै राजगृह त्याग कर जनपद मे विचरण करने लगा ।

मनुष्य का स्वभाव ऐसा है गौतम ! कि यदि वह किसी कार्य को निरन्तर न करता रहे, अथवा किसी जानी हुई वात का स्मरण निरन्तर न करता रहे तो कुछ समय पश्चात् वह उसे भूल जाता है । नन्द मणिकार के साथ भी ऐसा ही हुआ । मेरे चले जाने के वाद वहुत समय तक उसे साधु

दर्शन का लाभ प्राप्त नही हुआ। उपदेश सुनने से भी वह वचित रहा। परिणाम यह हुआ कि उसकी रुचि बदल गई। रुचि बदल जाने से उसके सम्यक्त्व के पर्यायो की हीनता होती चली गई और मिथ्यात्व के पर्याय बढते चले गए। होते-होते एक दिन ऐसा भी आया कि वह पूर्ण रूप से मिथ्यात्वी हो गया।

एक बार उसने तेला व्रत ग्रहण किया। ग्रीष्म ऋतु थी, ज्येष्ठ का महीना था। व्रत ग्रहण करके वह पोपधशाला मे विचरण करने लगा।

अब हुआ यह कि जब उसका व्रत पूर्ण होने को था, तभी वह भूख और प्यास से बहुत पीडित हुआ। उस पीडा के परिणामस्वरूप उसके मन मे यह विचार आया—वे सार्थवाह आदि धन्य है, भाग्यवान है, जिनकी राजगृह नगर से बाहर बहुत-सी बावडियाँ, पुष्करिणियाँ अथवा सरोवरो की पक्तियाँ है। उनसे बहुत से लोगो को सुख मिलता है। लोग उनके जल से स्नान करते है, पानी पीते है—और अपने शरीर का ताप मिटाते है। अत मै भी कल प्रभात होने पर राजा से आज्ञा लेकर नगर से बाहर एक सुन्दर पुष्करिणी बनवाऊंगा।

यह विचार करते-करते नन्द मणिकार ने मन ही मन अपनी पुष्करिणी के लिए स्थान का निश्चय भी कर लिया। उसने तय किया कि वह उत्तर-पूर्व दिशा मे, वैभार पर्वत के समीप ही अपनी पुष्करिणी बनावाएगा। उस पुष्करिणी का छोटा-सा सुन्दर-सा नाम वह रखेगा—नन्दा।

वह दिन समाप्त हुआ। उसका पौपध व्रत पूर्ण हुआ। स्नानादि से निवृत्त होकर उसने राजा के लिए कुछ बहुमूल्य उपहार लिए और उनकी सेवा मे पहुँचा। राजा को उपहार समर्पित कर उसने अपनी अभिलाषा प्रकट की—

'हे राजन्! मै आपकी आज्ञा पाकर नगर से बाहर एक पुष्करिणी खुदवाना चाहता हूँ।"

राजा को इस शुभ कार्य मे भला क्या आपत्ति हो सकती थी? नन्द मणिकार की प्रार्थना स्वीकार करते हुए उसने कहा—

"नन्द ! तुम्हारा विचार शुभ है । मेरी ओर से तुम्हें [illegible] है

राजा से आज्ञा प्राप्त हो जाने पर शुभ मुहूर्त मे [illegible] के ज्ञाताओ द्वारा चुनी गई भूमि मे मगन विधि-विधान पूर्वक पुष्करिणी के खोदे जाने का कार्य आरम्भ हो गया ।

धीरे-धीरे पुष्करिणी वनकर पूर्ण भी हो गई । उसके चारो ओर [illegible] कोटा भी वना दिया गया । उसका जल बड़ा शीतल और मधुर [illegible] ही समय मे उस वापी मे अनेक प्रकार के कमल भी खिल आए ।

अव उस वापी की शोभा देखते ही वनती थी । कमल पुष्पो के [illegible] से उस वापी का जल सदैव सुगन्धित रहने लगा । [illegible] अनेक पक्षियो के मधुर कलरव से वह वापी गुजायमान रहने लगा । [illegible] हारा-थका व्यक्ति वहाँ पहुँच जाता वह कुछ ही क्षणो मे स्वस्थ [illegible] आनन्द मे मग्न हो जाता ।

हे गौतम ! वह नन्द मणिकार अपनी धुन का पक्का था । उसे [illegible] वापी खुदवा कर ही सन्तोष नही हुआ । अव उसने वापी के चारो ओर चारो दिशाओ मे चार सुन्दर वन खण्ड रुपवाए । निरन्तर उन वन खण्डो की देख-रेख तथा सार-सम्हाल करने के कारण वे धीरे-धीरे अत्यन्त मनोरम, सघन, हरे-भरे हो गए । अनेक प्रकार के फूल और फल उनमे लगने लगे ।

इतना सव हो जाने पर नन्द मणिकार ने अपनी प्रिय 'नन्दा' नामक वापी को और भी अधिक सुसज्जित तथा आरामदेह वनाने का विचार किया । इस निश्चय के अनुसार उसने पूर्व दिशा के वनखण्ड मे एक विशाल चित्रसभा का निर्माण कराया । कई सौ खम्भो पर टिकी हुई वह विशाल चित्रसभा अत्यन्त मनोहर और भव्य वन गई । वहुमूल्य रेशमी वस्त्रो के परदे स्थान-स्थान पर लगाए गए । कला को प्रदर्शित करते हुए अनेक चित्रो से उसे सजाया गया ।

उसके वाद चित्रसभा मे अनेक सुखद आसन विछवाए गए । लोग आते, वापी का शीतल और मधुर जल पीते, चित्रसभा मे आकर विश्राम करते और आनन्द मनाते ।

दर्शन का लाभ प्राप्त नही हुआ। उपदेश सुनने से भी वह वञ्चित रहा। परिणाम यह हुआ कि उसकी रुचि वदल गई। रुचि वदल जाने से उसके सम्यक्त्व के पर्यायो की हीनता होती चली गई और मिथ्यात्व के पर्याय वढते चले गए। होते-होते एक दिन ऐसा भी आया कि वह पूर्ण रूप से मिथ्यात्वी हो गया।

एक वार उसने तेला व्रत ग्रहण किया। ग्रीष्म ऋतु थी, ज्येष्ठ का महीना था। व्रत ग्रहण करके वह पौपधशाला में विचरण करने लगा।

अव हुआ यह कि जव उसका व्रत पूर्ण होने को था, तभी वह भूख और प्यास से वहुत पीड़ित हुआ। उस पीडा के परिणामस्वरूप उसके मन मे यह विचार आया—वे सार्थवाह आदि धन्य है, भाग्यवान हे, जिनकी राजगृह नगर से वाहर वहुत-सी वावडियाँ, पुष्करिणियाँ अथवा सरोवरो की पक्तियाँ है। उनसे वहुत से लोगो को सुख मिलता है। लोग उनके जल से स्नान करते है, पानी पीते है—और अपने शरीर का ताप मिटाते हे। अत मैं भी कल प्रभात होने पर राजा से आज्ञा लेकर नगर से वाहर एक सुन्दर पुष्करिणी वनवाऊंगा।

यह विचार करते-करते नन्द मणिकार ने मन ही मन अपनी पुष्करिणी के लिए स्थान का निश्चय भी कर लिया। उसने तय किया कि वह उत्तर-पूर्व दिशा मे, वैभार पर्वत के समीप ही अपनी पुष्करिणी वनावाएगा। उस पुष्करिणी का छोटा-सा सुन्दर-सा नाम वह रखेगा—नन्दा।

वह दिन समाप्त हुआ। उसका पौपध व्रत पूर्ण हुआ। स्नानादि से निवृत्त होकर उसने राजा के लिए कुछ वहुमूल्य उपहार लिए और उनकी सेवा मे पहुँचा। राजा को उपहार समर्पित कर उसने अपनी अभिलापा प्रकट की—

"हे राजन्! मैं आपकी आज्ञा पाकर नगर से वाहर एक पुष्करिणी खुदवाना चाहता हूँ।"

राजा को इस शुभ कार्य मे भला क्या आपत्ति हो सकती थी? नन्द मणिकार की प्रार्थना स्वीकार करते हुए उसने कहा—

"नन्द ! तुम्हारा विचार शुभ है । मेरी ओर से तुम्हे आज्ञा है ।"

राजा से आज्ञा प्राप्त हो जाने पर शुभ मुहूर्त्त मे, शिल्पशास्त्र के ज्ञाताओ द्वारा चुनी गई भूमि मे मंगल विधि-विधान पूर्वक पुष्करिणी के खोदे जाने का कार्य आरम्भ हो गया ।

धीरे-धीरे पुष्करिणी बनकर पूर्ण भी हो गई । उसके चारो ओर पर-कोटा भी बना दिया गया । उसका जल बडा शीतल और मधुर था । थोडे ही समय मे उस वापी मे अनेक प्रकार के कमल भी खिल आए ।

अब उस वापी की शोभा देखते ही बनती थी । कमल-पुष्पो के पराग से उस वापी का जल सदैव सुगन्धित रहने लगा । भ्रमरो की गुँजार तथा अनेक पक्षियो के मधुर कलरव से वह वापी गुंजायमान रहने लगी । जो भी हारा-थका व्यक्ति वहाँ पहुँच जाता वह कुछ ही क्षणो मे स्वस्थ होकर आनन्द मे मग्न हो जाता ।

हे गौतम ! वह नन्द मणिकार अपनी धुन का पक्का था । उसे केवल वापी खुदवा कर ही सन्तोष नही हुआ । अब उसने वापी के चारो ओर चारो दिशाओ मे चार सुन्दर वन खण्ड रुपवाए । निरन्तर उन वन खण्डो की देख-रेख तथा सार-सम्हाल करने के कारण वे धीरे-धीरे अत्यन्त मनोरम, सघन, हरे-भरे हो गए । अनेक प्रकार के फूल और फल उनमे लगने लगे ।

इतना सब हो जाने पर नन्द मणिकार ने अपनी प्रिय 'नन्दा' नामक वापी को और भी अधिक सुसज्जित तथा आरामदेह बनाने का विचार किया । इस निश्चय के अनुसार उसने पूर्व दिशा के वनखण्ड मे एक विशाल चित्रसभा का निर्माण कराया । कई सौ खम्भो पर टिकी हुई वह विशाल चित्रसभा अत्यन्त मनोहर और भव्य बन गई । बहुमूल्य रेशमी वस्त्रो के परदे स्थान-स्थान पर लगाए गए । कला को प्रदर्शित करते हुए अनेक चित्रो से उसे सजाया गया ।

उसके बाद चित्रसभा मे अनेक सुखद आसन बिछवाए गए । लोग आते, वापी का शीतल और मधुर जल पीते, चित्रसभा मे आकर विश्राम करते और आनन्द मनाते ।

नन्द मणिकार ने इसके बाद दक्षिण दिशा मे एक विशाल भोजनशाला बनवाई। जीविका प्रदान करके उसमे अनेक पाक-शास्त्रियो को रख दिया। जो भी दरिद्र, भिखारी, अतिथि अथवा ब्राह्मण उधर आते उन्हे सुस्वादु भोजन भी प्राप्त होने लगा।

हे गोतम, उस नन्द मणिकार ने अपने मन मे यह निश्चय कर लिया था कि जब उसने एक शुभ कार्य आरम्भ कर ही दिया है तो अब उसे पूर्णता तक ले जाएगा। किसी भी प्रकार की कमी न रहने देगा। अत उसने अब पश्चिम दिशा के वनखण्ड मे एक विशाल चिकित्साशाला बनवाई। उसमे उसने अनेक वैद्य रखे। औपधियाँ मँगवाई। इस प्रकार जो भी रोगी व्यक्ति वहाँ आता उसकी नि शुल्क चिकित्सा भी हो जाती ओर वह नन्द मणिकार को आशीर्वाद देता हुआ स्वस्थ होकर अपने घर लौट जाता।

और अन्त मे सेठ की आज्ञा से वापी के उत्तर दिशा के वन-खण्ड मे एक बडी अलकार सभा भी बनवाई गई। उस सभा मे अनेक दीन-दरिद्रो को समुचित अलकार दिए जाते। इस प्रकार उस नन्द मणिकार ने जो कार्य हाथ मे लिया उसे बडे अच्छे रूप मे पूर्ण भी कर दिया।

इस प्रकार प्रतिदिन अनेक लोग उस नन्दा पुष्करिणी मे स्नान करते, वहाँ विश्राम करते, विहार करते, भोजनादि प्राप्त करते, औपधि प्राप्त करते, वस्त्रादि प्राप्त करते ओर आनन्द मनाते।

इस सत्कार्य की चारो ओर प्रशंसा होने लगी। लोग नन्द मणिकार का साधुवाद करते और उसे 'धन्य-धन्य' कहते, आशीर्वाद देते।

इस प्रकार राजगृह नगर की गली-गली मे उस नन्द मणिकार की जय-जयकार होने लगी।

नन्द मणिकार भी अपने श्रम ओर सम्पत्ति का यह सदुपयोग कर बहुत सन्तुष्ट हुआ।"

इतनी कथा सुनने के बाद गौतम स्वामी की जिज्ञासा बढ गई थी। वे जानना चाहते थे कि इसके बाद क्या हुआ होगा? अत उन्होने भगवान से कहा—

"हे भगवान् ! यह कथा तो बडी रोचक है इसके बाद उस नन्द मणिकार ने क्या किया होगा ?"

भगवान ने गौतम स्वामी को फरमाया—"गौतम ! उसके आगे का वृत्तान्त ही तो इस कथा का मुख्य बिन्दु है। उसे ध्यान से सुनो। बापी का कार्य पूर्ण हो जाने के बाद नन्द मणिकार का जीवन सुख से व्यतीत होने लगा। किन्तु, हे गौतम, समय कभी एक समान नही रहता। काल-चक्र चलता ही रहता है और उसमे उतार-चढाव आते ही रहते है।

हुआ यह कि कुछ समय बाद नन्द मणिकार अस्वस्थ हो गया। उसके शरीर मे सोलह रोगातक अर्थात् ज्वर आदि रोग और शूल आदि आतक उत्पन्न हुए। वह पीडित हो गया। उसे श्वास, खाँसी, ज्वर, दाह, कुक्षिशूल आदि हो गए। सक्षेप में, उसका शरीर सभी प्रकारो के रोगो का घर बन गया। यहाँ तक कि वह कोढ से भी ग्रसित हो गया।

वे रोग गहरे और असाध्य थे। कोई आशा नही थी कि वह नीरोग हो सकेगा। फिर भी उसने अपने कौटुम्बिक पुरुषो को बुलाकर कहा—

"सारे नगर मे घोषणा करा दो कि जो भी वैद्य नन्द मणिकार के एक भी रोग को दूर कर देगा उसे विपुल धनराशि प्रदान की जायगी।"

घोषणा हो गई। मणिकार नगर मे जनता का प्रिय था। उसके सत्कर्मो के कारण सब उसका आदर करते थे। अत' उसकी पीडा का समाचार जानकर अनेक वैद्य और चिकित्सक स्वेच्छा से ही उसके रोग को शान्त करने का उपाय करने के लिए दौडे आए।

अनेक प्रकार के उपचार अनेक वैद्यो द्वारा किए गए। कुछ भी उठा न रखा गया। किन्तु किसी भी उपचार से रोगी की पीडा शान्त नही हुई।

"हे भगवान ! क्या इतने उपचार द्वारा भी उस नन्द मणिकार का तनिक भी रोग शान्त नही हो सका ?"—गौतम स्वामी ने पूछा।

"कर्मो की शक्ति के आगे मनुष्य का प्रयत्न निष्फल रहता है, गौतम ! नन्द मणिकार को अपने पूर्वकृत कर्मो का फल भोगना ही था। अत सभी प्रकार के उपचारो के उपरान्त भी उसका एक भी रोग शान्त नही हुआ। वैद्य निराश हो गए और अपने-अपने स्थान को लौट गए।

इसके बाद उन सोलह रोगातको से अभिभूत हुआ नन्द मणिकार उस 'नन्दा' नामक पुष्करिणी मे अतीव मूर्च्छित हुआ। इस कारण तिर्यञ्च योनि सम्बन्धी आयु का बन्ध करके, आर्तध्यान के वशीभूत होकर, मृत्यु के समय काल करके वह उसी वापी मे एक मेढकी की कूख मे एक मेढक के रूप मे उत्पन्न हुआ।

धीरे-धीरे जन्म लेकर, बाल्यावस्था से मुक्त होकर, यौवन को प्राप्त करके वह उस वापी मे रमण करने लगा। मैने तुम्हे पहिले ही बताया है कि उस वापी मे प्रतिदिन अनेक लोग आकर स्नानादि किया करते थे। वे लोग जब वहाँ आते तो आपस मे वार्तालाप किया करते थे—

"अहा! कितनी सुन्दर वापी है। इसका निर्माण कराने वाला नन्द मणिकार धन्य था। उसका जीवन सफल हुआ। लोगो के सुख के लिए उसने कितना त्याग किया।"

इसी प्रकार की अनेक बाते प्रतिदिन वहाँ आने वाले लोग किया करते थे। बार-बार इन बातो को मुख से सुनकर उस मेढक को विचार हुआ—जान पडता है मैने इस प्रकार के वचन पहिले भी कभी सुने है।

इस प्रकार निरन्तर विचार करने से, शुभ परिणाम के कारण उस मेढक को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। और वह ज्ञान उत्पन्न होने के कारण उसे अपना पूर्व भव अच्छी तरह याद हो आया। तब उसने विचार किया—हाय! मैं इसी राजगृही नगरी मे नन्द मणिकार था। मैने भगवान महावीर से पाँच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत ग्रहण किये थे। यह मेरा परम सौभाग्य था। किन्तु कुछ समय तक साधु-दर्शन न पाने से मैं भटक गया था, भूल गया था और मिथ्यात्वी हो गया था। किसी अशुभ कर्म के परिणामस्वरूप ही ऐसा हुआ था। इसके बाद मैने यह 'नन्दा' नाम की पुष्करिणी बनवाई और अन्त समय मे इसके प्रति अत्यन्त आसक्ति के कारण मैं इसी मे मेढक के रूप मे उत्पन्न हुआ। हाय! यह बहुत बुरा हुआ। मैं अधन्य हूँ, अपुण्य हूँ, क्योंकि मै निर्ग्रन्थ प्रवचन से भ्रष्ट हुआ।"

यह विचार मन मे उदित होने के बाद उस मेढक ने निश्चय किया—मुझे फिर से पहिले अगीकार किए हुए पाँच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत ग्रहण करने चाहिए। इनका दृढता से पालन करना चाहिए। तब निश्चय

के अनुसार उसने उन व्रतो को पुन अंगीकार किया। साथ ही उसने यह अभिगह भी धारण किया कि आज से मृत्यु पर्यन्त मुझे वेले-वेले की तपस्या से आत्मा को भावित करते हुए विचरना कल्पता है।

देखो गौतम ! जब शुभ कर्मों का उदय होता है तो जीव स्वयं ही कल्याण के पथ पर आगे बढता है। उस मेढक ने अब व्रत ग्रहण कर लिए और अभिगह धारण करके वह रहने लगा। यही से उसके विकास और भावी ऋद्धि का सूत्रपात होता है।

एक बार अनुक्रम से विचरता हुआ मैं पुनः राजगृह आया। गुणशील चैत्य मे ही ठहरा। वन्दना करने के लिए परिषद् निकली। तुम जानते ही हो कि उस 'नन्दा' पुष्करिणो मे प्रतिदिन अनेक लोग आते थे। उस समय भी जो लोग वहाँ पर गए हुए थे उन्होने आपस मे बातचीत की—

'अहा ! इस नगरी का पुण्योदय हुआ है। स्वय भगवान महावीर यहाँ पधारे है। चलो, शीघ्र चलो। हम भी भगवान के दर्शन का पुण्य लाभ ले ले। हमारा यह भव और परभव इस पुण्य से शुभ हो जायगा।'

लोगो के मुख से यह समाचार सुनकर उस मेंढक ने भी निश्चय किया—अहा ! निश्चय ही श्रमण भगवान महावीर पधारे है। तब मै भी क्यो न जाकर भगवान की वन्दना करूँ ?

वह मेढक उस वापी से निकलकर भगवान के दर्शनो की अभिलाषा और उत्कंठा अपने हृदय मे धारण किए हुए राजमार्ग पर आया और गुण-शील उद्यान की ओर चल पडा।

उधर राजा श्रेणिक भी मेरी वन्दना करने के लिए अनेक लोगो के साथ अपने महल से निकलकर राजमार्ग से होता हुआ चला आ रहा था। संयोग की बात है गौतम, कि राजा के अश्व के खुरो से वह मेढक कुचल गया। उसकी आँतें बाहर निकल आई।

अब वह मेढक बिलकुल अशक्त हो गया। उसके जीवन की आशा न रही। यह देखकर वह किसी प्रकार मार्ग से एक ओर हट गया। वहाँ अपने दोनो हाथ जोडकर, तीन बार मस्तक पर आवर्तन करके, मस्तक पर अजलि करके वह इस प्रकार बोला—

'अरिहन्त भगवान को नमस्कार हो। निर्वाण प्राप्त समस्त सिद्धों को नमस्कार हो। मेरे धर्माचार्य मोक्ष प्राप्ति के इच्छुक श्रमण भगवान महावीर को नमस्कार हो। पहिले भी मैंने भगवान के समीप स्थूल प्राणातिपात का प्रत्याख्यान किया था, स्थूल परिग्रह का प्रत्याख्यान किया था। अब भी मैं उन्ही के निकट समस्त प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूँ।'

'मैं जीवन पर्यन्त के लिए सर्व अशम, पान, स्वादिम और खादिम चारों प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान करता हूँ।'

'यह जो मेरा शरीर है, जो मुझे बहुत इष्ट रहा है, जिसके विषय में मैंने चाहा था कि इसे कोई रोग आदि स्पर्श न करे, इसे भी मैं अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक त्यागता हूँ।'

इस प्रकार हे गौतम! यह कथा अब अपने चरम बिन्दु तक पहुँच गई। इसके बाद क्या हुआ होगा यह क्या तुम विचार नही कर सकते ?—भगवान ने गौतम से पूछा।

गौतम स्वामी ने उत्तर दिया—

"कर सकता हूँ भगवन्! किन्तु आपके श्रीमुख से ही शेष भाग भी सुनना चाहता हूँ।"

"इसके बाद, गौतम! मृत्यु के समय काल करके वह मेढक सौधर्म कल्प में, दर्दुरावतंसक विमान में, उपपात सभा में, दर्दुरदेव के रूप में उत्पन्न हुआ। तुमने पूछा था न कि किस प्रकार यह दिव्य ऋद्धि उसे प्राप्त हुई? अब इस कथा को अन्त तक सुनकर तुम्हारी जिज्ञासा शान्त हो गई न?"

"हाँ भगवन्! मैं जान गया कि किस प्रकार दर्दुरदेव को यह दिव्य देवर्धि प्राप्त हुई। मेरी जिज्ञासा शान्त हुई भगवन्! देवता की एक ही छोटी-सी बात और जानना चाहता हूँ प्रभो! दर्दुरदेव की उस देवलोक में कितनी स्थिति कही गई है?"—गौतम स्वामी ने अन्तिम प्रश्न किया।

भगवान ने बताया—

"हे गौतम ! उसकी स्थिति चार पल्योपम की कही गई है। उसके बाद वह दर्दुरदेव आयु के क्षय से, भव के क्षय से, और स्थिति के क्षय से तुरन्त वहाँ से च्यवन करके महाविदेह क्षेत्र मे सिद्ध होगा, बुद्ध होगा और जन्म-मरण का अन्त करेगा।

हे गौतम ! स्मरण रखो—ममत्व दुर्गति का कारण है। भावशुद्धि से सद्गति की प्राप्ति होती है।"

—ज्ञातासूत्र



१०

प्रश्न और उत्तर

एक बार भगवान महावीर के अन्तेवासी आर्य सुधर्मा नामक स्थविर ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए राजगृह नगर मे पधारे। उनके साथ पॉच सौ अनगार थे। आर्य सुधर्मा स्वामी उच्च जाति से सम्पन्न, उच्च कुल से सम्पन्न, चौदह पूर्वों के वक्ता तथा चार ज्ञानो से युक्त थे। वे राजगृह नगर मे आकर गुणशील चैत्य मे विराज कर संयम और तप द्वारा आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।

सुधर्मा स्वामी की वन्दना करने परिषद् निकली। धर्म का उपदेश श्रवण करने के बाद-परिषद् लौट गई।

परिषद् के लौट जाने पर सुधर्मा स्वामी के अन्तेवासी अनगार जम्बू स्वामी ने एक प्रश्न किया। उस प्रश्न के उत्तर मे सुधर्मा स्वामी ने एक कथा कही—

"उस काल और उस समय मे एक नगर था, राजगृह। वहाँ गुणशील नामक एक चैत्य था। राजा श्रेणिक उस समय वहाँ शासन करता था। वह धार्मिक वृत्ति वाला था और पवित्र जीवन व्यतीत करता था। चेलना नाम की उसकी रानी थी।

उस समय वहाँ पर एक बार भगवान महावीर पधारे। उनकी वन्दना के लिए परिषद् निकली। भगवान ने धर्म का उपदेश दिया।

उसी समय की बात है, चमरचंचा नामक राजधानी मे, काली नामक देवी, कालावतंमक भवन मे काल नामक सिंहासन पर विराजमान थी। वह देवी बडी ऋद्धि सम्पन्न थी। चार हजार सामानिक देवियों, चार महत्तरिका देवियो. परिवार सहित तीनो परिषदो, सात अनीको, सात अनीकाधिपतियो, सोलह हजार आत्मरक्षक देवो तथा उस कालावतंसक भवन के अन्य निवासी असुर कुमार देवो और देवियो के साथ परिवृत्त होकर वह सुखपूर्वक संगीत इत्यादि का आनन्द लेती हुई विचरती थी।

उस समय वह काली देवी अपने अवधिज्ञान द्वारा उस सम्पूर्ण जम्बू द्वीप को देख रही थी। उसने देखा कि इस द्वीप के भरत क्षेत्र मे राजगृह नगर के गुणशील उद्यान मे संयम और तप से अपनी आत्मा को प्रकाशित करते हुए भगवान महावीर विराज रहे है। भगवान की परम मनोहर छवि को देख कर वह अत्यन्त आनन्दित और सन्तुष्ट हुई। उसका चित्त प्रसन्न हो गया, मन-प्रीति से भर गया। वह तुरन्त अपने सिंहासन से उठी, पादपीठ से नीचे उतरी, पादुका उतारकर वह तीर्थंकर भगवान के सम्मुख आठ कदम आगे बढी। फिर उसने बाएँ घुटने को ऊपर रख और दाएँ घुटने को जमीन पर टेक कर मस्तक को कुछ ऊँचा करके, हाथो को जोडकर विधिपूर्वक, विनयपूर्वक इस प्रकार बोली—

'सिद्धि को प्राप्त अरिहन्त भगवन्तो को नमस्कार हो। सिद्धि को प्राप्त करने की इच्छा करने वाले श्रमण भगवान महावीर को नमस्कार हो। यहाँ रही हुई मैं वहाँ स्थित भगवान की वन्दना करती हूँ, भगवान मुझे देखे।'

देवी ने श्रद्धासहित भगवान को वन्दन किया और वन्दन के पश्चात् पूर्व दिशा की ओर मुख करके वह अपने सिंहासन पर विराजमान हो गई।

देवी के मन मे अब तक भगवान की मनोहर छवि तैर रही थी। विचार करते-करते उसके मन मे यह इच्छा हुई कि वह स्वयं भगवान की सेवा मे उपस्थित होकर उनकी वन्दना तथा पर्युपासना करे। शीघ्र ही उसने इस विचार को निर्णय मे बदल दिया और आभियोगिक देवो को बुलाकर आज्ञा दी—

"देवानुप्रियो ! श्रमण भगवान महावीर इस समय राजगृह नगर के गुणशील उद्यान मे विराजमान है। मैं उनकी पर्युपासना करने जाना चाहती हूँ।

"देवी का निर्णय शुभ है।"

"शीघ्र ही दिव्य विमान तैयार करो। विलम्ब न हो।"

आज्ञा का पालन तत्क्षण हुआ। एक हजार योजन के विस्तार वाला दिव्य और श्रेष्ठ विमान प्रस्तुत हुआ। उसमे आसीन होकर देवी भगवान की सेवा मे जा पहुँची। भगवान की वन्दना कर, अपनी ऋद्धि से नाटक रचकर तथा उसे पुन. विलुप्त कर वह अपने स्थान पर लौट गई।

उसके लौट जाने पर गौतम स्वामी ने भगवान से प्रश्न किया—

"हे भगवन् ! काली देवी की वह दिव्य ऋद्धि कहाँ चली गई ?"

भगवान् ने कूटागार का दृष्टान्त देते हुए वताया—

"हे गौतम ! एक कूट (शिखर) के आकार की शाला थी। वह वाहर से दिखाई नहीं देती थी। किन्तु भीतर वह वहुत विस्तृत थी। उसके वाहर हजारों लोग रहते थे। एक वार जव भयानक तूफान आया तो उस जन-समूह ने उस शाला मे शरण ली। सव लोग उसमे समा गए। जिस प्रकार उस शाला मे वे सव लोग समा गए, उसी प्रकार वह देव-ऋद्धि देव-शरीर मे समा गई।"

इस प्रश्न का उत्तर पाकर गौतम स्वामी ने दूसरा प्रश्न किया—

"हे भगवान् ! काली देवी वडी ऋद्धि वाली है। उन्हे यह ऋद्धि किस प्रकार प्राप्त हुई ? उसने पूर्वभव मे ऐसा क्या पुण्य कार्य किया था ?"

तव भगवान ने काली देवी के पूर्वभव की कथा सुनाई—

"हे गौतम ! किसी समय इस जम्बूद्वीप मे, भारतवर्ष मे आम्रकल्पा नाम की एक नगरी थी। वह नगरी इतनी सुन्दर, इतनी विशाल, इतनी श्री-सम्पन्न थी कि देवता भी उस नगरी मे आकर रहने की इच्छा करते थे। उस नगर के वाहर ईशान कोण मे एक वन और एक चैत्य था। उस वन का नाम था आम्रशाल वन। उस समय उस नगरी मे जितशत्रु नामक राजा राज्य करता था।

"उसी समय उस नगरी मे काल नामक एक गाथापति (गृहस्थ) रहता था। वह अत्यन्त धनाड्य था। धन-सम्पत्ति के विषय मे उसकी समता करने वाला कोई व्यक्ति उस नगरी मे नही था। उस गृहस्थ की पत्नी का नाम कालश्री था। वह अत्यन्त रूपवती थी।

काल तथा कालश्री के काली नाम की एक कन्या थी। वह आयु मे वहुत वडी हो गई थी किन्तु अविवाहित ही रह गई थी। वृद्धा के समान वह दीखने लगी थी, अत कोई पुरुष उससे विवाह करने के लिए तैयार नहीं होता था।

उस समय अरिहन्त भगवान पार्श्वनाथ सोलह हजार साधुओ तथा अडतीस हजार साध्वियो सहित आम्रशाल वन मे पधारे। उनके आगमन का सुसवाद सुनकर परिषद् निकली।

काली ने भी यह सुसंवाद सुना। वह वडी प्रसन्न हुई और अपने माता-पिता की आज्ञा लेकर वह भी भगवान के दर्शन के लिए गई।

भगवान का धर्मोपदेश भव्य जीवो के लिए अमृत वर्षा के समान था। काली ने वह उपदेश सुना और उसे अपने हृदय मे धारण कर लिया। उसका मन वैराग्य के रंग मे रग गया। तीन बार भगवान की वन्दना कर उसने प्रार्थना की—

"हे भगवन्! आपके उपदेश को सुनकर मेरी आत्मा पुलकित हो गई है। आत्मकल्याण का मार्ग मेरे सामने खुल गया है। मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करती हूँ। आपने जैसा कहा है वही सत्य है। अपने माता-पिता की आज्ञा लेकर मै आपके समक्ष प्रव्रज्या अगीकार करना चाहती हूँ।"

"जैसा सुख उपजे, वैसा करो।"—भगवान ने मधुर वचन कहे।

काली आनन्दित हो गई। घर लौट कर उसने अपने माता-पिता से कहा—

"हे माता-पिता! मैंने भगवान पार्श्वनाथ का उपदेश सुना है। वह धर्म कैसा श्रेष्ठ है। मुझे वह धर्म रुचा है, और मैं उसे प्राप्त करना चाहती हूँ। मुझे उस धर्म मे ही शरण प्रतीत होती है। यह ससार असार है। वार-

बार जन्म-मरण का चक्र भयानक है। अत मैं आपकी आज्ञा से भगवान की शरण मे जाकर प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहती हूँ।"

पुत्री की तीव्र इच्छा जानकर, उसके कल्याण के लिए माता-पिता ने उसे सहर्ष अनुमति प्रदान कर दी।

प्रत्येक प्रकार से काली के शरीर को स्वच्छ व शुद्ध करके, शुद्ध वस्त्र पहिनाकर, धूमधाम के साथ काल तथा कालश्री भगवान के समीप पहुँचे और निवेदन किया—

"प्रभो! यह हमारी पुत्री आपकी शरण मे आना चाहती है। इसे स्वीकार करे।"

भगवान ने कहा—

"धर्म ही प्राणी की शरण है। शुभ कार्य मे विलम्ब से कोई लाभ नहीं।"

भगवान ने काली को पुष्पचूला आर्या को शिष्यनी के रूप मे प्रदान किया। आर्या ने उसे दीक्षित किया।

अब काली कुमारी प्रव्रजित होकर विचरने लगी।

समय व्यतीत होता गया। एक समय ऐसा भी आया जब काली आर्या शरीर को साफ-सुथरा रखने वाली हो गई। वह बार-बार पानी से अपने हाथ, पैर, मुख आदि को धोती। इसी प्रकार वह जिस स्थान पर कायोत्सर्ग, शयन अथवा स्वाध्याय करती, उस स्थान को भी पहले जल छिड़क कर शुद्ध करती फिर वहाँ बैठती।

उसकी यह प्रवृत्ति देखकर पुष्पचूला आर्या ने उसे समझाया—

"देवानुप्रिये! श्रमणी निग्रन्थियो को इस प्रकार जल का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यह अनुचित है और धर्म के विरुद्ध है। तुम्हे इसका प्रायश्चित करना चाहिए, आलोचना करनी चाहिए।"

किन्तु काली आर्या ने पुष्पचूला आर्या की बात नहीं मानी और अपना रवैया नहीं बदला। परिणामस्वरूप शेष आर्याएँ उसकी अवहेलना करने लगी।

जब बार-बार उसकी अवहेलना की जाने लगी तब काली आर्या ने सोचा—यह कैसा बन्धन है ? मै इन लोगो के बन्धन मे क्यो पड गई ? जब मै गृहवास मे थी तब स्वाधीन थी। अब प्रव्रजित होकर पराधीन हो गई हूँ। उस पराधीनता से तो यही अच्छा है कि मैं अलग, एकान्त उपाश्रय मे रहने लगूँ और स्वतन्त्र रहूँ।

अशुभ कर्मो का उदय होने पर मनुष्य का मन सन्मार्ग से हट जाता है। काली आर्या के साथ भी यही हुआ और अपने निश्चय के अनुसार वह प्रात काल होने पर अलग उपाश्रय मे जाकर रहने लगी। वहाँ वह स्वतन्त्र थी। कोई उसे रोकने वाला नही था। स्वतन्त्रतापूर्वक वह पानी से बार-बार अपने प्रत्येक अंग को धोती, जल छिडक कर स्थान को साफ करती और फिर उस स्थान पर बैठती।

क्रम इसी प्रकार चलता रहा। धीरे-धीरे वह धर्म-कार्य मे शिथिल हो गई। अब वह मनचाहा व्यवहार करने लगी। वह कुशीला, कुशील-विहारिणी और ज्ञानादि की विराधना करने वाली हो गई।

एक छोटी-सी असावधानी के कारण वह पतन के गर्त मे गहरी से गहरी उतरती चली गई।

इसी तरीके से बहुत समय तक चारित्र की आराधना करके, एक पखवाडे की सलेखना द्वारा शरीर को क्षीण करके, उस पाप कर्म की आलोचना—प्रतिक्रमण करके, काल मास मे काल करके चमरचंचा राजधानी मे, कालावतसक विमान मे वह काली देवी के रूप मे उत्पन्न हुई। हे गौतम ! काली देवी के वह दिव्य ऋद्धि प्राप्त करने की यही कथा है।"

तब गौतम स्वामी ने भगवान से फिर प्रश्न किया—

"हे भगवन् ! काली देवी की कितने काल की स्थिति है ?"

"उसकी स्थिति अढाई पल्योपम की कही गई है।"—भगवान ने बताया।

तब गौतम स्वामी ने अन्तिम प्रश्न पूछा—

"हे भगवन् ! काली देवी उस देवलोक से चल करके कहाँ उत्पन्न होगी ?"

"गौतम ! वह वहाँ से चल कर महाविदेह क्षेत्र मे उत्पन्न होगी और सिद्धि प्राप्त करेगी।"

केवलज्ञानी भगवान ने इस प्रकार गौतम स्वामी के सभी प्रश्नो का उत्तर दिया और उनकी जिज्ञासा को शान्त किया।

यह कथा सुनाकर सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी से पूछा—

"कोई अन्य प्रश्न है क्या ?"

"नही, भगवन् ! मेरी जिज्ञासा शान्त हुई।" जम्बूस्वामी ने वन्दना करते हुए उत्तर दिया।

—ज्ञाता २/१



११

द्वीप के अश्व

हस्तिशीर्ष नामक विशाल नगर का राजा कनककेतु बडा ही उदार तथा प्रजा पालक था। इस कारण उसकी प्रजा सुखी और समृद्ध थी। उसके अच्छे शासन मे बहुत से गुणवन्त व्यक्ति अपनी विभिन्न कलाओ का विकास किया करते थे।

नगर मे बहुत से सायात्रिक नौका वणिक भी रहा करते थे। नौका या जहाज द्वारा वे सुदूर देशो मे व्यापार किया करते थे। उससे उन्हे खूब सम्पत्ति प्राप्त होती थी और वे धन सम्पन्न थे।

एक वार उन्होने मिलकर व्यापार करने के लिए वाहर जाने का निश्चय किया। नौकाएँ तैयार करली गई, उनमे बहुत सा सामान भर लिया गया और लवणसमुद्र के तरल वक्ष पर थिरकती नौकाएँ चल पडी।

अचानक एक स्थान पर समुद्र मे भयानक तूफान उठा। अन्धकार ने घिरकर दिशाओ को ढक दिया। नौकाएँ लहरो के थपेडो मे निराधार होकर चक्कर काटने लगी।

यात्री चिन्तित हो उठे। साक्षात मृत्यु का ताण्डव होता-सा प्रतीत होने लगा। नौकाएँ खेने वाले नियामक हैरान थे, किसी भी भाँति नौकाएँ

वश मे नही रह पा रही थी। उनकी बुद्धि नष्ट-सी हो चली थी। दिशाओ का ज्ञान खो गया था।

ऐसी विकट स्थिति मे यात्री नियामक के पास आकर पूछने लगे—

"भाई नियामक! क्या कोई उपाय नही है? तुम तो अत्यधिक चिन्तित प्रतीत होते हो?"

नियामक ने उत्तर दिया—

"बन्धुओ! क्या कहूँ! मेरी तो मति ही मारी गई। तूफान अत्यन्त भयंकर है। दिशाओ का कुछ ज्ञान ही नही हो पा रहा। नौका वश मे आ ही नही रही।"

नियामक के इस निराशा भरे उत्तर से सभी यात्री हताश हो गए। अन्त मे अन्य कोई मार्ग न देखकर एक यात्री ने कहा—

"इस संकट के समय हमे पवित्र होकर इन्द्र, कार्तिकेय आदि देवो का पूजन करना चाहिए। यदि रक्षा सम्भव है तो देवता ही ऐसा कर सकते है।"

यह सुझाव सभी को मान्य हुआ। अन्य कोई विकल्प था भी नही। स्नानादि से शुद्ध होकर सभी ने देवो का पूजन आरम्भ कर दिया।

तूफान गरजता रहा। भीमकाय, पर्वताकर लहरे आ-आकर नौका से टकराती रही। अन्धकार घिरा रहा।

एक ओर लहरो का गर्जन और दूसरी ओर यात्रियो के पूजन का समवेत स्वर आकाश मे गूँजने लगा। यह क्रम बहुत समय तक चला।

अन्त मे मनुष्यो का संकल्प आंधी और तूफान पर विजयी हुआ। देवता सन्तुष्ट हुए। तूफान थमने और अन्धकार दूर होने लगा।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह हुई कि खेवनहार की बुद्धि लौट आई। देवताओ की कृपा से वह पुन लब्धमति, लब्धश्रुति तथा लब्धसंज्ञ हो गया। उसका दिशा-ज्ञान जाग उठा। तब प्रसन्न होकर वह बोला—

"अहा ! बन्धुओ ! अब चिन्ता की कोई बात नही। मेरी मति लौट आई है। मेरी दिशा-मूढता नष्ट हो गई है । अब मैं सब कुछ जान सकता हूँ।"

सुनकर सब के जी मे जी आया। प्रसन्न होकर वे बोले—

"प्रभु की कृपा से हमारे प्राणो की रक्षा हो गई। अब बताओ हम इस समय किस स्थान पर है ?"

"हम लोग इस समय कालिक द्वीप के समीप है। देखो—वह देखो—वह कालिक द्वीप दिखाई पड रहा है। दिखाई देता है न ? वह—उस दिशा मे।"

नियामक द्वारा सकेत की गई दिशा मे देखने पर सभी को द्वीप की भूमि तथा हरे-भरे वृक्ष दिखाई पडे। हर्ष से वे सब लोग नाच उठे।

नौका को द्वीप की दिशा मे मोड दिया गया। दक्षिण दिशा की अनुकूल वायु के सहारे धीरे-धीरे नौका द्वीप के किनारे जा लगी। लँगर डाल दिया गया। छोटी-छोटी नौकाओ द्वारा सब लोग द्वीप की भूमि पर उतर गए।

वह द्वीप बडा ही सुन्दर था। सघन वृक्षो से भरा था। डेरा डाल दिया गया। भोजन-विश्राम के उपरान्त सब लोग उस द्वीप मे प्राप्य वस्तुओ की खोज मे निकले।

खोज करने पर उन लोगो ने पाया कि वह द्वीप अमूल्य धातुओ की अनेक खानो से भरा हुआ था। चाँदी, सोने, रत्नो तथा हीरो की खाने बिखरी पडी थी। बहुत-सा स्वर्ण-रत्न उन लोगो ने प्रसन्न होकर एकत्र कर लिया।

लेकिन उन स्वर्ण-रत्नो के अतिरिक्त भी वहाँ एक अन्य विशिष्ट वस्तु उन्हे दिखाई पडी और वह थी—विचित्र प्रकार के सुन्दर अश्व। वे अश्व अत्यन्त उत्तम जाति के थे और उनका रग नीला था। तेजी से इधर-उधर दौडते हुए वे अश्व ऐसे सुन्दर प्रतीत होते थे मानो आकाश से उतर कर नीली बिजलियाँ ही उस द्वीप मे क्रीडा कर रही हो।

अश्वो ने जब उन लोगो को देखा और मनुष्यो की अपरिचित गन्ध को सूँघा तो वे पलक झपकते ही सरपट दौडकर कई योजन दूर निकल गए।

व्यापारी अपना एकत्र किया हुआ स्वर्ण तथा रत्न इत्यादि अपनी नौकाओ मे भर कर घर की ओर लौट चले।

हस्तिशीर्ष नगर पहुँच कर उन व्यापारियो ने अपने राजा कनककेतु को बहुत सी बहुमूल्य भेट दी। राजा प्रसन्न हुआ और उसे जिज्ञासा भी हुई। उसने पूछा—

"देवानुप्रियो! तुम लोग दूर-दूर के देशो मे घूमते हो। अनेक ग्राम और नगर देखते हो। लवण समुद्र को भी अनेक बार पार कर चुके हो। क्या तुमने कभी कही कोई विचित्र बात भी देखी?"

व्यापारियो ने विचार कर उत्तर दिया—

"राजन्! यह सत्य है कि हम अनेको ग्रामो और नगरो मे घूमते है। अनेक वस्तुएँ हमारे देखने मे आती है। किन्तु जितने स्थान हमने देखे है, उनमे से सबसे अद्भुत स्थान जो हमने देखा वह है कालिक द्वीप। यह द्वीप सोने-चादी तथा रत्नो की खानो से तो भरा ही है, किन्तु उस द्वीप मे हमने एक अनोखी वस्तु जो देखी वह है वहाँ के अश्व।'

"राजन्! उन अश्वो के सौंदर्य का वर्णन करना हमारी शक्ति मे नही है। वे नील रग के है। ऐसी उत्तम जाति के अश्व हमने अन्यत्र कही नही देखे। अश्व क्या है, वे तो मानो चलती-फिरती बिजलियां ही है। आपके समान प्रतापी नरेश के पास ऐसे अश्व होने चाहिए।"

सुन्दर और उत्तम जाति के अश्व किसी भी वीर राजा के लिए गौरव की बात होते है। राजाओ को अच्छे अश्व प्रिय भी होते है। अत उन व्यापारियो से कालिक द्वीप के उन नील वर्ण अश्वो के विषय मे जानकर राजा कनककेतु उन्हे प्राप्त करने के लिए अधीर हो गया। उसने तुरन्त आदेश दिया—

'देवानुप्रियो! तुम लोग मेरे कर्मचारियो को साथ ले जाकर शीघ्र ही उस अद्भुत द्वीप से उन अद्भुत अश्वो को लेकर आओ। जितने भी धन

की आवश्यकता हो वह ले लो। जितने भी कर्मचारियो को साथ लेना हो, ले लो, तथा अन्य साधन भी जो कुछ चाहिए हो, वे भी ले लो, किन्तु शीघ्र ही वे अश्व लेकर यहाँ लौटो।"

"जैसी आज्ञा, राजन् ?"--कहकर व्यापारियो ने विनयपूर्वक राजाज्ञा को शिरोधार्य किया और अपने स्थान पर लौट आए।

राजा की आज्ञा के पालन मे क्या विलम्ब ? व्यापारी तैयार होने लगे। राजपुरुष प्रस्तुत होने लगे। गाडियाँ तैयार की गयी। पोत तथा नौकाएँ तैयार कर ली गयी। राजपुरुषो ने अश्वो को संगीत से आकर्षित करने के लिए बहुत-सी वीणाएँ भी ले ली।

इसके अतिरिक्त राजपुरुषो ने चक्षु इन्द्रिय को प्रिय लगने वाले बहुत से पदार्थ, घ्राणेन्द्रिय तथा स्पर्शेन्द्रिय को प्रिय लगने वाले अनेक पदार्थ, इसीप्रकार अन्य सभी इन्द्रियो को आकर्षित करने वाले नाना प्रकार के पदार्थ भी गाडियो मे भर लिए।

इस प्रकार पूरी तैयारी कर ली गई। उन अश्वो को लुभाकर जाल मे फँसाने का कोई भी साधन छोडा नही गया।

शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध के उन सब उत्कृष्ट पदार्थों को लेकर वे व्यापारी तथा राजपुरुष पोत मे सवार होकर कालिक द्वीप की ओर चल पडे। अनुकूल वायु के कारण शीघ्र ही वे उस द्वीप मे पहुँच गए। लंगर डालकर भोजनादि से निवृत्त होकर, कुछ विश्राम करने के उपरान्त वे उन अश्वो को अपने जाल मे फँसाने का उपक्रम करने लगे।

वे लोग उस स्थान पर पहुँचे जहाँ वे अश्व सोते तथा लोटने थे। वहाँ जाकर उन्होंने जाल बिछा दिया। वीणा तथा विचित्र वीणा को वे बडी मधुरता से बजाने लगे। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ भी वे अश्व सोते तथा लोटते थे, वहाँ उन्होंने वे सभी पदार्थ जो अश्वो की विभिन्न इन्द्रियो को आकर्षित करने वाले थे, बिखेर दिए।

स्थान-स्थान पर उन्होंने खड्डे खोद दिए और जहाँ पर यह सामग्री फैलाई गई थी उस स्थान पर जाल बिछाकर उनके आसपास छिपकर बैठ गए।

वीणा बजती रही, वीणा का आकर्षक और मधुर स्वर अश्वो ने सुना। उनके कानो को वह प्रिय लगा। उसी प्रकार अन्य पदार्थों ने उनकी आँखो को, नाक को, जिह्वा को और शरीर को आकृष्ट किया।

अश्व आए। शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गध से आकृष्ट होकर आखिर अश्व आए।

किन्तु सभी अश्व वहाँ ठहरे नही। कुछ ने देखा कि ऐसे शब्द, स्पर्श, रस, रूप, और गध का उन्होने पहले कभी अनुभव किया नही है। वे उनसे सावधान हो गए। अपने मन को उन्होने उस शब्द, स्पर्श, रस आदि मे आसक्त नही किया। उन्हे वैसा ही छोडकर वहाँ से बहुत दूर चले गए।

जो अश्व वहाँ से चले गए वे स्वतन्त्र रहकर सुखपूर्वक चारागाहो मे विचरते रहे।

शेष अश्वो का क्या हुआ ?

आसक्ति का जो परिणाम होता है, वही परिणाम शेष अश्वो को भुगतना पडा— बधन, आजन्म बधन। बंधन और दुःख।

उस उत्कृष्ट शब्द, स्पर्श, रस आदि मे आकृष्ट तथा उनमे आसक्त होकर वे उनका भोग करने लगे और वहा फैले हुए जाल मे वे फँस गए।

राजपुरुषो ने उन्हे पकड लिया और कसकर बन्धनो मे जकडकर अपने पोत पर उन्हे लादकर वे हस्तिशीर्ष नगर को लौट गए।

कल तक सुखपूर्वक, स्वतन्त्र रहकर विचरण करने वाले वे अश्व, शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गध मे आसक्त होकर आज पराधीन हो गए।

हस्तिशीर्ष नगर पहुँच कर व्यापारियो तथा राजपुरुषो ने राजा को वे अश्व भेट किए। राजा उन उच्च जाति के अश्वो को पाकर खुशी से नाच उठा। अपने अश्वपालो को बुलाकर उसने आदेश दिया—

'इन जगली अश्वो को शासित करो। उन्हे विनीत करो।'

राजा की आज्ञानुसार उन अश्वो का शिक्षण दिया जाने लगा। मुख बाधकर, कान बाधकर, नाक बाधकर, आख बाधकर, खुर बाधकर, कटि

बाँधकर, चौकडी चढाकर, तोवरा चढाकर, लगाम लगाकर, खस्सी करके, नेला-प्रहार करके, चाबुकों से पीटकर, तथा चमडे के कोडो से मार-मारकर उन्हे विनीत किया गया ।

तुच्छ सासारिक पदार्थों मे आसक्त होने का यह भयानक परिणाम उन अश्वो को भोगना पडा ।

प्रत्येक प्राणी के लिए यही बात सत्य है । विभिन्न इन्द्रियो मे प्राणी की आसक्ति जिस प्रकार अन्त मे दु ख का कारण बनती है यह अनेक उदाहरणो से जाना-समझा जा सकता है—

सुन्दर शब्द सुनकर कानो को सुख मिलता है । किन्तु इसी श्रवणेन्द्रिय को न जीतने का दुष्परिणाम भी देखिए—पारिधी के पीजरे मे एक तीतर होता है । उस तीतर को आवाज को सुनकर वन के स्वाधीन तीतर अपने स्थान से निरन्तर उसके समीप आते है और पारिधी के जाल मे फँस जाते है ।

इसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय के वशीभूत और रूप मे आसक्त बनने वाले पुरुष स्त्रियो के साथ आनन्द मनाते है, किन्तु चक्षु-इन्द्रिय के वशीभूत होने का ही परिणाम है कि पतंगा ज्वाला मे जा पडता है ।

औषधि की गंध से आकृष्ट होकर सर्प अपने बिल से निकल कर सपेरे के हाथ मे पड जाता है ।

रसनेन्द्रिय को वश मे न रखने के परिणामस्वरूप मछली पकड ली जाती है और स्वयं ही दूसरों का भोजन बन जाती है ।

स्पर्शेन्द्रिय को वश मे न रख पाने के कारण ही शक्तिशाली मस्त गजराज को अपने मस्तक मे लोहे के तीक्ष्ण अंकुश का प्रहार सहन करना पडता है ।

तात्पर्य यह कि हमे अपनी इन्द्रियो को वश मे रखना चाहिए । इन्द्रियो का स्वभाव आसक्त होना है । हमे सयम द्वारा उन पर विजय प्राप्त करनी चाहिए । जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियो को वश मे रखते है, स्वयं उनके ही वश मे नही होते, उन्हे विषयो के लिए हाय-हाय करते हुए नही मरना पडता । इस प्रकार वे वशार्तमरण से बच जाते है ।

विषय भोग का कही अन्त नही है। जितना ही उन्हे भोगा जाता है उतना ही अधिक उन्हे और भी भोगने की लालसा जागती है। विषय कभी सन्तुष्ट होते ही नही।

अत साधु को चाहिए कि वह समभाव रखे। शुभ अथवा अशुभ शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध मे साधु को तुष्ट अथवा रुष्ट नही होना चाहिए। उन सभी को उसे सद्भाव से ग्रहण करना चाहिए।

साधु-धर्म कालिक द्वीप के समान है। उसका आश्रय पाकर संसार समुद्र मे दु खी होने वाले जीव सान्त्वना और शान्ति प्राप्त करते है। साधु को उन अश्वो के स्थान पर समझ कर हमे उस कथा का मर्म जानना चाहिए। जो साधु पचेन्द्रिय के विषयो मे लुब्ध न होकर उनसे दूर रहते है वे भव-बन्धन के सामासिक कष्टो से बच जाते है। जो विषय-लोलुप हो जाते है वे दु खो के कारणभूत कर्म-बन्धनो को प्राप्त होते है।

जिस प्रकार कालिक द्वीप मे अन्यत्र ले जाए गए अश्व दु'खी हुए, उसी प्रकार साधु-धर्म मे भ्रष्ट साधु दु ख के पात्र होते है।

—ज्ञाता सूत्र १७



१२

सुबुद्धि की बुद्धि

इस संसार मे स्वार्थ का वोल-वाला है। अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए मनुष्य करणीय-अकरणीय सभी कुछ करने को तत्पर हो जाता है। किसी की हाँ मे हाँ मिलाने से भला क्या विगडता है? मतलव निकलना चाहिए। और फिर सामने कोई व्यक्ति सत्ताधारी हो, राजा हो, तव तो वह दिन को रात कहे तो भी ठीक।

किन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते है—जो सत्य के उपासक होते है। वे व्रती होते है, दृढ होते है और तनिक से सासारिक सुख या क्षुद्र लाभ के लोभ से विचलित न होकर अपने मानव-कर्तव्य का पूर्ण पालन करते है। वे अपनी आत्मा को वेचते नही।

राजा जितशत्रु का अमात्य सुवुद्धि ऐसी ही मिट्टी का वना था। कर्तव्यपरायण तो था ही, ज्ञानी और विवेकी भी था। राज्य का हित उसकी दृष्टि मे सर्वोपरि था, किन्तु वह चाटुकार नही था। राजा की हाँ मे हाँ मिलाकर दिन को वह रात नही कह सकता था। उसका व्रत था—राज्य का हित करूँगा, किन्तु असत्य भाषण नहीं करूँगा। कर्तव्यपालन करूँगा, किन्तु झूठी चाटुकारी नही करूँगा।

ऐसे मन्त्री की देखरेख मे राजा जितशत्रु निर्द्वन्द्व होकर चम्पानगरी मे राज्य कर रहे थे। कुशल, कर्तव्यपरायण, नीतिज्ञ और तत्वज्ञाता मन्त्री वडी तत्परता से राज्य की देखरेख कर रहा था।

"तब तो भगवन् ! यदि मैं कामभोगो से मुक्त न हो सका तो मरकर सातवें नरक मे ही जाऊँगा ?"

भगवान सब जानते थे। वे कोणिक के हृदय मे व्याप्त अहंकार को भी जानते थे। उन्होने शान्त स्वर मे, स्पष्ट कथन किया—

"तुम छठे नरक मे जाओगे, कोणिक।"

"क्या भंते ! अभी तो आपने कहा कि चक्रवर्ती कामभोगो मे आसक्त रहकर सातवें नरक मे जाते है। तब मैं छठे नरक मे क्यों जाऊँगा ?"

"इसलिए कोणिक ! कि तू चक्रवर्ती नहीं है।"

कोणिक अधीर हो गया, बोला—

"भंते ! मेरे पास इतना विपुल वैभव है, इतनी विशाल सेना है, मैं इतने बडे साम्राज्य का अधिपति हूँ। तब मै चक्रवर्ती क्यों नही बन सकता ?"

भगवान ने दयापूर्ण, कोमल वचन कहे—

"कोणिक ! अहंकार ठीक नही। लालसा अच्छी नही। जो है उसमे सन्तोष मानना चाहिए। तुम्हारे पास उतने रत्न और निधि नही है जितने एक चक्रवर्ती के पास होने चाहिए। अत: तुम उस पद को प्राप्त नही कर सकते। व्यर्थ मे भटकना नही चाहिए।"

किन्तु कोणिक माना नही। कामना उसके कलेजे मे कुँडली मारे बैठी थी।

कृत्रिम रत्न बना-बनाकर उसने अपना खजाना भर लिया। और फिर विजेता बनने के लिए तमिस्रा गुहा मे प्रविष्ट होने लगा। गुहा के प्रतिपालक देव ने निषेध किया—

"कोणिक चक्रवर्ती बारह ही होते है, और वे हो चुके हैं। आप चक्रवर्ती नही है। कृपया अनधिकार प्रवेश न करें। ऐसा करने पर आपका अमंगल होगा।"

कोणिक नही माना। उसने अनधिकार प्रवेश करना ही चाहा। परिणामस्वरूप देव के प्रहार से मृत्यु प्राप्त कर वह छठे नरक मे उत्पन्न हुआ।

—दशवैकालिक



३२

हंस का जीवित कारागार

अपनी काया सभी को प्रिय है। मनुष्य इसे कंचन-काया मानता है। वह इसके मोह मे भूला-भूला फिरता है। किन्तु इसकी वास्तविकता क्या है, यह भी विचार कभी किया है ?

पुरानी कहानी है। वीतशोका नामक नगरी मे राजा 'बल' राज्य करता था। चूँकि राजा न्यायी और प्रजा का पालक था, अत नगरी का नाम सार्थक था, वहाँ किसी को कोई दु ख या शोक नही था। राजा का पुत्र था महावल। नाम के अनुरूप ही वह महावली और प्रतापी था। स्वर्ण मे सुहागे वाली वात तो यह थी कि वलवान होने के साथ ही वह विनयवान भी था। उसे अपनी शक्ति का तनिक भी अभिमान नही था।

एक समय जव उस नगरी मे मुनि धर्मघोप पधारे तव उनके उपदेश सुनकर राजा बल को वैराग्य उपजा और वह राज्य-सिहासन पर अपने पुत्र महावल को बिठाकर मुनि वन गया।

महावल राजा हो गया। उसके छह वाल-मित्र थे—अचल, धरण, पूर्ण, वसु, वैश्रमण और अभिचन्द। महावल अव राजा था, किन्तु मित्रो की मित्रता तो वैसी ही वनी रही। सज्जन पुरुप ऐसे ही होते है। शक्ति या अधिकार के मद मे वे अपना भान कभी नही भूलते। महावल राज्य का कार्य अपने मित्रो की सलाह से ही करता था।

कुछ काल उपरान्त मुनि धर्मघोप विचरण करते हुए पुन उस नगरी मे पधारे। राजा महावल ने भी उनका उपदेश मुना और अपने पिता की

भाँति ही वैराग्य भावना से प्रेरित होकर अपने पुत्र वलभद्र को राजा वना कर वे दीक्षित हो गए। उसके छहो मित्रो ने भी दीक्षा ग्रहण करली।

एक वार उन सवने समान तप करने का निश्चय कर दो दिन का उपवास रखा। किन्तु महावल के मन मे यह विचार उठा कि वह अन्य मुनियो से अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करे। अतः दो दिन तक तो उन्होने यही भाव दर्शाया कि वे पारणा कर लेंगे, किन्तु उन्होने ऐसा किया नही। अन्य मुनियो ने अपने निश्चय के अनुसार ही दो दिन वाद पारणा कर लिया। महावल ने यह कपट आचरण किया। इसके फलस्वरूप उन्हे स्त्री-वेद का वन्ध हुआ।

कालक्रमानुसार कठिन तपस्या करते हुए उसके उत्कृष्टतम परिणाम स्वरूप महावल ने तीर्थंकर नाम कर्म का वन्ध किया। धीरे-धीरे सातो मुनियो का शरीर अपने धर्म के अनुसार कृश होता गया और अन्त मे वक्षार पर्वत पर जाकर संथारा ग्रहण करके उन्होने समाधि पूर्वक इस शरीर का त्याग किया।

शरीर त्यागने के वाद वे सव जयन्त विमान मे उत्कृष्ट ऋद्धि के धारक देव बने। वत्तीस सागर की आयु समाप्त हुई और वे पुन मनुष्य जीवन मे आए। उनमे से महावल देव वहाँ से काल कर मिथिला के राजा कुम्भ की रानी प्रभावती की कुक्षि मे आए। रात्रि के अन्तिम प्रहर मे रानी ने जो चौदह स्वप्न देखे उससे तीर्थंकर के उसके गर्भ मे आने की सूचना मिली। सारी नगरी इस समाचार से हर्षित हो गई।

नौ मास भी व्यतीत हुए। रानी ने एक शुभ कन्या को जन्म दिया। उसका नाम रखा गया मल्लिकुमारी, क्योकि उसके गर्भ में आने के समय से ही रानी को सुगन्धित पुष्प मालाएँ धारण करना वडा प्रिय हो गया था।

वालिका धीरे-धीरे नवयुवती हो गई। वह अत्यन्त रूपवान थी और उसका हृदय पूर्ण निर्विकार था। उसे जन्म से ही अवधिज्ञान प्राप्त था। उसके प्रभाव से उसने अपने पूर्व भव के मित्रो की उत्पत्ति की वात जान ली थी।

भविष्य की घटनाओ का ज्ञान रखने वाली मल्लिकुमारी ने एक वार मन्त्री को बुलाकर आज्ञा दी कि अशोक वाटिका मे एक सुन्दर महल वनवाया जाय। उसके वीचो वीच छह कमरे वनवाए जायँ। कमरो के वीच मे एक

चबूतरा हो जिस पर एक सुवर्ण प्रतिमा स्थापित की जाय जो पूर्णतया मेरे जैसी ही हो। उस सुवर्ण की पुतली के मस्तक पर एक छिद्र भी होना चाहिए जो कि ढक्कन से ढका रहे और दिखाई न दे।

राजकुमारी के इस विचित्र आदेश का पालन तत्परता से किया गया। जब सब कुछ तैयार हो गया तब राजकुमारी ने यह नियम बना लिया कि भोजन से पूर्व वह एक ग्रास अन्न प्रतिदिन उस पुतली मे डाल देती। धीरे-धीरे सडे हुए अन्न के कारण उस पुतली मे से ढक्कन हटाए जाने पर घोर दुर्गन्ध आने लगी।

उसी समय कोशल देश मे इक्ष्वाकु नामक राजा राज्य करता था। एक दिन नगर से बाहर नागदेव के उत्सव मे राजा ने वहाँ देवालय मे एक सुन्दर पुष्प-कन्दुक देखी। अपने मंत्री से उसने पूछा—"क्या ऐसी मनोहर कंदुक तुमने और कही भी देखी है?"

मंत्री ने कहा—

"राजन्! एक बार मै मिथिला की राजकुमारी मल्लिकुमारी के वार्षिकोत्सव मे गया था। वहाँ मैंने एक कंदुक देखी थी। यह कंदुक उस कंदुक की तुलना मे नगण्य ही है। और वह राजकुमारी स्वयं तो इतनी रूपवान है कि उसके रूप का वर्णन ही अशक्य है।"

राजा का हृदय उसके वश मे न रहा। मल्लिकुमारी के अद्भुत रूप का उपभोग करने की तीव्र लालसा से उसका हृदय दग्ध हो गया। उसी क्षण उसने अपने अनुचर भेजकर मल्लिकुमारी की मंगनी की।

उसी समय अग देश मे चम्पानगरी का राजा चन्द्रच्छाय था। उसके राज्य मे अर्हन् नामक एक नीतिवान गृहस्थ बसता था। व्यापार हेतु वह दूर-दूर देशो की यात्रा किया करता था। एक बार ऐसे ही प्रसंग मे वह मिथिला भी हो आया था और वहाँ उसने मल्लिकुमारी को देखा था। एक बार किसी प्रसंग मे राजा ने अर्हन् से पूछा—

"क्यो अर्हन! तुम तो देश-विदेश मे घूमते हो। तुमने विदेश मे कभी कोई अद्भुत वस्तु भी देखी है?"

अर्हन ने विनयपूर्वक उत्तर दिया—

"राजन् ! मैंने अपने जीवन मे आज तक एक ही उत्तम वस्तु देखी है। इस पृथ्वी पर वैसी दूसरी नही है। और वह है मिथिलेश की राजकुमारी मल्लिकुमारी।"

वस, इसके वाद कैसा विलम्ब ? अंग देश का दूत भी मिथिला की ओर पवन वेग से चल पडा।

उसी समय कुणाल देश मे श्रावस्ती नगरी मे रुपी नामक राजा राज्य करता था। अपने मंत्री से किसी प्रसंग मे उसने भी मल्लिकुमारी के रूप की प्रशसा सुनी। वह भी अन्य राजाओ की भाँति मल्लिकुमारी का पागल प्रेमी हो गया। उसके दूत भी राजकुमारी की मंगनी हेतु मिथिला की ओर चल पडे।

काशी देश की वाराणसी नगरी मे राजा शंख की सभा जुडी थी। उस समय कुछ स्वर्णकार वहाँ उपस्थित हुए। राजा ने पूछा—

"आप कहाँ से आए है ? क्या चाहते हैं ?"

उन स्वर्णकारो ने उत्तर दिया—

"राजन् ! हम मिथिला के वासी है। राजा द्वारा निष्कासित होकर यहाँ आपकी शरण मे आए है।"

"आपके राजा ने आपको क्यो यह दण्ड दिया ?"

"हमारा दुर्भाग्य, राजन् ! राजकुमारी जितनी रूपवान है, उतने ही अद्भुत, देवताओ द्वारा प्रदान किए गए कानो के कुण्डल भी उनके पास है। उन कुण्डलो की सन्धि टूट गई। हम लोग उन्हे जोड न सके। भला देवताओ द्वारा दिए गए उन कुण्डलो को हम मनुष्य कैसे ठीक कर देते ? सो राजा कुपित हो गए।"

"अच्छा, क्या राजकुमारी वहुत सुन्दर है ?"

"राजन् ! उनके रूप का क्या कहना ? वे तो कोई मानवी नही, साक्षात् देवी प्रतीत होती है।

स्वर्णकारो द्वारा राजकुमारी के रूप का यह वर्णन सुनकर राजा शख का दूत भी मिथिला की ओर चल पडा।

राजकुमारी का भाई था मल्लिदिन्न। वह कला-प्रेमी था। उसने एक सुन्दर महल वनवाया। उसे अनेक कलात्मक वस्तुओ से सजाया।

सुन्दर चित्र भी स्थान-स्थान पर अंकित करवाए। एक चित्रकार अत्यन्त कुशल व कलाप्रवीण था। किसी भी प्राणी के किसी भी एक मात्र अग को देखकर ही वह उसका सम्पूर्ण चित्र बना सकता था। उसने किसी प्रसंग मे राजकुमारी का केवल एक अंगूठा भर देखा था। उसी स्मृति और अपनी कला प्रवीणता के सहारे उसने एक स्थान पर राजकुमारी का सम्पूर्ण चित्र इतना सुन्दर अंकित कर दिया कि देखने वाले यही समझते कि राजकुमारी साक्षात् वहाँ खडी है।

राजकुमार ने जब वह चित्र देखा तो उसे चित्रकार के चरित्र पर सन्देह हुआ। उसके कोध का ठिकाना न रहा। उसने चित्रकार को तुरन्त फाँसी पर लटकाने का आदेश दे दिया। किन्तु अन्य चित्रकार वास्तविकता से परिचित थे। उन्होने विनय की—

"राजकुमार! यह चित्रकार अपराधी नही है। यह तो अत्यन्त मेधावी है और कला की साधना इसने की है। राजकुमारी का एक अंगुष्ठ मात्र देखकर हो इसने यह चित्र बनाया है। आप इसे क्षमा करे।"

बात सुनकर राजकुमार ने दण्ड कम कर दिया। फाँसी न देकर चित्र-कार का केवल अंगूठा काट कर देश से निकाल दिया।

बेचारा चित्रकार निर्वासित होकर कुरु देश पहुँचा। वहाँ हस्तिनापुर के राजा अदीनशत्रु ने जब सारी घटना सुनी और राजकुमारी के सौदर्य का वर्णन सुना तो वह मोह के ऐसे आवेग मे आया कि उसी क्षण उसके दूत भी मिथिला के लिए दौड पडे।

इसी प्रकार मिथिला मे उस समय चोखा नाम की एक परिव्राजिका निवास करती थी। विदुषी थी। चारो वेदो की ज्ञाता थी। एक बार राज-कुमारी से उसकी धर्म-चर्चा चली। किन्तु मल्लिकुमारी के सत्य ज्ञान के समक्ष परिव्राजिका का ज्ञान असत्य ही ठहरा। वह खीझ उठी और राज्य छोडकर पाचाल देश जा पहुँची। वहाँ राजा जितशत्रु राज्य करता था। उसे अपने अन्त पुर का बडा अभिमान था। किन्तु प्रसंग-वश जब सन्यासिनी ने यह बताया कि उसकी स्थिति कूप-मडूक जैसी ही है और राजकुमारी मल्लिकुमारी के समान लावण्यवती कोई कन्या इस भूतल पर नही है तो अन्य राजाओ की भाति उसने भी अपने दूत मिथिला के लिए रवाना कर दिए।

× × × ×

राजा कुम्भ के दरवार मे छहो राजाओ के दूत जा पहुँचे। अपने-अपने राजाओ की उन्होने वढ-चढकर प्रशंसा की। किन्तु राजा कुम्भ ने उनमे से किसी भी माँग को स्वीकार नही किया। निराश दूत लौट गए।

अपने-अपने दूतो से यह निराशापूर्ण उत्तर सुनकर छहो राजा कुपित होकर, मिथिला पर चढाई करने के लिए चल पडे। उन सव की सम्मिलित सेना ने मिथिला को घेर लिया।

राजा कुम्भ ने वडी वीरता से उन छहो राजाओ से संग्राम किया। किन्तु एक के विरुद्ध छह-छह राजाओ की सेना से वह लोहा लेता तो कव तक ? विवश होकर उसे अपनी राजधानी के नगर द्वार वन्द करके वैठना पडा। उसकी चिन्ता की कोई सीमा न रही।

पाठक भूले न होंगे कि राजकुमारी मल्लिकुमारी अवधि ज्ञानी थी। वह सब कुछ जानती थी। उसे ज्ञात था कि ये छहो राजा उसके पूर्व भव के वे ही मित्र है। अत' वह उन्हे प्रतिवोध देना चाहती थी और सन्मार्ग की ओर प्रेरित करना चाहती थी।

अपने पिता को चिन्तित देखकर उसने कहा—

"पिताजी ! आप चिन्तित क्यो है ? उन छहो राजाओ की बुद्धि को ठीक मार्ग पर लाने का कार्य आप मुझ पर छोड दीजिए।"

राजा जानते थे कि उनकी पुत्री विलक्षण है। फिर भी उन्हे विश्वास नही होता था कि अकेली राजकुमारी इन छह मदान्ध राजाओ से निवट सकेगी। किन्तु मार्ग भी कुछ सूझ नही रहा था। राजकुमारी ने पिता की चिन्ता को दूर करने के लिए कहा—

"पिताजी ! इन राजाओ का यह वल तो मात्र पाशविक वल है। इसका आधार अन्याय है और अनीति है। भला नीति, न्याय तथा विवेक के समक्ष वह वल कैसे टिक सकता है ? आप तनिक भी चिन्ता न करे।"

राजा की अनुमति पाकर राजकुमारी ने उन छहो राजाओ को उस पुतली वाले महल मे बुलाकर अलग-अलग कमरो मे ठहरा दिया। वीच मे वह स्वर्ण-पुत्तलिका थी। उन मोहान्ध राजाओ ने जव उस पुतली को देखा तो वे रूप के लोभी उसे वास्तविक राजकुमारी समझ कर आँखें फाड-फाड कर, मुख से लार टपकाते हुए उसे निर्निमेप नयनो से देखते ही रह गए।

उसी समय चुपचाप राजकुमारी आई। और चुपचाप ही उसने पुतली का ढक्कन खोल दिया ।

दुर्गन्ध, भयानक दुर्गन्ध से वातावरण असह्य हो उठा। राजाओ का दम घुटने लगा ओर वे वहाँ से भागने का मार्ग खोजने लगे।

उसी समय खिलखिलाती हुई राजकुमारी प्रकट हुई और बोली—

"क्यो महानुभावो ! क्या हो गया ? इतने आसक्त होकर इस पुतली को देख रहे थे, अब भागने का मार्ग खोजने लगे ?"

राजाओ ने उत्तर दिया—

"हमारे तो प्राण निकले जा रहे है। दुर्गन्ध से दम घुट रहा है। हम कहाँ आ फँसे ।"

अब राजकुमारी ने गम्भीरता से कहा—

"विचार करने की बात है। एक सोने की पुतली मे प्रतिदिन केवल एक ग्रास अन्न ही डाला जाता है, और तब भी ऐसी स्थिति है। तब उस मनुष्य के शरीर की क्या हालत होगी जिसका निर्माण ही श्लेष्मा, वमन, पित्त, शुक्र, शोणित, मल, मूत्र इत्यादि से हुआ है ? अरे भाई, यह मनुष्य देह तो हंस का जीवित कारागार है जोकि अपने समस्त बाह्य सौंदर्य के बावजूद अशुचि का अक्षय भण्डार है।"

छहो राजा विस्मय से राजकुमारी को देखते रह गए।

राजकुमारी उन्हे अलग स्थान पर ले गई और उसने उन्हे बताया कि वे सब कौन है ? किस प्रकार पूर्व भवो मे वे मित्र थे ? कैसे उन्होने साथ दीक्षा ली थी, तप की आराधना की थी, जयन्त विमान मे उत्पन्न होने के बाद वे किस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानो पर राजा होकर उत्पन्न हुए थे। राजकुमारी ने उन्हे यह भी बताया कि तनिक-सा कपट आचरण करने के कारण ही उसे स्वय का स्त्री-वेद का बन्ध हुआ था और वह मल्लिकुमारी के रूप मे उत्पन्न हुई थी।

राजाओ ने ये वचन सुने, उनकी सोई हुई आत्माओ ने करवट ली, उनके परिणामो और लेश्याओ मे परिवर्तन हुआ। शुभ परिणाम आने से उन्हे जातिस्मरण ज्ञान हुआ। पूर्व भव की सभी बाते उन्हे याद आ गई।

सब प्रसन्न थे। पुराने साथी फिर मिले थे। एक मत से, हर्षित हृदय से सभी ने दीक्षा ग्रहण करने का शुभ निश्चय उसी क्षण कर लिया।

एक वर्ष तक तीर्थंकर मल्लिकुमारी ने प्रचुर मात्रा मे दानादि देकर दीक्षा ग्रहण की। जैसा कि प्रत्येक तीर्थंकर के साथ होता है, दीक्षा धारण करते ही उन्हे भी मन पर्यवज्ञान उत्पन्न हुआ तथा कुछ ही समय बाद केवल-ज्ञान भी उत्पन्न हो गया। देवताओ ने उनका कैवल्य-कल्याण मनाया।

राजकुमारी मल्लिकुमारी पहले तीर्थंकर मल्लिकुमारी हुई और फिर वे भगवान मल्लिनाथ हो गए। छहो पूर्वोक्त राजाओ ने उनसे दीक्षा ग्रहण की।

चैत सुदी चतुर्थी के दिन भरणी नक्षत्र मे समस्त कर्मों का क्षय कर भगवान मल्लिनाथ ने परम मुक्ति प्राप्त की।

—ज्ञातासूत्र



३३

कैसा जन्म, कैसी मृत्यु ?

लोग कहते है होनहार विरवान के, होत चीकने पात। लोग ठीक ही तो कहते है। थावच्चा पुत्र की जीवन-गाथा से लोगो द्वारा कही जाती यह वात शताश मे सही सिद्ध होती है।

माता का नाम था थावच्चा। अत पुत्र को नाम मिल गया थावच्चा-पुत्र, या थावच्चाकुमार।

वचपन से ही जिज्ञासु, विचारवान और गंभीर था वह। कोई भी नई वात देखता तो झट अपनी माता से प्रश्न करता—"माँ! यह कैसी वात है? यह कैसे हुआ? अव क्या होगा? क्या सदा ऐसी ही होता है? क्या ऐसा ही होता रहेगा?"

माता अपने होनहार विरवान को खूव जतन से सम्हालती और समझाती—

"हाँ रे मेरे वेटे! ऐसा ही होता है। ऐसा ही होता रहता है। यह ससार है न. उसमे ऐसा ही होता रहेगा। जा तू, जाकर खेल। मुझे परेशान न कर। देख तो भला, मुझे अभी कितने सारे काम करने है।"

वालक सन्तुष्ट हो जाता। वहल जाता। खेलने-कूदने लगता। और फिर कुछ देर मे माता के पास आकर प्रश्नो की झडी लगा देता—"माँ! यह कैसी वस्तु? यह कहाँ से आ गई? यह पहिले तो ऐसी नही थी? क्या यह हमेशा ऐसी ही रहेगी?"

माता प्रसन्न भी होती और खीझ भी उठती। कह देती—"चल भाग यहाँ से। सारा दिन तेरे प्रश्नो का उत्तर ही देती रहूँ तो वस फिर हो गया।"

वालक फिर खेल-कूद मे लग जाता और फिर दोडा-दौडा आता—"माँ! ···· ।"

एक दिन कुमार अपने प्रासाद की छत पर खडा प्रकृति की सुपमा निहार रहा था और नीचे नगर मे जाग रहे जीवन को देख रहा था। प्रात काल का मन्द समीरण शरीर मे सुख और आनन्द की पुलक उत्पन्न करता था। सूर्य की किरणें मन्दिरो और प्रासादो के स्वर्ण-कलशो को अद्भुत शोभा प्रदान कर रही थी। रगीन मेघो के छोटे-छोटे टुकडे इधर-उधर आकाश मे विखरे थे। पक्षी आनन्द से कलरव करते दूर दिशाओ की ओर उडे चले जा रहे थे।

उसी समय कही से संगीत के सुमधुर स्वर आकर कुमार के कानो से टकराए। उस प्रातःकाल की मंगल वेला मे वे मंगल गीत नैसर्गिक प्रतीत होते थे। सुनकर आत्मा मे ऐसा अनुभव होता था मानो विश्व मे सर्वत्र मंगल ही मंगल है। आनन्द की रसधार मानो आकाश से सारी पृथ्वी पर अवाध रूप से झर रही है।

कुमार वडा आनन्दित हुआ। उसके मन मे जिज्ञासा भी जागी—यह कैसे गीत है? कौन गा रहा है? क्यो गाए जा रहे है ये गीत?

दौड़ा-दौडा गया वह अपनी माँ के पास और लगा दी प्रश्नो की झड़ी—

"माँ! ये गीत कौन गा रहा है? क्यो गा रहा है?"

माता ने शान्ति से वताया—"पडौस मे पुत्र उत्पन्न हुआ है। सव प्रसन्न है। इसलिए ये गीत गाए जा रहे है।"

"अच्छा! पुत्र उत्पन्न होता है तो गीत गाए जाते है? माँ, तव तो मैं उत्पन्न हुआ तव भी ऐसे ही गीत गाए गए होगे?"

"अरे हाँ, ऐसे ही क्या, तू उत्पन्न हुआ तव तो और भी अधिक आनन्द मनाया गया था। खूब उत्सव हुआ था। अव चल भाग यहाँ से, मुझे काम करने दे।"

वालक खेलता-कूदता फिर छत पर जा पहुँचा।

किन्तु इस बार उसे रोने-धोने, चीखने की बडी ही दर्दनाक आवाजे सुनाई दी। आनन्द से झूमता उसका हृदय एकदम धक से रह गया। अनजाने ही उसकी आँखो से अश्रुधार बह निकली। वह भारी हृदय लेकर फिर अपनी माता के पास पहुँचा और पूछने लगा—

"माँ ! ये लोग रो क्यो रहे है ? मुझे अच्छा नही लगता। मुझे दु'ख होता है।"

"दु ख की तो बात ही है बेटा ! जो पुत्र उत्पन्न हुआ था न, वह चला गया। इसीलिए सब लोग दुखी होकर रो रहे हैं।"—माता ने समझाया।

किन्तु बालक की जिज्ञासा और भी आगे बढी। उसने पूछा—

"वह लडका जो पैदा हुआ था कहाँ चला गया, माँ ?

भारी हृदय से माँ ने बताया—"वह मर गया, बेटा ! अब वह कभी लौटकर नही आएगा।"

कुछ क्षण कुमार चुपचाप अपनी माँ के उदास चेहरे को देखता ओर विचार करता रहा। फिर बोला—

"माँ ! क्या मैं भी मर जाऊँगा ?"

माता ने झट से उसके मुख पर हाथ रख दिया और कहा—"ऐसी बात नही करते बेटा ! जा, तू अपना खेल।"

"नही माँ ! तू मुझे बता। मैं जाने बिना मानूँगा नही। क्या मै भी मर जाऊँगा ?"

माता जानती थी कि बालक हठी है। एक बार जो धुन इसे लगी सो लगी। सहज ही मानने वाला यह नही है। अत विवश होकर बोली—

"हाँ मेरे बेटे ! सत्य यही है कि जो भी जन्म लेता है, उसे एक न एक दिन मरना ही पडता है।"

कुमार फिर गभीर रहा। और फिर उसने प्रश्न किया—

"माँ ! क्या कोई ऐसा उपाय नही कि मैं मरूँ नही, और तुम्हे रोना भी न पडे ?"

भला कोई माता अपने ही पुत्र को, अपने कलेजे के टुकडे को इन प्रश्नो का क्या उत्तर दे ? कहाँ तक उत्तर दे ? वह बेचारी इतना ही कह सकी—

"बेटा! तू मुझे परेशान न कर। तेरे ऐसे प्रश्नो से मुझे दु ख होता है।"

पुत्र अपनी माता को कष्ट नही देना चाहता था, अत वह चुप हो गया। कोई प्रश्न उसने अब नही किया।

किन्तु प्रश्न तो उसके हृदय मे कुंडली मारकर बैठ गया था—'मनुष्य क्यो मरता है?'

ज्यो-ज्यो कुमार इस प्रश्न का उत्तर खोजने का प्रयत्न करता, वह और भी उलझता चला जाता और प्रश्न का अटूट सिलसिला आगे बढ़ना ही जाता—क्या मनुष्य अमर नही हो सकता? क्या ऐसा कोई मार्ग ही नही कि मनुष्य अमर हो जाय?'

बालक धीरे-धीरे बडा होता रहा। प्रश्न उसके हृदय से नही निकला सो नही ही निकला। यौवन की अधी आँधी मे भी वह भटका नही ओर प्रतिपल विचार करता रहा—'मनुष्य क्यो मरता है? मनुष्य अमृत क्यो नही हो सकता?'

एक बार भगवान अरिष्टनेमि उस नगरी मे पधारे। माता अपने पुत्र के साथ दर्शन करने गई। भगवान ने उपदेश दिया—और सहसा थावर्च्याकुमार को अपने प्रश्न का उत्तर मिल गया। भगवान की कृपा से उसने जान लिया कि मृत्यु को जीत कर अमृत होने का मार्ग कौनसा है?

माता की आज्ञा लेकर थावर्च्याकुमार साधना के उस अमृत-लोक की ओर चल पडा। दीक्षित होकर वह भगवान के साथ विचरण करने लगा।

अब वह धर्म के अमृत-लोक मे था। वहाँ भला कैसा जन्म, कैसी मृत्यु?

- थावर्च्यापुत्र रास



३४

माँ-बेटे

देवकी के घर दो भिक्षु भिक्षा लेने के लिए आए। उसने अत्यन्त हर्षित होकर उन्हे भिक्षा प्रदान की। अपने को धन्य माना।

कुछ ही समय पश्चात् दो भिक्षु फिर से देवकी के यहाँ भिक्षा लेने आए। देवकी और भी प्रसन्न हुई। उसने भिक्षा प्रदान की। भिक्षु चले गए।

किन्तु थोडा ही समय व्यतीत हुआ था कि दो स्वरूपवान भिक्षु पुन देवकी के यहाँ भिक्षा लेने आए। देवकी उसी प्रकार हर्षित हुई। अपने भाग्य को सराहती रही। किन्तु उसे एक बात का बडा विस्मय हुआ। वह सोचने लगी—ऐसी समृद्ध द्वारिका नगरी मे, जहाँ कृष्ण-वासुदेव जैसे राजा राज्य करते है, क्या इन भिक्षुओ को भिक्षा प्रदान करने वाले लोग नही रहे कि इन्हे बार-बार मेरे ही घर भिक्षा के लिए आना पड रहा है ?

आखिर उन भिक्षुओ से वह पूछ ही बैठी—

"भन्ते ! मै बडी सौभाग्यशालिनी हूँ कि मुझे आपकी पद-रज प्राप्त हुई और आपको भिक्षा प्रदान करने का अवसर मिला। किन्तु क्या द्वारिका धर्मनिष्ठ गृहपतियो से शून्य हो गई है कि आपको बार-बार मेरे घर भिक्षा के लिए आना पड रहा है ?"

वास्तविकता यह थी कि भगवान नेमिनाथ द्वारिका पधारे हुए थे। उनके भिक्षु सघ मे छह भिक्षु सहोदर थे। उनका रूप, वय, आकृति आदि एकदम समान थी। भगवान से आज्ञा लेकर वे दो-दो की टोली मे भिक्षा लेने निकले थे। इस प्रकार देवकी के घर कोई भी भिक्षु दुबारा नही गया

था। देवकी ही उन्हे एक समान रूपाकृति के कारण दो ही भिक्षु समझ रही थी। इसीलिए उसने जिज्ञासावश वह प्रश्न किया था। उन मुनियो ने शान्त भाव से उसे वताया—

"यह सव एक ही नही हे। अलग-अलग हे। जो पहले आए, वे हम नही। दूसरे आए, वे पहले नही। हम जो तीसरी वार आए हे, सो पहिली ही वार आए हे। तुम्हे हम लोगो की समान आकृति के कारण भ्रम हुआ है, देवानुप्रिय! हम छह मुनि है। एक ही वय, रूप और आकृति के। भगवान नेमिनाथ के हम शिष्य है। भद्दिलपुर के नाग गाथापति के घर हमने जन्म लिया था।"

यह वात सुनते ही देवकी को एक पुरानी वात स्मरण हो आई—पोलासपुर नगर मे अतिमुक्त श्रमण ने कहा था—"देवकी, तू नल कुवेर जैसे सुन्दर, दर्शनीय और कान्त आठ पुत्रो को जन्म देगी। भरत क्षेत्र मे अन्य कोई माता ऐसे सुन्दर पुत्रो को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त नही कर सकेगी।"

यह वात याद कर वह सोचने लगी—श्रमण की उस वाणी का क्या हुआ? क्या वह वाणी मिथ्या हुई? अहा! इन छह सुन्दर पुत्रो को जन्म देने वाली माता ही वस्तुत धन्य हुई है।

शकाग्रस्त मन लिए वह भगवान के पास पहुँची। केवलज्ञानी भगवान ने उसकी शंका को स्वयं ही दूर करते हुए वताया—

"शंकित न हो, देवकी! भद्दिलपुर के नाग गाथापति की पत्नी सुलसा मृत वन्ध्या थी। उसने हरिणैगमेषी देव की भक्ति की थी। देव प्रसन्न हुआ था। तुम और सुलसा एक साथ गर्भ धारण करती थी और एक साथ पुत्रो को जन्म देती थी। देव तुम्हारे पुत्रो को सुलसा के पास ले जाता ओर सुलसा के मृत पुत्रो को तुम्हारे पास छोड जाता। तू अव शका ओर दु ख को त्याग दे। जिन छह भिक्षुओ को तूने देखा है, वे तेरे ही पुत्र हे।"

विस्मित, हर्षित, पुलकित देवकी जव भगवान के पास से उठकर उन छह भिक्षुओ के पास गई तो पुत्र-वात्सल्य उसके स्तनो से पवित्र दुग्ध-धारा वनकर वह चला था।

—अन्त कृद्दशा



३५

संशयात्मा विनश्यति

मनुष्य के जीवन मे धैर्य का बहुत महत्त्व है। इसीलिए कहा जाता है—धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कछु होय—यदि कोई व्यक्ति चाहे कि वह खडे-खडे ही हथेली पर सरसो उगा ले, तो भला यह कैसे सम्भव है?

प्राचीन काल मे चम्पा नगरी मे जिनदत्त और सागरदत्त नामक दो श्रेष्ठिपुत्र रहते थे। मित्र थे। वचपन से ही साथ-साथ उठे-वैठे, खेले-कूदे और वडे हुए थे। उनका प्रत्येक कार्य एक दूसरे के साथ ही होता था। वे इतने घनिष्ठ थे आपस मे कि उन्हे दो शरीर और एक प्राण भी कहा जा सकता था।

एक दिन दोनो मित्र किसी उद्यान मे वैठे वातचीत कर रहे थे और प्रकृति की सुषमा का आनन्द ले रहे थे। उनके हृदय प्रेम और आनन्द के रस मे डूबे हुए थे। उसी समय उन्हे विचार आया कि आज तो वन-विहार किया जाय। ऐसे सुन्दर मौसम मे घर मे ही वन्द होकर वैठे रहने मे तो कोई आनन्द नही।

उसी नगरी मे उस समय देवदत्ता नामक एक वेश्या भी रहा करती थी। वह परम सुन्दरी थी और सगीत तथा नृत्य कला मे प्रवीण थी। रसिक एवं धनवान नगरवासियो के मन का अपनी कला एवं सौदर्य से रजन करना ही उसका व्यवसाय था। और राजा अजातशत्रु की उस सम्पन्न चम्पानगरी मे रसिको एवं धनपतियो की कोई कमी नही थी। अत देवदत्ता

के पास भी धीरे-धीरे अपार सम्पत्ति एकत्र हो गई थी। उसकी एक ही मुसकान एव लास्य-भंगिमा पर लोग बहुमूल्य रत्नो की वर्षा कर देते थे।

दोनो मित्रो को देवदत्ता की याद आई और अपने सेवको को नगरी से बाहर नन्दा नाम की पुष्करिणी मे वन-विहार की पूरी तैयारी कर देने के आदेश प्रदान कर वे शीघ्र ही देवदत्ता के महालय मे जा पहुँचे।

देवदत्ता को जब उन्होने अपनी योजना बताई तो वह प्रसन्न हुई ओर शीघ्र ही प्रस्तुत होकर बोली—

"चलिए, मैं प्रस्तुत हूँ। आप महानुभावो के साथ आज के इस आनन्दमय वातावरण मे वन-विहार करने से मुझे बडी प्रसन्नता होगी।"

रथो पर सवार होकर वे चल पडे। पुष्करिणी के किनारे बहुत समय तक वे आनन्द मे मग्न रहे। घूमते-फिरते एक स्थान पर जब वे पहुँचे तो एक मयूरी उनके पदचाप सुनकर भयभीत होकर एक स्थान से उडकर वृक्ष की शाखा पर जा बैठी। कुतूहलवश वे लोग उस स्थान पर पहुँचे जहाँ से मयूरी उडी थी। वहाँ उन्होने मयूरी के दो सुन्दर अडे देखे।

मित्रो के मन मे विचार आया कि इन अडो को ले जाकर पाला जाय और जब उनमे से मयूर के बच्चे प्रगट हो तो उन्हे पाल-पोसकर बडा किया जाय। यह सोचकर उन्होने वे अडे सावधानीपूर्वक उठा लिए ओर कुछ समय बाद देवदत्ता को विदाकर अपने घर लौट आए।

दोनो मित्रो ने एक-एक अडा ले लिया था। किन्तु सागरदत्त कुछ उतावले स्वभाव का था। वह प्रतिदिन अडे के पास जाता, उसे हाथ मे लेकर देखता, कानो के पास ले जाकर उसमे से कोई आवाज आ रही हे या नही, यह सुनने का प्रयत्न करता। संशय से भरा हृदय लिए वह सोचा करता—इस अडे मे से मयूर निकलेगा कि नही ? कब तक निकलेगा ? अब तक मयूर क्यो नहीं निकला ?

इस प्रकार अपने सशय, उतावलेपन और अधैर्य के कारण बार-बार अडे को उठाने-धरने से उसने उसे नष्ट कर दिया। अडा निर्जीव हो गया। उसमे से मयूर तो क्या, मयूर की टॉग भी नही निकली।

उधर जिनदत्त विवेकवान था। धैर्यवान था। उसे कोई संशय भी नही था कि अडे मे से मयूर निकलेगा कि नही। उसने सावधानी से उस अंडे को मुर्गियो के अंडो के बीच रख दिया था और उसे छूता तक नहीं था।

३६

बदला

किसी नगर मे कुछ क्षत्रिय परिवार थे। शस्त्रो के संचालन मे क्षत्रिय स्वभावत निष्णात हुआ करते है। यद्यपि उनकी शस्त्र-विद्या का उपयोग शत्रुओ से अपने देश की रक्षा के लिए ही होना चाहिए, किन्तु कभी-कभी मामूली सी ही बात पर भी वे अपने शस्त्रो का प्रयोग आपस मे भी कर बैठते थे।

एक बार किसी क्षत्रिय परिवार के एक सदस्य को कोई निर्मम हत्यारा मार गया। मृत व्यक्ति का भाई बडा दुखी हुआ और शोक मे डूब गया। इसकी माता भी अपने बेटे की हत्या से अत्यन्त दुखी थी।

किन्तु केवल दु ख करते रहने से तो कुछ आना-जाना नही था। बूढी माँ की नसो मे भी क्षत्रिय-रक्त था। वह वीर पत्नी ओर वीर माता थी। उसके परिवार मे तो पीढियो से प्राण लेने-देने का खेल ही मानो चला करता था।

कुछ समय शोक मे डूबे रहने के बाद उसे अपने क्षत्रिय-रक्त का और क्षत्रिय कुल की आन का भान आया। आहत सर्पिणी की भांति वह फुफकार उठी—

"बेटा! अब शोक का त्याग कर उठ खडा हो। तलवार उठा। तू मेरा पुत्र है। एक वीर क्षत्रियाणी का पुत्र है। तेरी नसो मे वीर क्षत्रियो का रक्त है। अपने शत्रु से बदला न लेकर इस प्रकार रोते-धोने बैठे रहना तो कायरो का काम है। तू कायर नही, वीर क्षत्रिय है। उठ, जाकर अपने शत्रु

से वदला ले। उसका शीष काट कर ला और मेरे चरणो मे रख। यदि तू ऐसा न कर सके तो फिर अपना मुख मुझे कभी न दिखाना।"

जन्म से ही वीरता के संस्कारो मे पले क्षत्रिय को होश आया। माता की ललकार ने सामयिक रूप से स्तब्ध हो गई उसकी आत्मा को झकझोर कर जगा दिया। एक सच्चे वीर की भाँति उसने अपने आँसू पोंछ दिए और नंगी तलवार लेकर प्रतिज्ञा की—

"माता! प्रतिज्ञा करता हूँ ओर तुझे वचन देता हूँ कि अपने भाई के हत्यारे को आकाश और पाताल जहाँ भी वह होगा, खोज निकालूंगा ओर उसका शीष काट कर तेरे चरणो मे रख दूंगा। यदि मैं ऐसा न कर सका तो समझना कि तूने मुझे जन्म ही नहीं दिया, तेरी कोख से कोई जीवित मनुष्य नही, पत्थर ही जन्मा था।"

माता के चेहरे से शोक के वादल दूर हो गए। जन्म और मृत्यु का खेल तो चलता ही रहता है। किन्तु शत्रु से भरपूर वदला लिए विना कैसा जीवन? उसने अपने पुत्र को आशीर्वाद देते हुए कहा—

"यशस्वी हो। मृत्यु का भय कायरो को होता है। तू मेरा वीर पुत्र है। जा, काल के समान अपने शत्रु को चारो दिशाओ मे से खोजकर सिंह के समान झपटकर उसका रक्त पी जा। उसका शीष काट कर ला।"

माता को प्रणाम कर क्षत्रिय वीर चल पडा। उसके क्रोधित मुख को देखकर एक वार तो दिशाएँ भी थर्राती-सी प्रतीत होती थी।

लेकिन वह कायर हत्यारा तो जाने कहाँ जा छिपा था? ग्राम-नगर-पर्वत-वन और रेगिस्तान, सभी स्थानो पर उसकी खोज उस क्षत्रिय ने की, किन्तु हत्यारा तो मानो अदृश्य होकर हवा मे जा मिला था। उसका कही भी कोई चिन्ह तक दिखाई नही दे रहा था।

किन्तु क्षत्रिय हार मानने वाला नही था। थकने वाला नही था। उसे तो वैर का वदला लिए विना जीना ही नही था। अनन्तकाल तक भी यदि भटकना पडे तो वह भटकेगा, किन्तु शत्रु को तो खोजना ही है, वदला तो लेना ही है

वारह वर्ष व्यतीत हो गए। आखिर एक दिन वह हत्यारा उस क्षत्रिय की दृष्टि से वच नही सका। उसे देखते ही क्षत्रिय की आँखो मे खून उतर

आया। उसने उसके भाई की हत्या तो की ही थी, वारह-वारह वर्ष तक भटकाया भी था। अव तो गिन-गिन कर वदला न लिया तो क्या किया ?

यह सोचकर क्षत्रिय ने हत्यारे की गर्दन पकड ली—"चल, नीच ! चल, हत्यारे ! अव तो तुझे अपनी माता के सामने ही यमलोक भेजूंगा ताकि उसका कलेजा भी ठण्डा हो।"

माता के सामने उस हत्यारे को पटक कर क्षत्रिय ने कहा—

"ले, माँ ! तेरे पुत्र के हत्यारे को पकड लाया हूँ। इस दुष्ट का शीप तू अपने ही हाथो से भुट्टे की तरह उडा दे।"

पुत्र ने तलवार अपनी माता की ओर वढाई। किन्तु माता ने तलवार पकडने के लिए हाथ नही उठाया। वह एकटक उस रोते-गिडगिडाते हत्यारे को देख रही थी और सुन रही थी—

"क्षत्रियाणी माँ ! तुम तो वीरमाता हो। मैं नीच हत्यारा हूँ। मुझे क्षमा कर दो। मेरे प्राण वचा दो। मै भीख माँगता हूँ। मेरे विना मेरी वूढी माँ विलख-विलख कर मर जायगी। मेरे छोटे-छोटे वच्चे भूख से तडप-तडप कर मर जायँगे। क्षत्रियाणी माँ ! तुम्हारे हृदय मे तो एक माता का ।"

क्षत्रिय-पुत्र ने क्रोध मे आकर एक ठोकर उस हत्यारे को मारी ओर कहा—"अव तुझे अपनी माँ और वच्चो की याद आई हे ? हत्यारे उस समय क्या हुआ था जव तूने मेरे भाई की हत्या की थी ? क्या उसके कोई माता नही थी ? कोई भाई नही था ? कोई वच्चे नही थे ?"

ठोकर खाकर हत्यारे का सिर भन्ना गया था। कुछ क्षण सास लेकर वह फिर गिडगिडाया—

"ठोकरें मारलो। और ठोकरे मारलो। जीवन भर ठोकरे मारते रहो मालिक ! मुझे अपना दास वनाकर रखो और ठोकरें मारते रहो। केवल मेरी जान न लो। मेरे वच्चों को अनाथ मत करो ।"

"वस वस, वेटा ! रहने दे। छोड दे। जाने दे इसे अपने वच्चो के पास···· ····।"

"क्या कहती हो माँ !"—क्षत्रिय ने अपनी माता की वात सुनकर कहा—"इसे जाने दूँ ? इसे जीवित ही जाने दूँ ? तुम होश मे तो हो ?

अपने वैर का वदला लिए विना, इसका शीप काटे विना इसे छोड दूं ?"

"हाँ, वेटा! छोड दे। मैं कहती हूँ, इसे छोड दे। क्षमा कर दे। तू अभी नही समझेगा, लेकिन मेरे शरीर मे एक माँ का हृदय हे। मै समझ सकती हूँ। जो होना था वह हो गया। गया हुआ समय ओर गया हुआ जीव फिर तो लौटता नही। अव इसे मारने से क्या मिलेगा ? तेरा भाई तो अव लौटकर आएगा नही ...।"

"लेकिन माँ! वेर का वदला ... ...।"

"वैर की यह परम्परा ही नष्ट कर देनी है। अन्यथा इसका कही अन्त ही नही होगा। इसी प्रकार हत्याएँ होती रहेगी। इसी प्रकार वालक अनाथ होते रहेगे, कुलवधुएं विधवा होती रहेगी, माताएँ पुत्रविहीना होती रहेगी। नही वेटा! छोड दे इसे। वदला पूरा हो चुका।"

'वदला पूरा हो चुका ?"—वात कुछ क्षत्रिय के समझ मे नही वैठी। हतवुद्धि होकर माँ की ओर देखता रह गया। किन्तु उसकी तलवार स्वत ही धीरे-धीरे म्यान मे चली गई।

सध्या को वीर क्षत्रियाणी ने अपने एक नही, दो वेटो को स्नेहपूर्वक भोजन कराया और फिर उनमे से एक को विदा करते हुए कहा—

"वेटा! अव कभी क्रोध न करना, हिंसा न करना, किसी को दु ख न देना। यदि तू ऐसा करेगा तो मैं समझूँगी कि वदला पूरा हुआ।"



३७

धर्म की शरण में

तेतलिपुर के राजा कनकरथ के राज्य मे एक स्वर्णकार रहता था। उसका नाम था कलाद और उसकी पत्नी थी भद्रा। उनकी एक पुत्री थी पोट्टिला। वह अनिद्य सुन्दरी थी।

राजा के अमात्य का नाम तेतलिपुत्र था। वह बडा योग्य और चतुर था।

एक दिन पोट्टिला स्नान-ध्यान के पश्चात् अपनी दासियो-सहेलियो के साथ अपने भवन की छत पर स्वर्ण-कन्दुक से क्रीडा कर रही थी। उसका अद्भुत रूप निखर रहा था। क्रीडारत युवती और आकर्षक लग रही थी।

उसी समय अपने घोडे पर सवार होकर अमात्य तेतलिपुत्र उस मार्ग से गुजरा। उसकी दृष्टि जब पोट्टिला पर पडी तब सौदर्य का शूल उसके हृदय मे गड गया। वह उस सुन्दरी पर उसी क्षण मोहित हो गया। अपने सेवको ने उसने पूछा—

"ऐसा रूप और यौवन मैंने अपने जीवन मे और कही नही देखा। यह सुन्दरी कौन है ?"

सेवको ने बताया कि वह स्वर्णकार कलाद की पुत्री है। इतना ही नही, उन्होने साथ ही यह भी कहा—"स्वामी! ऐसा प्रतीत होता है कि कुशल स्वर्णकार ने किसी सोने की सुन्दर पुतली का स्वय अपनी बेटी के रूप मे निर्माण किया है।"

अमात्य जो स्वय मोहित हो चुका था, और भी विचार मे डूवा और आगे वढ गया।

सध्या होते-होते तो अमात्य ने अपने अनुचर कलाद के पास भेज दिए और उसकी वेटी की मगनी करली। स्वर्णकार ने अपनी स्वीकृति सहर्ष प्रदान करते हुए कहा—

"मेरा परम सौभाग्य! मुझ गरीव की वेटी की माँग करके अमात्य ने मुझ पर वडी कृपा की है।"

शीघ्र ही अमात्य और पोट्टिला का विवाह हो गया। दाम्पत्य-जीवन आनन्द से चलने लगा।

राजा कनकरथ अजीव आदमी था। उसे अपने राज्य, धन और अधिकार का ऐसा लोभ था कि वह अपने पुत्रो को वडा होने से पूर्व ही विकलाग कर देता था कि कही कोई पुत्र वडा और योग्य होकर उसका राज्य उससे न छीन ले। प्राय ससार मे ऐसा होता है कि पिता अपने पुत्र को अपने से भी अधिक योग्य एवं गुणवान बना हुआ देखना चाहते है। इसी मे उन्हे अपने पितृत्व की सार्थकता दिखाई देती है। किन्तु राजा कनक-रथ की वुद्धि उल्टी दिशा मे दौडती थी।

राजा की इस वृत्ति से रानी वडी दुखी थी।एक वार जब जव गर्भवती थी तो उसने सोचा कि किसी प्रकार इस वार उत्पन्न होने वाली सन्तान को वचाना चाहिए। सोचते-सोचते उसने अमात्य से ही कोई उपाय खोजने के लिए कहा—"भाई, कुछ करो। राजा तो मेरे बच्चो को जीवित ही नही रहने देता। उनका अग-भग कर देता है। ऐसा जीवन भी कोई जीवन है? कोई न कोई उपाय करो जिससे इस वार मेरी सन्तान वच जाय।"

अमात्य विचार मे पड गया। उसे कोई उपाय सूझ नही रहा था। वोला—

"महारानी! इस समय मुझे कोई मार्ग दिखाई नही दे रहा। किन्तु मैं कुछ न कुछ तो अवश्य ही करूँगा। मुझे आपके साथ पूरी सहानुभूति है।"

"ऐसा करो अमात्य, कि इस वार पुत्र उत्पन्न होते ही तुम उसे मेरे पास से किसी न किसी प्रकार से ले जाओ, राजा की दृष्टि वचाकर, और चुपचाप, गुप्त रूप से उसका पालन करो। ईश्वर ने चाहा तो वह सकुशल

वडा होकर वृद्धावस्था मे मेरी सेवा करेगा।"—स्वयं रानी ने ही एक उपाय सुझाया। वात अमात्य को भी जच गई।

भाग्यवशात् रानी और पोट्टिला ने एक ही दिन पुत्र ओर पुत्री को जन्म दिया। रानी ने गुपचुप रूप से अमात्य को वुला भेजा और अपना नवजात शिशुपुत्र उसे सोपते हुए कहा—

"यह मेरी अमानत लो। इसे सुरक्षित रखना। भूलना नही कि यह तुम्हारी महारानी का पुत्र है, उसकी अमानत हे।"

"प्राण देकर भी इसकी रक्षा करूँगा।" यह वचन देकर अमात्य वालक को ले गया।

पोट्टिला ने मृत कन्या को जन्म दिया। उसे रानी के पास ले जाकर सूचना फैला दी कि रानी ने मृत कन्या को जन्म दिया हे। इस प्रकार राजा भी निश्चिन्त हो गया और रानी भी।

पोट्टिला रानी के पुत्र को अपने ही पुत्र के समान पालने लगी।

अमात्य ने पुत्र-जन्मोत्सव वडे ठाठ से मनाया। उसका नाम कनकध्वज रखा और उसका कारण यह वताया कि राजा कनकरथ के राज्य मे उत्पन्न होने के कारण ही यह नाम उसने पसन्द किया हे।

वालक वढने लगा। धीरे-धीरे वह सुन्दर युवक हो गया। सभी कलाओं मे पारंगत।

उधर मनुष्य का मन ही तो हे, जाने कव किस दिशा मे चल पडे। अमात्य, जो इतने उल्लास से पोट्टिला को अपनी पत्नी वनाकर लाया था, अव उससे विरक्ति प्रदर्शित करने लगा। उसका मन अपनी सुन्दरी पत्नी से भर गया था। पोट्टिला वेचारी के जीवन मे दुर्भाग्य का आरम्भ हुआ और वह दुखी हो गई, चिन्तित रहने लगी।

वैसे तेतलिपुत्र ने पोट्टिला पर कोई वन्धन नही रखा था। उसे दान-पुण्य करने की पूरी छूट थी और घर की स्वामिनी भी पति ने उसे वना रखा था। केवल प्रेम की सुवास उड गई थी। जीवन-पुष्प के रग तो दीखने मे ज्यो के त्यो थे। पोट्टिला इतने मे ही सन्तोष माने वैठी थी।

एक वार सुव्रता नाम की एक आर्या उस नगरी मे पधारीं। वे विदुषी थीं। उनका शिष्य परिवार भी वडा था वे ईर्या-समिति से युक्त ब्रह्मचारिणी थीं।

एक दिन उनकी अन्तेवासिनी साध्वियाँ भिक्षा हेतु तेतलिपुत्र के घर गई। आनन्दपूर्वक उन्हे आहार प्रदान करने के बाद पोट्टिला ने कहा—

"आर्याओ! अन्य सभी सुख उपलब्ध होते हुए भी मुझे एक कष्ट है। किसी समय मैं अपने पति को बडी प्रिय थी। किन्तु अब उतनी ही अप्रिय हो गई हूं। वे मेरा दर्शन तक करना नही चाहते, अन्य प्रसंग की तो बात ही व्यर्थ है। आप तो नाना स्थानो मे विचरण करती ह, जाती हैं। आपके पास अनेक प्रकार की ओषध-चूर्ण-गोली आदि होगी, या मन्त्र-तन्त्र होगे, जिनसे मैं अपने पति को अपनी ओर पुन आकर्षित कर सकूं। यदि हो तो कृपा करके दीजिए।"

उत्तर मिला—

"हम तो निर्गन्थ श्रमणियाँ है। ऐसा वचन सुनना भी हमे नही कल्पता है। दोष लगता है। हम तो तुम्हे धर्म का उपदेश ही दे सकती हे जिससे तुम्हे शान्ति मिले। तुम्हारी आत्मा का कल्याण हो।"

पोट्टिला ने कुछ क्षण विचार किया और फिर कहा—

"आप ठीक कहती है। मुझे धर्मोपदेश दीजिए।"

आर्याओ ने उसे धर्म का मर्म समझाया। उसका समुचित प्रभाव हुआ। पोट्टिला ने सत्य का साक्षात्कार किया और आर्याओ से श्राविका धर्म अंगीकार कर लिया। पूर्ण श्रद्धा से उस धर्म का पालन करती हुई वह जीवन-यापन करने लगी।

कुछ समय बाद उसे ससार से पूर्ण अरुचि हो गई और वैराग्य-रस ने उसके हृदय को सोच दिया। अपने पति से आज्ञा लेकर उसने आर्या सुव्रता से दीक्षा ले ली। शेष जीवन मे तप-ध्यान की आराधना कर अन्त मे मृत्यु को प्राप्त कर वह देवलोक मे देवता के रूप मे उत्पन्न हुई।

राजा कनकरथ भी समय आने पर इस संसार को छोड गया। अब राजा कौन हो? उस समय तेतलिपुत्र ने समस्त राज-पुरुषो के मध्य सत्य को प्रगट किया और कहा—

"राज्य का उत्तराधिकारी कनकध्वज है। वह राजा का ही पुत्र है। योग्य और गुणवान भी है।"

प्रजा जो चिन्तित थी, वह हर्ष मे डूब गई। कनकध्वज राजा बन गया। महारानी पद्मावती ने अपने पुत्र को आशीर्वाद देते हुए कहा—

"अमात्य के कारण ही तेरा जीवन है वे तेरे लिए पिता के ही तुल्य है। उनका सदा सम्मान करना।"

देवलोक मे पोट्टिला देव ने विचार किया कि तेतलिपुत्र को प्रतिबोध देना चाहिए। उसने बार-बार प्रयत्न भी किया किन्तु अमात्य सकेतो को ग्रहण न कर सका, वह राज्य-कार्य मे ही डूबा रहता। उसे प्रतिबोधित न होते देख पोट्टिल देव ने सोचा कि राजा अमात्य का बडा आदर करता है, अत. अमात्य भोग-विलास मे ही डूबा रहता है। किसी प्रकार राजा को अमात्य का विरोधी बनाना होगा, तभी उसे प्रतिबोध प्राप्त होगा। उस कार्य मे देव सफल भी हो गया।

अस्तु, एक दिन अमात्य जब राजा के पास पहुँचा तब राजा ने उसकी उपेक्षा की। अमात्य दुखी ओर चिन्तित होकर घर आया। मार्ग मे भी किसी ने उसकी ओर ध्यान नही दिया, घर पर भी उसकी उपेक्षा हुई। यह देख उसने आत्महत्या करने का निश्चय किया।

भयंकर कालकूट विष उसने पी लिया। पर कुछ भी नही हुआ।

तीक्ष्ण तलवार से उसने अपना गला काट लेना चाहा। पर कुछ भी नही हुआ।

अशोक वाटिका मे आकर उसने फाँसी लगा लेने की कोशिश की। पर कुछ भी नही हुआ। रस्सी ही टूट गई।

अब उसने एक बडी शिला अपनी गर्दन से बाधी और पानी मे कूद गया। पर अथाह जल छिछला हो गया।

आग जलाकर उसमे कूदा, पर अग्नि ही शान्त हो गई।

अमात्य विस्मित, चकित, निराश ओर दुखी।

सोचता है—कौन विश्वास करेगा कि मैंने मरने का इतना प्रयत्न किया, किन्तु कुछ भी न हुआ?

वह गहन विचारो मे डूब गया?

उसी समय देव प्रकट हुआ। पोट्टिला का रूप धारण कर, कुछ दूर खडे रहकर उसने कहा—

"हे तेतलिपुत्र! आगे खड्डा है और पीछे हाथी का भय है। दोनो बगलो मे सघन अन्धकार है। मध्य भाग मे बाणो की वर्षा हो रही है।

गाँव मे आग लगी है और वन धधक रहा है। अव आयुष्मान्! विचार करो—शरण कहाँ है ?"

तेतलिपुत्र विस्मित-विमूढ।

देव ने फिर पूछा, और तव वह वोल उठा—"धर्म ही शरण है—धर्म ही शरण है।"

"ठीक कहते हो। सयमी, तपी, जितेन्द्रिय पुरुष को कोई भय नही है। धर्म ही शरण है।"

देव अदृश्य हो गया।

तेतलिपुत्र को प्रतिवोध मिला।

शुभ परिणामो के उदय होने से उसे जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। पूर्व भवो का ज्ञान हो जाने के वाद उसने स्वयं ही महाव्रतो को अगीकार किया और विचरण करते हुए प्रमदवन मे आया। वहाँ अशोक वृक्ष के नीचे शान्तिपूर्वक विहार करते हुए उसे पहले अध्ययन किए हुए चौदह पूर्वों का सहज ही स्मरण हो आया।

शीघ्र ही तेतलिपुत्र अनगार ने शुभ परिणाम से ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय चार घाति कर्मों का नाश किया। उन्हे उत्तम केवलज्ञान और दर्शन की प्राप्ति हुई।

इस प्रकार तेतलिपुत्र ने वहुत समय तक केवलि अवस्था मे रहकर अन्त मे परम सिद्धि प्राप्त की।

जो धर्म की शरण मे आया, वह स्वयं ही संसार के समस्त प्राणियो का शरणदाता वन गया।

—ज्ञातासूत्र १४



३८

कर्म-चक्र

चम्पानगरी के सोम, सोमदत्त और सोममूर्ति वन्धुओ की पत्नियाँ थी नागश्री, भूतश्री तथा यक्षश्री । एक दिन नागश्री ने भोजन वनाया । कडवी लोकी थी । नागश्री जानती नही थी । साग जो बना वह कडवा, विषमय हो गया। उसने वह साग जैन मुनि धर्मरुचि को बहरा दिया, जिसके कारण दयामूर्ति मुनि की मृत्यु हो गई ।

लोगो को जव इस घटना का पता चला तव उन्होंने नागश्री को वहुत धिक्कारा। उसके घर वालो ने भी ऐसी स्त्री को घर मे रखना उचित नही समझा और निकाल वाहर किया। अपने जीवन के अन्तिम समय मे आर्त एवं रौद्र के ध्यान के कारण वह मृत्यु पश्चात् नरकगामी वनी।

अनेक जन्मो मे इसी प्रकार भटकते हुए एक जन्म मे वह चम्पानगरी मे ही सागरदत्त की पत्नी भद्रा की कूँख से उत्पन्न हुई। उसका नाम सुकुमालिका रखा गया। नाम के ही अनुरूप वह सुन्दर और सुकुमार थी, किन्तु विपकन्या थी। उसके पूर्व जन्मो के कुकृत्यो के परिणामो ने अभी उसको छोडा नही था।

उसका विवाह जिनदत्त सार्थवाह के पुत्र सागर से हुआ, किन्तु विष-कन्या होने के कारण सागर ने उसका त्याग कर दिया। इसी प्रकार किसी दरिद्र व्यक्ति के साथ जव उसका विवाह किया गया, तो वह भी उसे छोड भागा।

निदान निराश और दुखी होकर सुकुमालिका ने आर्या गोपालिका से दीक्षा ले ली।

एक वार सुभूति नामक उद्यान मे तप करते हुए उसने देवदत्ता नामक गणिका को पाँच पुरुपो के साथ क्रीडा करते देखा। उसकी सोई हुई वासनाएँ जाग उठी। उसने संकल्प किया कि यदि उसके तप का कोई भी फल हो, तो उसे भी पाँच पुरुपो का सयोग प्राप्त हो।

जीवन क्रम चलता रहा। एक जन्म मे वह द्रुपद राजा के घर कन्या वनकर जन्मी। उसका नाम द्रोपदी रखा गया। अवस्था प्राप्त होने पर जब उसका स्वयंवर रचा गया, तव वह पाँच पाण्डवो की पत्नी वन गई।

एक वार महर्षि नारद घूमते-घामते हस्तिनापुर आ पहुँचे। उपस्थित जन-समुदाय ने उनका स्वागत किया। किन्तु नारद को असंयत और अविरत जानकर द्रोपदी ने उन्हे नमस्कार तक नही किया। नारद तो जन्म का हठी और छली था। उसने वैर की गाँठ वाँध ली। द्रोपदी से वदला लेने का उसका निश्चय हो गया।

नारद अपरकंका नगरी के राजा पद्मनाभ के पास गया। द्रोपदी के रूप-गुण की प्रशसा कर वहुत-सी उल्टी-सीधी वाते की और देव की सहायता से द्रोपदी को वहाँ मँगा लिया।

पाण्डव परेशान और चिन्तित हो गए। किन्तु उनके सहायक थे श्रीकृष्ण। वासुदेव श्रीकृष्ण ने वस्तुस्थिति का पता लगाकर पद्मनाभ पर आक्रमण किया और युद्ध मे उसे परास्त कर द्रोपदी को लौटा लिया।

द्रोपदी को पाण्डवो के साथ रहते हुए अन्य अनेक प्रकार के कष्ट भी भोगने पडे। वस्तुत वे कष्ट स्वयं उसके अपने ही पूर्व कृत्यों के दुष्परिणाम थे।

अन्त मे पाण्डवो ने प्रव्रज्या ग्रहण की और साधना के मार्ग पर चलते हुए सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए। इसी प्रकार द्रोपदी भी आर्या वनी। अव उसने शुद्ध साधना की। उस साधना के वल से वह अन्त मे महाविदेह मे मुक्त होगी।

—ज्ञाता०



३८

त्याग का अर्थ

मनुष्य स्वय चाहे कोई अच्छा कार्य न कर सके, किन्तु यदि कोई दूसरा व्यक्ति कुछ अच्छा कार्य करता है तो वह जल उठता है और उसकी निन्दा करने लगता है—अरे, इसमे क्या रखा है, यह तो हम भी कर सकते थे।

कर सकते थे, किन्तु किया तो नही। वस्तुत: ऐसे व्यक्ति स्वय कुछ कर ही नही सकते। जो कुछ वे कर सकते है वह यही कि कुछ करने वालो की टाँग खीचकर उसे गिराने का प्रयत्न करे अथवा उसकी निन्दा करे।

एक कठियारा था। उसने गणधर सुधर्मा स्वामी का उपदेश सुना और आत्म-ज्ञान प्राप्त होने से प्रव्रज्या ग्रहण कर साधु-जीवन व्यतीत करने लगा। सदा अप्रमत्त रहकर कठोर साधना वह किया करता।

किन्तु जिनसे स्वयं कभी कोई त्याग हो नही सकता ऐसे कापुरुष लोग चुप कैसे बैठते? वे आपस मे उस श्रमण की निन्दा करके ही अपना नपुंसक पौरुष जताते—

"इस कठियारे को तो देखो, श्रमण बना है। हा भाई, और करता भी क्या? भूखा मरता था। खाने को दाने नही थे, तन ढकने को वस्त्र नही थे तो सोचा श्रमण ही बन जाओ। इस त्याग मे क्या रखा है। इसके पास था ही क्या जो बडा त्यागी बना फिरता है? ऐसा त्याग तो कोई भी कर सकता है।"

ऐसी निरर्थक बात उस श्रमण के कानो मे भी पड ही जाती थी। उसकी मन की शाति इससे भग होती थी। अत उसने सुधर्मास्वामी से विनय की—

"प्रभु ! मुझे अन्यत्र ले चलिए। यहा लोग बहुत-सी निरर्थक बाते कहते है।"

अभयकुमार को जब इस स्थिति का पता चला तो वह तुरन्त सुधर्मा स्वामी के पास पहुँचा। वह अत्यन्त बुद्धिमान व्यक्ति था। उस युग मे अभय-कुमार की तीव्र बुद्धि की समानता करने वाले व्यक्ति इने-गिने ही थे। उसने सुधर्मा स्वामी से कहा—

"आप तनिक भी चिन्ता न कीजिए तथा यहा से विहार भी न कीजिए। मैं इन लोगो की भ्रान्त धारणा का समुचित समाधान कर उन्हे सही मार्ग पर ला दूंगा।"

अब अभयकुमार ने रत्नो की तीन ढेरिया लगाई और नगर मे घोषणा कराई कि अभयकुमार रत्न-दान करेगे, इच्छुक व्यक्ति एकत्रित हो जायँ।

वे ही सब लोग जो श्रमण के त्याग की निन्दा करते थकते नही थे, लोभ के मारे हजारो की संख्या मे एकत्र हो गए।

अभयकुमार ने कहा—

"यह रत्न-राशि उसी व्यक्ति को दी जायगी जो अग्नि, जल और नारी का त्याग करेगा।"

लोभी और लालची और विलासी सब लोग कभी उस रत्न-राशि की ओर देखते तथा कभी अपने साथियो की ओर। किन्तु उनमे से एक भी ऐसा न था जो आगे आकर कहता कि मै इन तीन वस्तुओ का त्याग करता हूं। सभी यह सोच रहे थे—जल का त्याग कैसे हो ? जल तो जीवन है। अग्नि न होगी तो भोजन कैसे बनाएँगे ? और नारी के बिना रहेगे कैसे ?

गर्म लोहे पर जिस प्रकार हथोडा चोट करता है उस प्रकार गम्भीर स्वर मे अभयकुमार ने उस समय कहा—

मूर्खो ! केवल दूसरे की निन्दा करना ही सीखे हो ? लोभी इतने हो कि भिखारियो की तरह रत्न लेने चले आए। किन्तु तुममे से एक भी ऐसा

नहीं, किसी मे भी इतना साहस नही कि इन तीनो वस्तुओ का त्याग कर सके ?"

"केवल बढ-बढकर बाते बनाना ही सीखे हो, लेकिन समय आने पर कुछ कर सको ऐसा तुममे से एक भी नही है।"

"वस्तु छोटी हो या बडी, महत्व तो उस पर से ममत्व भाव हटाने का है। और यह कोई सरल बात नही है। सच्चे त्यागी ही ऐसा कर सकते है, तुम लोगो के वश की वह बात नही है।"

"जिस वस्तु का त्याग किया जा रहा है वह वस्तु प्रधान नही होती, त्याग की भावना ही प्रधान होती है। इस बात को अच्छी तरह समझ लो और किसी की निन्दा करके अपनी आत्मा पर कालुष्य की पर्ते मत चढाओ।"

"नागरिको ! जिसे तुम दरिद्र ओर कंगाल कहकर उसके त्याग की खिल्ली उडाते हो, जरा उसके हृदय की पवित्रता के पुनीत वैभव को देखो। उसने अपने मनोविकारो का त्याग किया है। क्या तुम ऐसा कर सके ? क्या तुम ऐसा कर सकते हो ?"

निरुत्तर, लज्जित वे सब लोग वहाँ से चुपचाप खिसक गए। उन्हे अपनी भूल समझ मे आ गई थी ओर वे जान गए थे कि त्याग का अर्थ क्या है।

—दशवैकालिक



४०

निरुत्तर जमाली

भगवान महावीर संसार-त्याग कर लोक-कल्याण की दृष्टि से धर्म का सदुपदेश देते हुए स्थान-स्थान पर विचरण कर रहे थे। उनके उपदेशो का प्रभाव ऐसा था कि उन्हे सुनकर लोगो को सच्ची आत्मिक शान्ति प्राप्त होती थी और वे धर्म की ओर उन्मुख हो जाते थे।

एक बार वे विचरण करते हुए कुण्डलपुर पधारे। उनकी बहिन सुदर्शना का पुत्र जमाली भी उनका उपदेश सुनने गया। विद्वान् था। अनेक कलाओ तथा धर्म नीतियो का उसे समुचित ज्ञान था। भगवान का उपदेश सुनकर वह इतना प्रभावित हुआ कि अपने साथ के पाँच सौ क्षत्रिय कुमारो के साथ उसने भगवान से दीक्षा ग्रहण कर ली।

उसकी पत्नी थी प्रियदर्शना। वह भगवान महावीर की पुत्री ही थी। जब उसने देखा कि पति ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली है, तब उसने भी पति के मार्ग का अनुसरण करना ही श्रेयस्कर समझा और अपनी एक हजार सहचरियो के साथ उसने भी दीक्षा ग्रहण कर ली।

इस विशाल मुनि-परिवार के साथ भगवान धर्मोपदेश देते हुए स्थान-स्थान पर विचरण करते रहे।

एक बार अनगार जमाली विहार करते हुए श्रावस्ती नगरी मे पहुँच कर वहाँ तिन्दुक उद्यान मे ठहरे। उस समय शरीर से वे बहुत दुर्बल हो चुके थे। अशक्ति इतनी आ चुकी थी कि चलना-फिरना तो दूर, वे बैठे भी नहीं रह सकते थे। अत उन्होने अपने शिष्यो से कहा—

"बहुत अशक्त हो गया हूँ। बैठना भी अब शक्य नही रहा। मेरे लिए शय्या तैयार कर दो।"

शिष्य शय्या तैयार करने लगे। कुछ समय लगना स्वाभाविक था। जमाली धैर्य न रख सके। अशक्ति के कारण धैर्य भी कम हो गया था। उन्होने पूछा—

इतना विलम्ब ? शय्या तैयार हो गई क्या ?"

"शय्या तैयार हो रही है, गुरुदेव ! अभी तैयार हुई नही।"

इस उत्तर को सुनकर जमाली विचार करने लगे—भगवान महावीर का कथन है कि जो कार्य प्रारम्भ हो चुका है, उसे किया ही समझना चाहिए। किन्तु यह तो सत्य प्रतीत नही होता। यह तो प्रत्यक्ष मे ही लोक-विरुद्ध दीखता है।

ऐसा सोचते-सोचते जमाली ने निश्चय किया कि भगवान जो कहते है वह सत्य नही है, सत्य तो मैने ही खोज निकाला है। उसके मन मे गर्व आया। उसने अपने शिष्यो से कहा—

"भगवान महावीर कहते है कि "जो कार्य प्रारम्भ हो गया है, उसे किया ही समझना चाहिए"—यह कथन ठीक नही है। मै कहता हूँ—कार्य की समाप्ति पर ही उसे 'कृत' अथवा किया हुआ कहा जा सकता है। कार्य को आरम्भ करते ही 'कृत' कहना गलत है।"

इस प्रकार उसने अपना नया सिद्धान्त गढ लिया और स्वतन्त्र होकर विचरण करते हुए वह अपने इन विचारो का प्रचार करने लगा। प्रियदर्शना ने भी जमाली के पक्ष को ही सत्य मान लिया और वह भी ऐसा ही प्रचार करने लगी। उन दोनो के बहुत से शिष्य और शिष्याएँ इस प्रकार के विरोधी प्रचार से असन्तुष्ट होकर भगवान के शासन मे चले गए।

समय व्यतीत होता रहा। एक बार प्रियदर्शना ढंक नामक एक कुम्भकार के यहा ठहरी थी। वह भगवान का भक्त था। प्रियदर्शना ने उसे अपने पक्ष मे लेने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु उसे तो भगवान् की बात ही उचित लगी और वह इस मे मस न हुआ। उसे दुःख भी था कि स्वयं भगवान की पुत्री ही उनके कथन मे अश्रद्धा रखने लगी है और विरोधी प्रचार करती है। सोचते-सोचते उसने प्रियदर्शना को सीधे मार्ग पर लाने का एक उपाय खोज ही लिया।

जिस समय प्रियदर्शना की शिष्याएँ स्वाध्याय मे निरत थी, उस समय ढक ने एक अगारा उनकी शाटी पर रख दिया। मालूम होते ही प्रिय दर्शना उसकी भर्त्सना करती हुई बोली—

"आर्य! यह क्या करते हो? हमारी शाटी जल गई है।"

ढक को इसी अवसर की तलाश थी। उसने कहा—

"आपके मत से आपकी बात ठीक नही है शाटी का अभी एक पल्ला ही जला है, पूरी शाटी नही जली। फिर 'शाटी जल गई' यह आप कैसे कहती है? यह वचन प्रयोग तो आपके मत के प्रतिकूल है।"

प्रियदर्शना ने सकेत को समझा और सत्य को भी समझ लिया। उसने अपने मिथ्या विचारो की आलोचना करके पुन. भगवान का शासन स्वीकार कर लिया।

जमाली ने जब यह सुना तो उसे एक धक्का-सा लगा। उसके अहं पर चोट पहुँची। वह श्रावस्ती से चम्पा पहुँचा और भगवान के समक्ष जा पहुँचा और कहने लगा -

"देवानुप्रिय! जब मैं आपके पास से गया था तब छद्मस्थ था। अब मैं सर्वज्ञ हूँ, केवली हूँ और जिन हूँ।"

गणधर गौतम भगवान के समीप ही बैठे थे। उन्होने जमाली से प्रश्न किया—

"यदि आप सर्वज्ञ है, तो बताइये कि यह लोक शाश्वत है या अशाश्वत? जीव शाश्वत है या अशाश्वत?

गणधर गौतम की ज्ञान गरिमा अद्भुत थी। जमाली हतप्रभ होकर मौन रह गया। कोई भी उत्तर वह न दे सका।

तब भगवान ने शान्त और मधुर वाणी मे कहा—

"जमाली! मेरा एक छोटे से छोटा शिष्य भी इन प्रश्नो का उत्तर दे सकता है। तुम वह भी न दे सके।"

जमाली के पास कोई उत्तर नही था, चुपचाप लौट आया। अनेक वर्षों तक उसने चारित्र का पालन किया। किन्तु अपने मिथ्या विचारो के कारण वह श्रद्धा-भ्रष्ट हो गया था। वह अपने जीवन का कल्याण नही कर सका। उसकी साधना निरर्थक हुई।

—भगवती ९।३३



४१

धन्य थे वे मुनि !

देवकी और वसुदेव की आँखो का तारा, कृष्ण का लाडला, सारी द्वारिका नगरी का दुलारा गजसुकुमाल धीरे-धीरे बचपन से यौवन मे प्रवेश कर रहा था। वह सुन्दर था, सुकुमार था—फूलो जैसा कोमल और सुन्दर। लोग कहते थे—इतना सुन्दर और होनहार बालक कभी देखा न सुना !

किन्तु वसुदेव, देवकी और कृष्ण को एक चिन्ता गजसुकुमाल के विषय मे सताया करती थी। उसके जन्म से पूर्व ही आकाशवाणी हुई थी—

'तरुणाई के मोड पर पहुँचते ही राजकुमार भिक्षु जीवन अगीकार करेगा।'

अत वे सब लोग उसे कही इधर-उधर नही जाने देते थे। उन्हे आशंका रहती थी कि राजकुमार किसी ऐसी वस्तु को न देख ले, ऐसे व्यक्ति से उसकी भेंट न हो जाय, कि जिससे उसका मन वैराग्य की ओर खिंच जाय।

किन्तु एक दिन कृष्ण की सारी चतुराई धरी की धरी रह गई।

भगवान नेमिनाथ द्वारिका पधार कर सहस्राम्र वन मे विराजे थे। देवकी और कृष्ण गजसुकुमाल से दृष्टि बचाकर उनके दर्शन के लिए जाने लगे। किन्तु गजसुकुमाल ने देख लिया और वह कृष्ण के समीप ही हाथी पर जा बैठा। विवश होकर उन्हे उसे अपने साथ ले ही जाना पड़ा।

मार्ग मे कृष्ण की दृष्टि एक भवन की छत पर अपनी सहेलियो के साथ क्रीडारत एक सुन्दरी बालिका पर पड़ी। वह बालिका कृष्ण को गज-

सुकुमाल के लिए सभी प्रकार से सुयोग्य जान पडी। उसने मन ही मन निश्चय किया कि इस बालिका के माता-पिता से उसको माँग वे करेंगे। वह बालिका सोमिल नामक ब्राह्मण की कन्या सोमा थी। अपने इस निश्चय को उन्होने कार्यरूप मे परिणत भी कर दिया। सोमिल ने अपना भाग्य सराहा और सहर्ष कृष्ण का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

भगवान के दर्शन कर जब सब लोग अपने-अपने घर लौटे तब गज-सुकुमाल अपना जीवन-ध्येय निश्चित कर चुका था। वैराग्य का दीपक उसके हृदय मे प्रज्वलित हो चुका था। और उसने अपना संकल्प सबके सामने प्रकट भी कर दिया।

बहुत समझाया गया, बडे-बडे प्रलोभन दिए गए, किन्तु गजसुकुमाल समस्त वैभव-विलास को एकबारगी ही तिलाजलि देकर अपने मार्ग पर चल पडा—उसने भगवान के समीप प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

और उसी दिन वह जीवन की सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त कर लेने के प्रयत्न मे भी जुट गया।

कैसा दृढ सकल्प था। कितनी अटल श्रद्धा थी। कैसा अद्‌भुत साहस था।

साध्य वेला थी। दिन भर उडानें भरने के बाद पक्षी अपने नीडो को लौट रहे थे। प्रकृति अद्‌भुत सध्या-राग मे डूबी थी।

उस पवित्र वेला मे मुनि गजसुकुमाल एक स्थान पर ध्यानस्थ खडे थे—जीवन और जगत से दूर, बहुत दूर, ऊपर, बहुत ऊपर अपने आत्मलोक मे लवलीन, समाधिस्थ।

उसी समय सोमिल ब्राह्मण उधर से गुजरा। उसने गजसुकुमाल को मुनिवेश मे देखा और सोचा—मेरा भावी जामाता इस वेश मे ? मेरी फूलो जैसी कोमल बेटी के जीवन के साथ यह खिलवाड ?

पिता का हृदय था, उसमे ठेस लगी, और क्रोध मे आकर अपना भान भूल गया।

भीषण अन्ध क्रोध से परिचालित होकर उसने समीप की तलैया से गीली मिट्टी निकाली और ध्यानस्थ तपस्वी के सिर पर पाल बाँधी। किसी जलती चिता से धधकते अगारे लाकर उसने उनके मस्तक पर रख दिए और वहाँ से भाग गया।

४१

धन्य थे वे मुनि !

देवकी और वसुदेव की आँखो का तारा, कृष्ण का लाडला, सारी द्वारिका नगरी का दुलारा गजसुकुमाल धीरे-धीरे बचपन से यौवन मे प्रवेश कर रहा था। वह सुन्दर था, सुकुमार था—फूलो जैसा कोमल और सुन्दर। लोग कहते थे—इतना सुन्दर और होनहार बालक कभी देखा न सुना !

किन्तु वसुदेव, देवकी और कृष्ण को एक चिन्ता गजसुकुमाल के विषय मे सताया करती थी। उसके जन्म से पूर्व ही आकाशवाणी हुई थी—

'तरुणाई के मोड पर पहुँचते ही राजकुमार भिक्षु जीवन अंगीकार करेगा।'

अत वे सब लोग उसे कही इधर-उधर नही जाने देते थे। उन्हे आशंका रहती थी कि राजकुमार किसी ऐसी वस्तु को न देख ले, ऐसे व्यक्ति से उसकी भेंट न हो जाय, कि जिससे उसका मन वैराग्य की ओर खिंच जाय।

किन्तु एक दिन कृष्ण की सारी चतुराई धरी की धरी रह गई।

भगवान नेमिनाथ द्वारिका पधार कर सहस्राम्र वन मे विराजे थे। देवकी और कृष्ण गजसुकुमाल से दृष्टि बचाकर उनके दर्शन के लिए जाने लगे। किन्तु गजसुकुमाल ने देख लिया और वह कृष्ण के समीप ही हाथी पर जा बैठा। विवश होकर उन्हे उसे अपने साथ ले ही जाना पडा।

मार्ग मे कृष्ण की दृष्टि एक भवन की छत पर अपनी सहेलियो के साथ क्रीडारत एक सुन्दरी बालिका पर पडी। वह बालिका कृष्ण को गज-

सुकुमाल के लिए सभी प्रकार से सुयोग्य जान पडी। उसने मन ही मन निश्चय किया कि इस वालिका के माता-पिता से उसको माँग वे करेंगे। वह वालिका सोमिल नामक ब्राह्मण की कन्या सोमा थी। अपने इस निश्चय को उन्होने कार्यरूप मे परिणत भी कर दिया। सोमिल ने अपना भाग्य सराहा और सहर्ष कृष्ण का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

भगवान के दर्शन कर जब सब लोग अपने-अपने घर लौटे तब गज-सुकुमाल अपना जीवन-ध्येय निश्चित कर चुका था। वैराग्य का दीपक उसके हृदय मे प्रज्वलित हो चुका था। और उसने अपना सकल्प सबके सामने प्रकट भी कर दिया।

वहुत समझाया गया, वडे-वडे प्रलोभन दिए गए, किन्तु गजसुकुमाल समस्त वैभव-विलास को एकवारगी ही तिलाजलि देकर अपने मार्ग पर चल पडा—उसने भगवान के समीप प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

और उसी दिन वह जीवन की सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त कर लेने के प्रयत्न मे भी जुट गया।

कैसा दृढ सकल्प था। कितनी अटल श्रद्धा थी। कैसा अद्‌भुत साहस था।

साध्य वेला थी। दिन भर उडाने भरने के बाद पक्षी अपने नीडो को लौट रहे थे। प्रकृति अद्‌भुत सध्या-राग मे डूबी थी।

उस पवित्र वेला मे मुनि गजसुकुमाल एक स्थान पर ध्यानस्थ खडे थे—जीवन और जगत से दूर, वहुत दूर, ऊपर, बहुत ऊपर अपने आत्मलोक मे लवलीन, समाधिस्थ।

उसी समय सोमिल ब्राह्मण उधर से गुजरा। उसने गजसुकुमाल को मुनिवेश मे देखा और सोचा—मेरा भावी जामाता इस वेश मे ? मेरी फूलो जैसी कोमल वेटी के जीवन के साथ यह खिलवाड ?

पिता का हृदय था, उसमे ठेस लगी, और क्रोध मे आकर अपना भान भूल गया।

भीषण अन्ध क्रोध से परिचालित होकर उसने समीप की तलैया से गीली मिट्टी निकाली और ध्यानस्थ तपस्वी के सिर पर पाल वाँधी। किसी जलती चिता से धधकते अंगारे लाकर उसने उनके मस्तक पर रख दिए और वहाँ से भाग गया।

भीषण उपसर्ग था। मुनि गजसुकुमाल का मस्तक जल रहा था। चमडी जल गई थी, धीरे-धीरे मास और मज्जा भी जलने लगे। जो वेदना उस समय तरुण तपस्वी को हुई होगी उसकी कल्पना भी दुष्कर है। वर्णन की तो बात ही क्या ?

किन्तु धन्य है उस योगी का धैर्य ओर धन्य है उसका क्षमा भाव !

मन के किसी गहन से गहन कोने मे भी, क्षणाश के लिए भी, तनिक भी वैर भाव नही, जरा-सा भी रोप या क्रोध नहीं, प्रतिशोध का विचार मात्र तक नही।

गजसुकुमाल मुनि ने देह ओर आत्मा के भेद को जान लिया था। वे आत्मा की विभाव परिणति से स्वभाव परिणति मे रम चुके थे। सुख ओर दु ख की सीमाओ को पार कर वे उस शाश्वत आनन्द की भूमि पर पहुँच गए थे जहाँ पहुँच कर आत्मा सब कुछ प्राप्त कर लेता है।

धन्य थे वे मुनि जो एक ही दिन मे साधक बनकर अजर, अमर और शाश्वत बन सके।

धधकते अंगारो से जब मस्तक जल रहा था तब उन मुनि ने अवश्य ही यह सोचा होगा—कोई किसी को कष्ट नही देता। अपने कर्मों का आत्मा स्वयं ही भोक्ता है। मेरे पूर्व कृत कर्म ही आज इस परिणाम के रूप मे प्रकट हुए है। अच्छा ही है, इन कर्मो को आज भस्म हो जाने दूँ ... ।

धन्य थे वे मुनि जो ऐसी भीपण और दारुण स्थिति मे भी ऐसी उच्च और पवित्र भावना भा सके होगे।

भगवान के चरणो मे श्रीकृष्ण बैठे थे। उन्होने पूछा—

"भगवन् ! गजसुकुमाल कहाँ है ? वन्दन करना चाहता हू।"

और अपने प्रश्न के उत्तर मे श्रीकृष्ण ने जो कुछ सुना वह उनके लिए अप्रत्याशित था। भगवान ने बताया—

"वह कृत-कृत्य हो गया, कृष्ण ?"

विस्मय-विमूढ कृष्ण कुछ क्षण तो यह समझ ही न पाये कि भगवान ने क्या कहा है। धीरे-धीरे जब शब्दो का अर्थ उनके मस्तिष्क तक पहुँचा तब वह कातर हो गये। उन्होने पूछा—

"भगवन् ! आपने यह क्या बताया ? क्या एक ही दिवस मे उस

छोटे-से, सुकोमल वाल-साधक ने साधना के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लिया ? यह कैसे हुआ, भते ?"

भगवान ने सारी घटना श्रीकृष्ण को वताई और कहा—

"आत्मा मे अनन्त वल है, कृष्ण ! ऐसा कुछ नही जो वह न कर सके।"

श्रीकृष्ण के शोक और विह्वलता की कोई सीमा न थी। उन्होने पूछा—

"कौन है वह अनार्य ? भते ! किसने यह दुष्कर्म करने का साहस किया है ?"

"तुम नगर मे प्रवेश करते ही उसे देख सकोगे।"—भगवान ने कहा।

श्रीकृष्ण भगवान को नमन कर चल पडे।

उधर सोमिल ने जव सुना कि श्रीकृष्ण भगवान नेमिनाथ को वन्दन करने गए है, तव वह भयभीत हो गया कि अव उसका पाप प्रगट होकर ही रहेगा। वह अपने प्राणो का मोह लेकर, भयभीत होकर भागा।

किन्तु नगर-द्वार के समीप ही उसने दूर से श्रीकृष्ण को गंभीर क्रोध की मुद्रा मे आते देखा और भयातुर होकर, पछाड खाकर भूमि पर गिर पडा। उसके पापी प्राण-पखेरू उड चुके थे।

द्वारिका के घर-घर मे गजसुकुमाल के अपूर्व, अद्‌भुत क्षमाभाव का यशोगान गूँज उठा।

—अन्त कृद्दशा



४२

मैं भिक्षु बनूँगा !

पोलासपुर की नगर वोथियो मे एक भव्य व्यक्तित्व वाले मुनि एक घर से दूसरे घर मे भिक्षा लेते हुए चले जा रहे थे। उनका मस्तक उन्नत, विशाल और कान्तिमय था। चमकते हुए नेत्रो से प्रेम, करुणा ओर शान्ति की अजस्र वर्पा हो रही थी।

अन्य कोई नही, ये गणधर गौतम ही थे।

वहुत से वालक इधर-उधर अपनी वाल-क्रीडा मे निमग्न थे। किसी ने गौतम को देखा, किसी ने नही देखा।

किन्तु एक बालक ने उन्हे ऐसा देखा कि उसके जोवन मे से फिर वह व्यक्तित्व कभी निकल ही न सका।

वह वालक वडा सुन्दर, सुकुमार और तेजस्वी दिखाई देता था। गौतम को देखकर वह अपना खेल भूल गया। एक अज्ञात आकर्षण ने उसकी आत्मा को खीच लिया। अपने साथियो को छोडकर वह दोडा-दोडा गौतम के पास आया और पूछने लगा—

"आप कौन है ?"

गौतम ने मन्द मुसकान विखेरते हुए कहा—

"मैं एक भिक्षु हूँ। वस, मेरा तो इतना ही परिचय है।"

किन्तु वालक की जिज्ञासा इतने उत्तर से शान्त नही हुई। उसने और पूछा—

"तो आप क्या कर रहे है ? इन घरो मे क्यो घूम रहे हे ?"

"वत्स! मै भिक्षा लेने के लिए इन घरो मे जाता हूं।"

वालक ने सोचा कि मुनि को वडा कष्ट हो रहा है, घर-घर मे घूमना पड रहा है। वह तुरन्त वोला—

"आप हमारे घर चलिए। मेरी माता आपको खूब भोजन देगी।"

गौतम इस वालक के स्नेह ओर भक्ति के आगे विवश से हो गए। वालक ने उनकी अँगुली पकड ली और ले चला अपने घर की ओर।

वह वालक पोलासपुर का राजकुमार अतिमुक्त था। जव वह गौतम को लेकर महल मे पहुँचा तो रानी वडी प्रसन्न हुई। उसने गौतम को भिक्षा प्रदान की। उन्होने अपनी मर्यादा के अनुसार भिक्षा ली और बालक अतिमुक्त के उत्तम सस्कारो से प्रसन्न हो लौटने लगे। तभी अतिमुक्त ने पूछा—

"मुनिवर! अव आप कहाँ जा रहे हे?"

गौतम ने जव वताया कि वे नगर से वाहर अपने धर्मगुरु के पास जा रहे है तो अतिमुक्त भी उनके दर्शन करने के लिए उतावला हो गया। उसके वाल मन मे विचार उठ रहा था—ऐसे भव्य मुनिराज के धर्मगुरु कैसे महान् होगे? उनके दर्शन तो अवश्य ही करने चाहिए। उसने कहा—

"मुझे उनके दर्शन करने ले चलिए।"

अतिमुक्त गौतम के साथ प्रभु के पास आया। गौतम ने प्रभु को वन्दन किया। अतिमुक्त ने भी उसी प्रकार भक्तिभाव से प्रभु को वन्दन किया। प्रभु ने उसे अपनी मधुर वाणी मे उपदेश दिया।

अतिमुक्त के जीवन की दिशा मे एक परिवर्तन का आरम्भ तो गणधर गौतम के दर्शन के साथ ही हो चुका था, अव प्रभु का उपदेश सुनकर वह पूर्णता को पहुँच गया। अतिमुक्त ने अटल सकल्प कर लिया कि वह भी वैसा ही वनेगा जैसे गौतम हे, जैसे प्रभु है।

घर आकर उसने अपना निश्चय अपने माता-पिता को कह सुनाया—मैं भिक्षु वनूँगा।

माता-पिता ने इसे वालक के मन की एक क्षणिक-मौज समझा। कोई सामान्य-सा उत्तर देकर वे उसे खेलने-कूदने के लिए कहने लगे। किन्तु अतिमुक्त अपनी वात पर अडा रहा। उसने कहा—मैं तो भिक्षु वनूँगा।

माता-पिता अव थोडा चाके। कुछ चिन्तित भी हुए। उसे समझाते हुए कहने लगे—

"बेटा! तू कैसी वचपने की वात करता है। भिक्षु वनना कोई वच्चो का खेल है? यह तो वडा कठिन कार्य है, वत्स! जो अगारो पर चल सकता हो, वही भिक्षु वन सकता है। जाओ, तुम तो खेलो-कूदो।"

किन्तु उस तेजस्वी ओर निर्भय वालक को वहलाना अव किसी के वश की वात नही थी। उसका तो एक ही संकल्प और एक ही कथन था—मैं भिक्षु वनूँगा।

अपने माता-पिता की सारी वातो को सुनकर उसने यही कहा—"पूज्य! मेरा निश्चय अटल है। अपनी शक्ति को मै जान चुका हूं। मै अगारो पर चल सकता हूँ। असिधारा से खेल सकता हूँ। कोई भी भय मुझे अपने मार्ग से डिगा नही सकता—मैं भिक्षु वनूँगा।"

उस अडिग संकल्पवान आत्मा के समक्ष किसी की कुछ भी न चली। माता-पिता ने विवश होकर उसे मुनि-जीवन मे जाने की आज्ञा दी, किन्तु उससे पूर्व एक वार सिंहासन पर आसीन होने के लिए आग्रह किया।

अतिमुक्त ने अपने पूज्य माता-पिता के इस आग्रह को निर्विकार भाव से स्वीकार किया ओर उसके वाद भगवान के पास प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

वाल-मुनि अतिमुक्त भगवान के साथ साधना करते हुए विचरण करने लगा। गम्भीरता और विवेक उसमे जन्मजात थे। अव उसके ये गुण और भी विकसित होने लगे।

फिर भी वालक तो वालक ही है। अवस्था का प्रभाव तो मनुष्य पर पडता ही है। एक-वार वर्षा काल था। स्थविरो के साथ अतिमुक्त श्रमण भी विहार भूमि को निकला था। स्थविर इधर-उधर विखर गए थे। अतिमुक्त ने देखा कि पानी कल-कल, छल-छल करता वह रहा है। वचपन के सस्कार उभर आए और उसने मिट्टी की पाल वाँधकर पानी को रोक लिया। छोटा-सा तालाव वन गया। अपना पात्र उसने उस जल मे छोड दिया आर नौका की कल्पना करता हुआ प्रसन्नता से झूम उठा।

वाल-मुनि की काल्पनिक पात्र-नोका जल की सतह पर थिरक-थिरक कर चल पडी ।

और वाल-मुनि मग्न होकर गाने लगे—'तिर मेरी नैया, तिर रे तिर ।'

स्थविरो ने देखा और साधु-मर्यादा के विपरीत इस आचरण से वे रुष्ट हुए । उनका रोप उनके मुख पर प्रकट हो रहा था ।

अतिमुक्त श्रमण ने स्थविरो का यह रोप देखा । वाल-सस्कार विलीन हो गए । विवेक पुन स्वस्थान पर आ गया । अपनी भूल पर अतिमुक्त ने पश्चात्ताप किया और आलोचना द्वारा उनका हृदय फिर से पवित्र हो गया ।

स्थविरो ने भगवान के समीप पहुँच कर प्रश्न किया—

"भगवन् ! यह लघु साधक अतिमुक्त कितने भवो मे मुक्त होगा ?"

भगवान सर्वज्ञ थे । उन्होने शान्त भाव से वताया—

"अतिमुक्त इसी भव मे मुक्त होगा । वह स्वच्छ है, पावन है, विमल है । छोटा समझकर उसकी उपेक्षा न करो, स्थविरो ! उस पर क्रोध और रोप न करो । अतिमुक्त देह से लघु है, किन्तु विचारो से महान् है । उसकी आत्मा निर्विकार है । वह पूज्य और आदरणीय है । तुम से बने उतनी उसकी सेवा करो ।"

भगवान के वचनो मे अचल श्रद्धा रखने वाले स्थविर शान्त और मौन होकर उनकी वाणी सुन रहे थे । भगवान ने और भी स्पष्ट करते हुए कहा—

"स्थविरो ! तुम साधना की भूमि मे हो । इस भूमि मे देह की पूजा नही की जाती, गुणो की ही पूजा की जाती है । यह अतिमुक्त अवस्था से वालक है, देह से छोटा है । किन्तु विचार इसके गम्भीर और उच्च हे । सागर से भी गम्भीर और हिमालय से भी उच्च । अत स्थविरो ! उसकी उपेक्षा न करो, उस पर रोप न करो । वने उतनी उसकी सेवा करो ।"

स्थविरो ने भगवान की आज्ञा को शिरोधार्य किया ।

और अवस्था मे छोटा-सा साधक अतिमुक्त अव पूरी लगन, एकान्त

श्रद्धा ओर एकनिष्ठ ध्यान से उन स्थविरो के पास ग्यारह अंगो का अध्ययन करने लगा। उसके व्यवहार मे पूर्ण विनय ओर भक्ति थी।

अतिमुक्त ने कठोर तप किया। सम्पूर्ण संयम का पालन किया। इस तप ओर संयम के कारण उसकी छोटी-सी कोमल देह धीरे-धीरे अशक्त हो गई, मुरझा गई।

गुण-संवत्सर तप की लम्बी साधना से तो देह ओर भी अधिक क्षीण हो गई। अतिमुक्त ने पीछे मुडकर देखा ही नही। वह अपने तप के मार्ग पर निरन्तर अग्रसर होता ही चला गया।

ओर अन्त मे विपुलगिरि पर सलेखना कर वह मुक्त हुआ।

—अन्त कृद्दशा



४३

परीक्षा

जीवन एक सग्राम है। इस जीवन-संग्राम मे जो वीर विजयी वनना चाहते है, उन्हे पग-पग पर कठिन परीक्षा देनी होती है और संघर्ष करना पडता है। इस सघर्ष और परीक्षा मे जो नर वीर उत्तीर्ण होते हैं, वे ही मनुष्यो की प्रसशा और पूजा के पात्र वनते है।

सुभद्रा एक ऐसी ही धर्मवीर महिला थी। विदुषी भी थी। अपने जैन धर्म मे उसे दृढ और अचल श्रद्धा थी। उसके पिता जिनदत्त चम्पा-नगरी मे रहते थे और उनकी यह प्रतिज्ञा थी कि अपनी गुणवती कन्या का विवाह वे किसी ऐसे ही युवक से करेंगे जो जैन धर्मावलम्बी होगा।

सयोगवश सुभद्रा के रूप-गुण पर एक बौद्ध युवक मोहित हो गया। वह किसी भी मूल्य पर सुभद्रा से विवाह करना चाहता था। धीरे-धीरे सुभद्रा के गुणो से प्रेरित होकर तथा जैन धर्म की गहन उदात्तता से प्रभा-वित होकर उसने जैन धर्म अगीकार कर लिया।

सुभद्रा का विवाह उस युवक से हो गया। वे दोनो सुखी थे। किन्तु सुभद्रा के सास-ससुर वौद्ध थे। इसलिए सास सदैव अपनी बहू मे दोप ढूंढने का ही प्रयत्न किया करती थी। उसे जैन धर्म से ही मूल मे द्वेप था।

एक वार सास को नीचा दिखाने एवं अपमान करने का अवसर भी हाथ लग गया। यह दूसरी वात है कि सत्य और धर्मनिष्ठा के समक्ष उसकी एक न चली।

हुआ यह कि एक जिन-कल्पी श्रमण नगर मे पधारे। सुभद्रा उनके आगमन के समाचार सुनकर हर्षित हुई। दर्शन करने गई। वन्दन किया। उसी समय उसने देखा कि मुनि की एक आँख मे तिनका गिर गया है, उससे मुनि को बडी पीडा है। सुभद्रा ने आहिस्ते से, कुशलता से अपनी जीभ से मुनि की आँख का तिनका निकाल दिया। ऐसा करते समय उसके भाल पर लगा सिन्दूर मुनि के भाल पर भी लग गया।

सास-ननद को सुभद्रा के माथे कलक लगाने का अवसर मिल गया। उन्होने सुभद्रा के चरित्र पर दोषारोपण करना प्रारम्भ किया। सुभद्रा का पति शकित हुआ। उसने अपनी पत्नी से कहा—

"मैं यह क्या सुन रहा हूं ? तुम्हारे चरित्र मे इतना बडा दोष होगा, यह मैंने नही सोचा था। क्या तुम्हारे जैन धर्म ने तुम्हे यही शिक्षा दी है ?"

सुभद्रा को दु ख हुआ। किन्तु उसने शान्तिपूर्वक सारी सच्ची बात अपने पति को बताते हुए कहा—

"आपकी शका निर्मूल है। मेरा चरित्र निर्मल है। पूज्य मुनिवर की पीडा को दूर करना मेरा धर्म था। मैंने धर्म का ही पालन किया है। मन मे भी कोई अन्यथा भाव नही आया।"

किन्तु पति के कान भरे जा चुके थे। अत उसने अपनी पवित्र पत्नी की बात को सत्य नही माना। वह फिर से बौद्ध बन गया।

सुभद्रा के लिए परीक्षा की घडी उपस्थित हुई। और वह वीर, धर्म-निष्ठ, निष्कलंक नारी उस परीक्षा के लिए प्रस्तुत हो गई।

परीक्षा थी—छलनी में पानी भरकर ले आना होगा ओर नगर के द्वार बन्द रहेगे।

कठोर परीक्षा थी। किन्तु जो सत्य पर स्थित है, उसे चिन्ता क्या ?

सुभद्रा जब छलनी मे पानी भरकर चली तो जन-समुदाय अवाक्, एकटक देखता रह गया—एक भी बूँद पानी उस छलनी मे से नही गिरा। ओर नगर के द्वार एक-एक कर स्वत ही खुलते चले गए, मानो उन द्वारो पर अदृश्य देवता द्वारपाल के रूप मे नियुक्त हो, और सती नारी का स्वागत करने हेतु वे द्वार उन्मुक्त करने जा रहे हो।

यह विस्मयपूर्ण बात देखकर सारा नगर हर्ष और उल्लास से जय-घोष करने लगा—

'सती सुभद्रा की जय ।'
'जैन धर्म की जय ।'

सुभद्रा को कोई अहकार नही था। वह सदा की भाँति धीर, गम्भीर और प्रशान्त ही बनी रही।

उसके सास-ससुर-ननद लज्जित हुए। जैन धर्म को अगीकार कर अब वे गौरव से नगरजनो से कहते—

"हमारी वहू साक्षात् देवी है। सती श्रेष्ठ है।"

सुभद्रा का पति भी पुन सद्धर्म मे खिचा चला आया। वह कहता—

"क्षमा नही करोगी, सुभद्रे ? मुझ से बडी भूल हुई थी। पाप हुआ ..।"

सुभद्रा शान्त स्वर मे उत्तर देती—

"धर्म मे श्रद्धा रखनी चाहिए, स्वामी! धर्म मे अश्रद्धा ही पाप है।"



४४

चोर और साहूकार

मगध की राजधानी राजगृही मे धन्ना श्रेष्ठि रहते थे। उनकी पत्नी भद्रा तथा वे दोनो ही धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। सम्पत्ति तो उनके पास अथाह थी। उसका सदुपयोग भी वे करते थे। उनके द्वार से कभी कोई याचक खाली हाथ नही जाता था।

भगवान महावीर ने जिस नगरी मे चोदह चातुर्मास व्यतीत किए हो, उस नगरी के पुण्य का क्या कहना ? वह नगरी तो इन्द्र की अमरावती को भी पीछे छोड देती थी। उस नगरी मे अभाव थे ही नही।

किन्तु श्रेष्ठि को कोई सन्तान नही थी। उनके तथा भद्रा के लिए यह दुःख हिमालय जितना वडा था। सब कुछ था, किन्तु जैसे कुछ भी नही था। अपनी सूनी कोख देख-देखकर भद्रा आठ-आठ आंसू वहाया करती थी। किन्तु उपाय क्या था ?

एक दिन भद्रा ने श्रेष्ठि से कहा—

"प्राणनाथ ! सन्तान के अभाव मे अव तो जीना ही व्यर्थ प्रतीत होता है।"

श्रेष्ठि ने अपनी पत्नी की पीडा को समझा और उसे आश्वासन देने के लिए वोले—

'प्रिये ! मै तुम्हारे कष्ट को समझ सकता हू। मै स्वय भी इस अभाव के कारण कम दुखी या चिन्तित नही हू। किन्तु दु ख अथवा चिन्ता

करने से तो कुछ हाथ लगता नही। यदि कोई उपाय होता तो मै अवश्य करता। किन्तु यह तो अपने हाथ की बात ही नही। जहाँ विवशता है वहाँ धैर्य ओर सन्तोप धारण करने के अतिरिक्त ओर क्या किया जा सकता है ?"

श्रेष्ठि ठीक ही कहते थे। भद्रा भी यह जानती थी। लेकिन इन वचनो से वह सन्तुष्ट नही हो पाती थी। वह बोली—

"स्वामी! एक वार और प्रयत्न करके देखना चाहिए। आप आज्ञा दे तो मै नागभूत यक्ष के देवालय मे जाकर उसकी पूजा-आराधना करूँ। कौन जाने यक्ष प्रसन्न होकर पुत्र का वरदान मुझे दे ही दे ?"

पति से आज्ञा लेकर भद्रा ने यक्ष की उपासना की और उसके पुण्यो का उदय ही मानना चाहिए कि वह कुछ समय बाद गर्भवती हुई।

समय आने पर उसके पुत्र उत्पन्न हुआ। नाम रखा गया देवदत्त। पति-पत्नी का ससार अब हरियाला हो गया। उनके सुख की सीमा न रही।

वालक द्वितीया के चन्द्र के समान वृद्धि पाने लगा। उसे खिलाने और उसकी सार-सम्हाल करने के लिए श्रेष्ठि ने एक सेवक नियुक्त किया था—पथक। वह चतुर था। वालको के मन को समझने वाला था।

एक दिन भद्रा ने वालक को पंथक के साथ खेलने भेजा। किसी स्थान पर अन्य वालको के साथ खेलने के लिए उसे छोडकर पथक पास ही वैठ गया। वालको का खेल चलता रहा।

उस समय राजगृही नगरी के वाहर किसी सुनसान, भयानक खडहर मे एक चोर रहा करता था। उसका नाम था विजय। वह अपने चौर-कर्म मे तो निष्णात था ही, साथ ही वह वडा ही क्रूर और निर्दयी भी था। उसके मुख की आकृति ही उसके हृदय की कठोरता और भीपणता को प्रगट करती थी। भयानक अंगारो जैसी आँखे, रूखे, विखरे हुए वाल, घनी, डरावनी दाढी।

विजय चोर से पार पाना वडा कठिन था। यदि वह एक वार किसी के धन को चुराने का निश्चय कर लेता तो फिर उस धन का स्वामी चाहे सात तालो मे ही उसे रख ले, किन्तु विजय चोर उसे चुरा ही लेता।

भीषण से भीषण कर्म करके भी उस चोर को न पश्चात्ताप होता था न कोई आत्म-ग्लानि। यहाँ तक कि धन के लिए वह किसी की हत्या भी अत्यन्त निर्ममता से कर सकता था।

उसी दुष्ट और दक्ष विजय चोर की दृष्टि चोरी के लिए नगर मे घूमते हुए देवदत्त पर पड गई। वात की वात मे वह देवदत्त को चुराकर नगर से वाहर दूर भयानक स्थल पर ले गया। वह स्थल किसी समय कोई सुन्दर उद्यान रहा होगा। किन्तु अव तो वह उजाड, सुनसान और भयोत्पादक वन गया था। कभी कोई व्यक्ति उधर जाने का साहस ही नही करता था। दिन रात वहाँ एक डराने वाली नीरवता व्याप्त रहती थी। आपस मे उलझे हुए अनेकों झाड-झंखाडो से परिपूर्ण उस बीहड स्थान पर एक पग रखना भी कठिन था। अनेक वन्य प्राणी वहाँ दिन-दहाडे विचरण किया करते थे और भयंकर विषधरो का फूत्कार दिशाओं मे गूंजा करता था।

निर्दयी विजय चोर ने उस भयावह स्थल पर जाकर देवदत्त को मार डाला और उसके आभूषण लेकर वह उस विकट स्थल पर मालुक नामक अन्धकारमय कच्छ मे जा घुसा।

उधर कुछ देर बाद पंथक का ध्यान जब बालकों की ओर गया तो उसे देवदत्त कही दिखाई नही दिया। उसके तो पैरो तले से धरती ही खिसक गई। चारो ओर उसने वालक को खूब ढूंढा। ढूंढते-ढूंढते वह थक गया और अन्त मे निराश हो गया। भय से और दु ख से कॉपता हुआ आखिर वह घर लौटा।

पंथक को अकेला देखकर भद्रा ने विकल होकर पूछा—

"देवदत्त कहाँ है? अरे, मेरा देवदत्त कहाँ है? तू अकेला कैसे लौटा? वोल, वोल मेरे बेटे को कहाँ छोड आया तू?"

बेचारे पंथक के तो वोल ही नही फूटे। वह रोता ही चला गया, कॉपता ही खडा रहा। भद्रा ने उसे पकडकर झकझोर दिया और चीखी—

"वोलता क्यों नही? देवदत्त कहाँ है? क्या तू गूंगा हो गया है? वोल, वोल।"

किसी प्रकार साहस बटोर कर पथक वोला—

"माँ ! मुझे मार ही डालो। मुझसे ऐसी ही भूल हुई है। मेरा ध्यान चुराकर कोई पापी देवदत्त को चुरा ले गया । ।"

सुनते ही भद्रा मूर्च्छित हो गई। श्रेष्ठि के हाथो के तोते उड गए। उन्हे लगा मानो आसमान थर्रा कर भूमि पर आ गिरा है और धरती डोल रही है।

सैंकडो सेवक चारो दिशाओ मे दौड पडे। नगर का कोना कोना, गली-गली छान मारी गई, श्रेष्ठि स्वय पागलो की भाँति सारे नगर मे 'देवदत्त-देवदत्त' पुकारते दौडते रहे। नगरवासी उनकी यह हालत देखकर दुखी हो गए। सारी नगरी ही मानो देवदत्त को खोजने निकल पडी।

किन्तु अव देवदत्त था कहाँ जो मिल जाता ? वह तो विजय चोर के हाथ पड चुका था।

कोतवाल को भी सूचना दी गई। वह राजगृही का कोतवाल था। अपने कार्य मे वह भी दक्ष था। शस्त्रो से सज्जित होकर वह तुरन्त निकल पडा। खोजते-खोजते वह उसी विकट स्थल पर जा पहुँचा जहाँ विजय चोर ने वालक की हत्या करके उसके शव को एक अँधेरे कुएँ मे डाल दिया था। वालक का शव खोज लिया गया। उसे देखकर श्रेष्ठि जीवित रहते हुए भी मृतवत् ही हो गए। उनकी दुनियाँ ही उजड गई थी।

कोतवाल ने पैरो के निशान खोजकर विजय चोर का पीछा किया ओर उस भीपण और सघन मालुक कच्छ मे विजय चोर को जा पकडा।

सारी नगरी मे हाहाकार मचा देने वाले उस दुष्ट चोर को भारी सजा देकर कडे पहरे मे कैदखाने मे वन्द कर दिया गया।

× × ×

समय वलवान है और उसकी गति विचित्र है।

एक वार धन्ना सार्थवाह से कोई अपराध हो गया, अथवा कहिए कि उसे अपराधी मान लिया गया। राजा ने न्याय करते हुए उन्हे भी कारावास का दण्ड दिया। सयोगवश उन्हे भी उसी कक्ष मे स्थान मिला जहाँ कि विजय चोर वन्द था। इतना ही नही, उन्हे और विजय चोर को एक साथ हाथ-पैर वाँधकर वेडियो मे जकड दिया गया।

भोजन के समय सेठ के लिए घर से भोजन आया। चोर ने भी भोजन माँगा तो दु खी और जले-भुने सेठ ने कटु उत्तर दिया—

"अरे दुष्ट ! तेरी निर्लज्जता की भी कोई सीमा है ? पापी ! हत्यारे ! निर्दयी ! तूने मेरे इकलौते, फूल-से पुत्र की हत्या की और अब मुझसे भोजन माँगता है ? तू भूख से घुल-घुल कर मर जाय तब भी मैं तुझे एक ग्रास भी अन्न तथा एक बूँद भी पानी नही दूँगा।"

सेठ ने भोजन कर लिया। चोर देखता रहा।

कुछ समय बाद सेठ को शौच से निवृत्त होने की आवश्यकता हुई। चोर और साहूकार एक ही बेडी मे जकडे थे। जाये तो दोनो जाये। अकेला कोई कैसे जाय ? सेठ ने चोर को चलने के लिए कहा तो उसने साफ इकार कर दिया—

"भोजन तो अकेले ही डकार गए, अब मुझे साथ चलने को कहते हो ? मुझे शंका नही है। आप ही पधारिए।"

कुछ समय तक श्रेष्ठि ने सब्र किया किन्तु कब तक ? आखिर उन्होने बडी दीनता से चोर से प्रार्थना की। तब चोर का दाँव आया। उसने कहा—

"प्रतिदिन अपने भोजन मे से आधा भोजन मुझे देने का वचन दो तो मैं तुम्हारे साथ चलूँ। अन्यथा जो खायगा, वही जायगा। मुझे क्या गरज ?"

श्रेष्ठि को विवश होकर चोर की शर्त स्वीकार करनी ही पडी।

दूसरे दिन जब सेठ के सेवक ने देखा कि सेठजी अपने भोजन मे से आधा भोजन अपने पुत्र के हत्यारे को दे रहे है तो वह बडा दु खी हुआ। उसने घर पर आकर सारी बात भद्रा से कही। भद्रा भी यह जानकर बहुत दु खी हुई। लेकिन करती क्या।

कुछ समय पश्चात् जब श्रेष्ठि कारागार से मुक्ति पाकर घर लौटे तब भद्रा ने उनसे बात तक नही की। उसका हृदय जल रहा था। श्रेष्ठि का सारा उत्साह ठण्डा पड गया। उन्होने पूछा—

"भाग्यवान ! मैं कारागार से मुक्त होकर आया हूँ। तुम्हे तो प्रसन्न होना चाहिए। इस प्रकार रुष्ट होकर क्यो बैठी हो ?"

आँखो से चिनगारियाँ बरसाती हुई भद्रा बोली—

"मेरे बेटे के हत्यारे को भोजन कराते हुए आए हो और कहते हो कि मुझे प्रसन्न होना चाहिए? धिक्कार है आपको। आपकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है।"

श्रेष्ठि तनिक मुस्कराए और अपनी पत्नी को समझाते हुए बोले—

"भद्रे! जरा बात को सुनो और समझो। परिस्थिति का विचार करो। बिना विचारे ही क्रोध क्यों करती हो? मैंने अपना मित्र या कोई हितैषी समझकर उसे भोजन नही दिया। यदि ऐसा करता तो अवश्य अपराधी होता। किन्तु उस परिस्थिति मे अन्य कोई मार्ग ही नही था।"

श्रेष्ठि ने जब सारी स्थिति भद्रा के समक्ष रखी तब वह शान्त हुई और उसने अपने कटु व्यवहार के लिए अपने पति से क्षमा माँगी।

सेठ-सेठानी का जीवन पूर्ववत् चलने लगा—केवल एक अभाव जो था वह तो रहा ही।

समय आने पर विजय चोर मृत्यु को प्राप्त कर घोर नरक मे गया।

धन्ना सार्थवाह ने अन्त समय मे मुनि धर्मघोष से दीक्षा ग्रहण की, तप और संयम की आराधना की और मृत्यु का वरण कर देवलोक की ओर चल पडे।

अपने ही कर्मों के अनुसार प्राणी अपनी-अपनी अलग-अलग राह पर चले जाते है। चोर अपने रास्ते। साहूकार अपने रास्ते।

—ज्ञाता २



४५

कः पन्थाः ?

लोभ का कोई अन्त नही तथा विषय मृत्यु की ओर ले जाने वाले है। किन्तु जब लोभ और विषय भोग की लालसा दोनो ही एक साथ किसी मनुष्य के जीवन मे आ मिले, तब तो उसका विनाश सुनिश्चित हो माना जाना चाहिए।

लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व चम्पानगरी मे जब राज कोणिक का शासन था तब वहाँ माकन्दी नामक एक सार्थवाह भी रहा करता था। उसकी पत्नी का नाम भद्रा था और उनके दो पुत्र थे—जिनरक्ष एवं जिनपाल।

सार्थवाह धनाढ्य था। अटूट धनराशि उसके कोष मे जमा थी। उसके युवक एवं समर्थ पुत्रो ने भी ग्यारह बार लवण समुद्र को पार कर अनेक द्वीप-द्वीपान्तरो मे जाकर व्यापार किया था और प्रचुर धन-सम्पत्ति अर्जित की थी। उस परिवार मे इतना धन था कि यदि वे बैठे-बैठे भी खाते रहते तो पीढियो तक वह धन समाप्त न होता।

किन्तु दोनो भाई लोभ के वशीभूत हो चुके थे। वे और भी अधिक धन प्राप्त करना चाहते थे। अत उन्होने अब बारहवी बार समुद्र यात्रा करने का निश्चय किया।

माता-पिता ने बहुत समझाया कि बारहवी समुद्र यात्रा शुभ नही होती, उसमे कष्ट एव अनिष्ट की ही आशंका अधिक रहती है। और धन-सम्पत्ति की कोई कमी नही है। अत यात्रा न की जाय। किन्तु दोनो पुत्रो

को तो लोभ चढा था, भला वे क्यो किसी की सुनने लगे ? निदान यात्रा की तैयारी कर, विशाल जलयान तैयार कर, उसमे प्रचुर व्यापार-सामग्री लादकर, और माता-पिता की सलाह की उपेक्षा कर वे एक दिन चल ही पडे ।

कुछ समय तक तो यात्रा कुशलतापूर्वक होती रही, किन्तु फिर एकाएक परिस्थिति बिगड गई । समुद्र मे तूफान उठा ओर देखते ही देखते पृथ्वी और आकाश अन्धकार से घिर गए। पहाडो के समान ऊँची और विशाल तथा अजगर के समान फुफकारती लहरो के भीषण थपेडो ने जलयान को बालको के खिलौने की भाँति उठा-उठाकर पटका और उसे चूर-चूर कर दिया ।

यान मे जितने भी व्यक्ति थे सब डूब गए । जो कुछ भी सामग्री थी वह समुद्र के गर्भ मे समा गई । भाग्यवशात् दोनो भाइयो के हाथ एक पटिया लग गयी जिसके सहारे अर्धमूच्छित अवस्था मे किसी प्रकार अपने प्राण बचाते हुए वे रत्नद्वीप के किनारे जा लगे ।

भूख-प्यास से वे बेहाल थे । लहरो के थपेडे खा-खाकर उनका शरीर जर्जर हो गया था और उनका पोर-पोर पीडा दे रहा था । जैसे-तैसे उन्होने कुछ फल-मूल खाकर अपनी क्षुधा को शान्त किया और नारियल का तेल निकालकर उससे अपने दुखते बदन को कुछ राहत पहुँचाई ।

उस निर्जन द्वीप मे असहाय बैठे दोनो भाई सोच रहे थे कि अब क्या करे और कहाँ जायँ ? उसी समय रत्नद्वीप मे रहने वाली रत्ना नामक देवी वहाँ आई । वह देवी बडी विलासिनी थी और हृदय से बडी कठोर भी थी । उन दोनो युवको को देखकर उसका मन विलास की कल्पना मे डूब गया । वह उन पर मुग्ध हो गई थी । फिर भी ऊपर ही ऊपर से कठोरता प्रदर्शित करती वह बोली—

"मेरे राज्य मे, मेरी आज्ञा के बिना प्रवेश करने वाले तुम लोग निश्चय ही अपनी मृत्यु चाहते हो । तो लो, मैं इसी क्षण तुम्हारी अभिलाषा की पूर्ति किए देती हूँ ।"

बेचारे सार्थवाह-बन्धु अत्यन्त भयभीत हो गए । दीनतापूर्वक बोले—

"हे देवि ! हम तो भाग्य के मारे है । अब तुम्हारी ही शरण मे है । चाहे मारो, चाहे जिलाओ ।"

उनकी कथा सुनकर, मन ही प्रसन्न होती वह देवी बोली—

"खैर, जो हुआ सो हुआ । अब यदि तुम मृत्यु चाहते हो तो वैसा कहो । किन्तु यदि जीवन चाहते तो मेरे साथ चलो, मेरे महल मे रहो, मेरे साथ भोग-विलास करो और मुझे धोखा देने का प्रयत्न न करो । अन्यथा इसी क्षण तुम्हारी मृत्यु आई जान लो ।"

कोई विकल्प तो था नही, अत दोनो भाई चुपचाप देवी के साथ चल दिए ।

समय व्यतीत होता रहा । भोग विलास चलता रहा ।

एक दिन इन्द्र ने उस देवी को किसी कार्य से अन्यत्र जाने की आज्ञा दी । जाने से पूर्व देवी ने दोनो भाइयो को सावधान किया—

"देखो, महल मे ही रहना । यदि मन न लगे तो उद्यान मे चले जाना । पूर्व दिशा के उद्यान मे सुन्दर सरोवर और वापिकाएं है, वृक्ष-लताएँ है, वहाँ तुम्हे सावन-भादो तथा आसोज-कार्तिक का आभास होगा । वहाँ से भी उकता जाओ तो उत्तर दिशा के उद्यान मे चले जाना । वहा तुम्हे अगहन, पौष, माघ और फागुन का सुख मिलेगा । मान लो कि तुम वहाँ से भी ऊब जाओ तो भले ही पश्चिम के वन मे जाकर घूम-फिर आना । लेकिन याद रखना, भूलना नही, कि दक्षिण के उद्यान मे तुम्हे कदापि नही जाना है । उस उद्यान मे एक अति भयकर सर्प रहता है ।"

इस प्रकार उन्हे समझा-बुझाकर और डरा धमकाकर देवी चली गई । दोनो भाई कुछ समय इधर-उधर टहलते रहे । फिर उनके मन मे कौतूहल जागा कि आखिर देवी ने दक्षिण के उद्यान मे जाने से उन्हे क्यो रोका ? अवश्य ही कोई न कोई रहस्य होना चाहिए ।

वे अपने कुतूहल को दबा न सके । धीरे-धीरे उसी उद्यान की ओर बढे । पास मे जाते-जाते बडी दुर्गन्ध आने लगी । कुछ आगे बढे तो हड्डियो का ढेर उन्हे दिखाई दिया । और थोडा ही और आगे जाने पर तो वे एकाएक चौक ही पडे । उन्होने देखा कि एक आदमी एक सूली पर लटका हुआ था और पीडा के कारण कराह रहा था ।

विस्मय से जडीभूत और भय से विह्वल उन भाइयो ने किसी प्रकार साहस करके उस व्यक्ति से पूछा—

"क्यो भाई ! तुम कौन हो ? यहाँ कैसे आ गए ? तुम्हे सूली पर किसने चढा दिया ?"

पीडाजनित कराह को किसी प्रकार अपनी बची खुची शक्ति से थाम कर उस अभागे व्यक्ति ने कहा--

"भाई ! मै एक व्यापारी हू । अश्वो का व्यापार करता हूँ । दुर्भाग्य से मेरा यान टूट गया और मैं इस द्वीप मे आकर इस दुष्टा देवी के चगुल मे पड गया । यह दुष्टा मेरे साथ जीभर कर काम भोग करती रही । किन्तु अब जबकि तुम लोग उसे मिल गए हो तो इसने मुझे इस दशा मे ला पटका है । इसकी कृतघ्नता, कठोरता और भोगेच्छा का कोई अन्त ही नही ।"

वह हड्डियो का ढेर, वह सूली पर चढा मनुष्य अपनी कथा अब स्वय ही कहने लगे । दोनो भाई जान गए कि कुछ समय मे जब इस पिशाचिनी को कोई अन्य व्यक्ति मिल जायगा तब उनकी भी यही दशा होगी । वे अपने प्राणो के भय से चीख उठने की स्थिति मे आ गए ।

आखिर उन्होने उसी व्यक्ति से पूछा—

"इस राक्षसी से बचने का क्या कोई उपाय तुम जानते हो ?"

सूली चढे अभागे ने बताया—

"पूर्व दिशा के उद्यान मे सेलग नामक एक यक्ष का निवास है । वह यक्ष अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा तथा अमावस्या को प्रकट होकर पुकारता है—"किसको तारू ? किसको पार उतारू ? मैं, सेलग यक्ष उस देवी के चगुल मे फँसे हुए लोगो की रक्षा करता हूँ ।"—भाइयो ! यदि तुम अपने प्राण बचाना चाहते हो तो उस यक्ष ही शरण मे जाना और कहना—'हमे तारो ! हमे पार उतारो ।'—बस, रक्षा का यही एक उपाय है । उस यक्ष मे ही इतनी शक्ति है कि वह तुम्हे जीवित उस राक्षसी की पहुँच से बाहर पहुँचा दे और कोई भी रास्ता नही है ।"

दोनो भाइयो ने विचार किया कि उपाय तो मिल गया और जान बचाने का प्रयत्न भी अवश्य करना ही है, किन्तु इस व्यक्ति से भी तो पूछना

चाहिए कि जब इसे यह उपाय ज्ञात हो गया था तब इसने अपनी रक्षा क्यो नही की ? पूछने पर उसने बताया—

"अपने दुर्भाग्य के अतिरिक्त और किसे दोष दूं ? विषय-भोग की लालसा ने ही मेरे प्राण ले लिए समझो। मै कामान्ध हो गया था। मै किन्तु भाई, तुम्हारे लिए अभी अवसर है। शीघ्रता करो, अन्यथा समय हाथ से निकल जायगा।"

दोनो भाई भारी हृदय लेकर वहाँ से चल पडे। स्नानादि से शुद्ध होकर यक्ष के प्रकट होने और बोलने की प्रतीक्षा करने लगे।

समय आने पर यक्ष चिल्लाया—"किसको तारूँ ? किसको पार उतारूँ ?"

"हमे तारो ! हमे पार उतारो !"—दोनो भाई हाथ जोडकर बोले।

यक्ष प्रसन्न हुआ। बोला—

"ठीक है। तुम्हारी रक्षा करूँगा। किन्तु याद रखना, देवी जब आएगी तब पीछा करेगी। अनेक प्रकार से तुम्हे मोहित करने का प्रयत्न करेगी। डराएगी भी। यदि तुम तनिक भी विचलित हुए तो फिर मैं तुम्हारी रक्षा नही कर सकूँगा। भलो प्रकार सोच लो। कोई भी एक मार्ग चुन लो। या तो देवी के पास रहो और भोग विलास मे डूबे रहो, या दृढतापूर्वक मेरी शरण मे आओ और अपनी रक्षा करो।"

देवी के चंगुल से बच निकलने का ही दृढ निश्चय दोनो भाइयो का जानकर वह यक्ष तुरन्त अश्व के रूप मे परिवर्तित हो गया और उन्हे अपनी पीठ पर बैठाकर पवन वेग से चम्पानगरी की ओर चल पडा।

देवी ने लौटकर दोनो भाइयो को गायब पाया तो तुरन्त अपने अवधि-ज्ञान का उपयोग कर उसने सारी स्थिति को जान लिया। वह क्रोध से जल उठी। नगी तलवार हाथ मे लेकर वह अपनी विपुल शक्ति का प्रयोग कर तत्क्षण जिनरक्ष और जिनपाल के समीप आ पहुँची।

कडकडाती आवाज मे वह बोली—

"मेरी ओर पलटकर देखो, अन्यथा इसी क्षण तुम्हारे शीश धड से अलग कर दूँगी।

किन्तु दोनो भाई दृढ रहे। भयभीत नही हुए। उन्होंने पलटकर नही देखा। वे जानते थे कि पलटकर देखने का अर्थ होगा—निश्चित मृत्यु।

जब धमकियो का कोई प्रभाव पडता दिखाई नही दिया तब देवी ने सम्मोहन का अस्त्र प्रयुक्त किया। अत्यन्त रूपसी रमणी का स्वरूप धारण कर वह नाना हाव-भाव प्रगट करती विलाप-सा करने लगी—

"अरे, तुम तो मेरे प्राणाधार हो। एक बार मेरी ओर देखो तो सही। मैं तुम्हारे वियोग मे जीवित ही कैसे रहूँगी ?"

उसी समय देवी ने अपने अवधिज्ञान से जाना कि जिनपाल तो दृढ है, अडिग है, किन्तु जिनरक्ष का हृदय विचलित हो रहा है अत उसने अपना लक्ष्य उसे ही बनाया और कहने लगी—

"प्यारे जिनरक्ष ! यह जिनपाल तो व्यर्थ है। मेरे प्रिय तो तुम्ही हो। मेरा रोम-रोम तुम्ही पर वारी है। मैं तो तुम्हारे लिए अपने प्राण भी दे सकती हूँ। एक बार मेरी ओर तुम देखो तो सही।"

जिनरक्ष ने अपने हृदय पर से अधिकार खो दिया। उसका संयम शिथिल हो गया। मोह के नागपाश से वह आबद्ध हो गया। इन्ही भावनाओ के साथ उसकी मृत्यु का मार्ग भी निश्चित हो गया।

यक्ष ने जान लिया कि जिनरक्ष विचलित हो गया है। अत उसने उसे अपनी पीठ पर से गिरा दिया।

राक्षसी-देवी झपट पडी। अब जिनरक्ष उसकी शक्ति की सीमा मे था। तीक्ष्ण तलवार की नोक से उसके शरीर को आर-पार छेदती हुई वह बोली—

"विषय-लोलुप ! नरक के कीडे ! मुझे धोखा देकर भागना चाहता था ? मूर्ख, सुन्दर रमणी का आलिंगन-सुख लेना चाहता था ? ले, अब अपनी भोगालालसा का मीठा रस अच्छी तरह चख ले।"

जिनरक्ष ने अपना मार्ग स्वय ही चुना—मृत्यु का मार्ग। क्योकि वह विषय-भोगो की ओर दौडा था।

जिनपाल ज्ञानी था। विषय भोगो की असारता वह जानता था। उसने उस विनाश के, मृत्यु के मार्ग से मुख मोड लिया, हृदय मे दृढता रखो और सुरक्षित अपने घर लौट आया।

क्या पाठक विचार करेंगे कि उन्हे किस मार्ग पर जाना है—क पन्था ?

ज्ञाता ९



४६

पुत्रवधू

कोई भी गृह जिस लक्ष्मी से सुख-सम्पन्न बनता है, ऐसी एक गृह लक्ष्मी की यह छोटी-सी कहानी है—

धन्ना सार्थवाह राजगृही नगरी मे निवास करते थे। अपार धन-सम्पत्ति के स्वामी थे। लोग उन्हे दूसरा कुबेर ही मानते थे। परोपकारी, दयालु, दानी ऐसे कि लोग उनके द्वार पर जमघट लगाए ही रहते। कोई आर्थिक सहायता की याचना से, कोई अन्य प्रकार के परामर्श हेतु। उनकी पत्नी भद्रा भी पति की पूर्ण अनुगामिनी थी, बल्कि कहिए कि उनकी छाया ही थी, उतनी ही गुणवती, वैसी ही आदर्श।

उनके चार पुत्र थे—धनपाल, धनदेव, धनगोप और धनरक्षित। चारो पुत्रो के विवाह हो चुके थे।

एक वार श्रेष्ठि को विचार आया—समय परिवर्तनशील है। जीवन नश्वर है। पल का भी भरोसा नही। जिस प्रकार बिजली इस क्षण चमकती है और दूसरे ही क्षण विलुप्त हो जाती है, उसी प्रकार यह जीवन भी है। इस संसार मे आना और जाना लगा ही रहता है। वडे से वडे समर्थ व्यक्ति इस संसार मे आए और चले गए। कोई सदा नही रहा।

यह विचार मस्तिष्क मे उपजने पर श्रेष्ठि ने निश्चय किया कि जव तक मैं हूं, अपने सामने ही अपने परिवार की व्यवस्था करदूं। आगे जाने क्या हो, क्या न हो?

अस्तु, एक दिन उसने अपने सभी सगे-सम्बन्धियो को तथा नगर के अन्य प्रतिष्ठित, प्रमुख पुरुषो को अपने घर आमन्त्रित किया। उनका उचित स्वागत-सत्कार किया और फिर सबसे पहले अपनी सबसे बडी पुत्रवधू को बुलाकर उसे शालि (चावल) के पाँच दाने देकर कहा—

"बहू ! ये शालि ले जाओ। इन्हे सुरक्षित रखो और इनकी वृद्धि करो। जब भी मै वापस मागूँ तब लौटा देना।"

बडी बहू उज्झिआ वे शालि ले तो गई किन्तु सोचने लगी कि भला इन दानो को मै कहाँ तक सम्हाल कर रखूँ ? जब भी श्वसुर जी दाने माँगेगे, मै भडार मे से निकालकर दे दूँगी। यह सोचकर उसने उन्हे फेंक दिया।

अब दूसरी बहू भोगवती को भी उसी प्रकार दाने दिए गए। उसने भी लिए और सोचा—ससुर जी ने दाने दिए है तो फेंकना तो नही चाहिए, चलो उन्हे खा ही डालती हूँ। यह सोचकर वह उन्हे खा गई और उनके विषय मे भूलभाल कर अपने काम मे लगी।

तीसरी पुत्रवधू को जब दाने दिए गए तो उसने सोचा कि श्वसुर जी ने दाने दिए है तो अवश्य कुछ न कुछ महत्त्व होना चाहिए। अत इतना विचार कर उसने उन्हे एक मूल्यवान रत्न-मजूषा मे सुरक्षित रख दिया। उन्हे वह प्रतिदिन सम्हाल भी लिया करती थी।

अब बारी आई चौथी और सबसे छोटी पुत्रवधू रोहिणी की। उसने शालि लेकर सोचा—श्वसुर जी ने शालि दिए है और कहा है कि मै इनकी रक्षा और वृद्धि करूँ। अत उसने वे दाने अपने पिता के पास भेजकर कहलाया—'पिताजी, आप ऋतु आने पर इन्हे खेत मे बो दे और सावधानी से इनकी रक्षा करे।'

रोहिणी के कथनानुसार उसके पिता ने वर्षा ऋतु आने पर उन्हे एक छोटी-सी क्यारी मे बो दिया। उपयुक्त समय पर फसल काट ली और रख लिया।

इस प्रकार पाँच वर्ष व्यतीत हो गए। प्रतिवर्ष जितने भी शालि बढते, उन्हे बोया जाता और फसल काट ली जाती।

पॉच वर्ष बाद धन्ना श्रेष्ठि ने फिर से अपने सम्बन्धियो तथा प्रमुख पुरजनो को बुलाया और उनके सामने ही एक-एक पुत्रवधू से शालि के दाने वापिस मॉगे। बडी पूत्रवधू कोठार मे गई और पॉच शालि लाकर उसने दे दिए। धन्ना श्रेष्ठि ने पूछा—

"बहू ! क्या ये वही शालि है जो मैने तुम्हे दिए थे ?"

बहू ने सच-सच कहा—

"नही, पिताजी ! भला मै उन्हे कहाँ तक सम्हालकर रखती ? ये शालि तो मैं कोठार मे से लाई हूं।"

उत्तर सुनकर श्रेष्ठि ने सोचा कि यह पुत्रवधू उसकी विशाल सम्पत्ति की रक्षा नही कर सकेगी। अत उन्होने उसे भविष्य मे घर की सफाई, लीपना-पोतना, गर्म जल करना आदि कार्य सौप दिए।

दूसरी पूत्रवधू ने भी कोठार से शालि लाकर दे दिए और बताया—"मैने उन्हे फेका नही था, खा लिया था।"

श्रेष्ठि ने सोचा कि यह पुत्रवधू पहिली से अधिक विचारवान अवश्य है, किन्तु फिर भी धन-सम्पत्ति की रक्षा करना उसके भी वश का नही है। इसे खाना-पीना ही अधिक प्रिय प्रतीत होना है।

अत उस पुत्रवधू को पीसने-कूटने, भोजन बनाने और परोसने का कार्य सौंप दिया गया।

तीसरी पुत्रवधू ने मजूपा मे से शालि निकालकर जब दिए तो श्रेष्ठि ने सोचा—मेरी सम्पत्ति की रक्षा यह कर सकती है। अतः इसे रत्न-आभूपण, स्वर्ण, धन-धान्य आदि सुरक्षित रखने का कार्य सौपना चाहिए।

ऐसा ही किया गया।

अब बारी आई चौथी और सबसे छोटी पुत्रवधू रोहिणी की। उससे जब शालि मॉगे गए तब उसने कहा—

"पिताजी ! वे शालि लाने के लिए कृपया मुझे कुछ गाडियो और छकडो की व्यवस्था करा दीजिए। मै अकेली अथवा कुछ व्यक्ति तो वे शालि ला नही सकेंगे।"

रोहिणी के इस विचित्र उत्तर को सुनकर उपस्थित सभी व्यक्ति चौके—भला शालि के पॉच दानो को लाने के लिए गाडियो और छकडो की आवश्यकता ? आखिर श्रेष्ठि ने पूछा—

"बेटी ! यह तू क्या कह रही है ? पाँच शालि लाने के लिए तू भला गाडियाँ और छकडे क्यो माँग रही है ? ठीक-ठीक और साफ-साफ बात कह।"

बुद्धिमती रोहिणी ने एक सच्ची गृहलक्ष्मी को शोभा दे ऐसी मन्द, मधुर और सलज्ज मुसकान बिखेरते हुए कहा—

"पिताजी ! आपने मुझे उन शालि के दानो को सुरक्षित रखने तथा उनकी वृद्धि करने का आदेश प्रदान किया था। अत. आपकी आज्ञा को शिरोधार्य कर मैंने उन्हे अपने पिताजी के पास भेज दिया था। प्रतिवर्ष उन्हे खेत मे बोते और फसल काटते हुए अब वे शालि इतने अधिक हो गए है कि गाड़ियो और छकडो मे लादकर तथा बोरियो मे भरकर ही उन्हे लाया जा सकता है।"

श्रेष्ठि के मुख पर प्रसन्नता और आनन्द छा गया। उन्हे ऐसी ही बुद्धिमती पुत्रवधू की तलाश थी। सभी उपस्थित व्यक्तियो के समक्ष उन्होने उसे गृह-स्वामिनी के पद पर प्रतिष्ठित किया और उनके इस निर्णय की सभी ने सराहना की।

काश ! हमारे देश के घर-घर मे ऐसी गृह-लक्ष्मिया होती।

—ज्ञाता ७



४७

जागे तभी सबेरा

दो अलग-अलग दिशाओ मे चलने वाले दो पुत्र थे मगध के सम्राट विम्बसार श्रेणिक के। एक अभयकुमार और दूसरा कोणिक। अभयकुमार ज्ञानी, वीर, विनीत और बुद्धिमान था। कोणिक इससे बिलकुल उल्टा—स्वार्थी, अविनीत और निष्ठुर।

किन्तु श्रेणिक पिता थे। उनके लिए लिए तो दोनो पुत्र दो आँखो के ही समान थे। दोनो प्रिय।

कोणिक जब गर्भ मे था तभी उसके भावी जीवन की कल्पना हो गई थी। उसकी माता चेलना को दोहद हुआ था कि वह अपने पति के कलेजे का माँस खाए। जिस पुत्र के गर्भ मे आने से ही उसकी माता की भावना इस प्रकार की बने, उसका जीवन कैसा हो सकता है, यह कल्पना कठिन नही है।

माता ने तो प्रयत्न भी किया कि ऐसे कुलक्षणी पुत्र का तो उत्पन्न न होना ही श्रेष्ठ है अत उसने गर्भ को गिराने का भी प्रयत्न किया। किन्तु सफल न हुई। जन्म के पश्चात् भी उसने नवजात शिशु को कुरडी पर फिकवा दिया। किन्तु होनहार को टाला नही जा सकता। कोणिक को कुछ कुकृत्य करने के लिए जीवित रहना था और वह रहा।

किन्तु श्रेणिक सदा कोणिक को भी प्यार करते रहे। उन्होने चेलना से सदा यही कहा—

"रानी ! अपना ही पुत्र है, जैसा भी है। जो होना है वह तो होकर ही रहेगा। चिन्ता न करो। उसे भी वैसा ही प्यार दो जैसा अभयकुमार को।"

पुत्र पलते रहे। यौवन का आगमन होने पर कोणिक का विवाह आठ राज-कन्याओ के साथ कर दिया गया। वह रस-राग मे डूब गया।

किन्तु कोणिक अधिक समय तक शान्त बैठा न रह सका। वह अब राजा बनना चाहता था। कैसे बने ? पिता जब तक स्वस्थ और जीवित है तब तक उसे राज्य कैसे मिले ?

अन्तत: उसने अपने वृद्ध पिता को बन्दी बनाकर कारागार मे डाल दिया—उसी पिता को, जिसने उसके जीवन की रक्षा की थी, पाला पोसा था, प्रेम दिया था वह भी सब कुछ जानते हुए।

कोणिक राजा बन बैठा। अपने पिता को वह कडी कैद मे रखता था। उससे कोई मिल भी नही सकता था। अपनी माता को भी उसने दिन मे केवल एक बार पिता से मिलने की अनुमति दी थी।

कोणिक की लिप्सा, अहकार और निष्ठुरता का इससे अधिक प्रमाण और क्या हो सकता था ?

एक बार कोणिक अपनी माता से मिलने गया। यही उसके जीवन मे एक महान् परिवर्तन का क्षण था। माता उदास थी। उसने पूछा—"माता ! आप इतनी उदास क्यो है ?"

माता का हृदय आज फट पडा। उसने बताया—"कोणिक ! तू तो अन्धा है। तुझे सत्य दिखाई नही देता। तुझे नही मालूम कि तेरे पिता सम्राट् बिम्बसार तुझे कितना प्यार करते है। काश ! तू यह जानने की कोशिश करता और उनकी महानता को समझ सकता।"

धीरे-धीरे रानी चेलना ने कोणिक को सारी बात बताई। उसके गर्भ मे आने से लेकर अब तक की। उन घटनाओ को सुनकर कोणिक का हृदय तत्क्षण बदल गया। उसकी राक्षसी प्रवृत्ति समाप्त हो गई, और उसके अन्तर का देवता प्रगट हो गया।

दौडा-दौडा वह गया अपने पिता से क्षमा माँगने और उन्हे वन्धनमुक्त करने ।

लेकिन होनी कुछ और थी । राजा ने अपने क्रूर पुत्र को तेजी से आता देखा तो सोचा—अब यह जाने मुझे और कैसी पीडा देने आ रहा है ? हत्या भी कर सकता है । जाने कितने कष्ट देकर मेरे प्राण ले ।

और राजा ने ताल पुट विप खाकर क्षण मात्र मे अपने प्राण त्याग दिए । पश्चात्ताप की अग्नि मे जलता हुआ कोणिक हाहाकार कर उठा ।

बन्दीघर की दीवारे हाहाकार कर उठी । राजमहल की मीनारें हाहाकार कर उठी । सारी नगरी हाहाकार कर उठी—पुत्र के अज्ञान और निष्ठुरता के कारण पिता की ऐसी दुखद मृत्यु पर सारी सृष्टि हाहाकार कर उठी ।

कोणिक सिर पीट कर रह गया । वह अपने महान् पिता से क्षमा तक न माँग सका !

लेकिन उसका जीवन वदल गया ।

अपने विशाल साम्राज्य के ग्यारह भाग करके उसने अपने भाइयो मे वॉट दिए और पिता की मृत्यु के शोक को भुलाने के लिए वह मगध छोडकर अग देश की चम्पा नगरी मे जाकर रहने लगा ।

अव कोणिक क्रूर नही था, अहकारी नही था, स्वार्थी नही था । इन दुर्गुणो का स्थान मृदुता, नम्रता और विनय ने ले लिया था ।

एक वार भगवान महावीर जव चम्पा नगरी मे पधारे तो कोणिक उनके दर्शन करने व उपदेश सुनने गया । वडे उत्साह और समारोहपूर्वक गया । हृदय मे भक्ति-भाव को धारण किए हुए गया । उसने सुना, भगवान ने कहा—

"जल-बुद्बुद होता है न ! एक क्षण मात्र मे ही फूटकर विलीन हो जाता है । यह जीवन भी वैसा ही है ।

"घास की नोक पर, कुशाग्र पर ओस की बूंद ठहरी होती है न ! कितने समय के लिए ? पवन का एक हलका-सा झोका आता है, और वह बूंद मिट्टी मे मिल जाती है । यह जीवन भी वैसा ही है ।

"अत. भव्य प्राणियो ! विचार करो। अच्छे कर्मों का परिणाम अच्छा और बुरे कर्मों का परिणाम बुरा होता है। इससे पृथक कुछ हो नहीं सकता।"

भगवान की कल्याणी वाणी ने कोणिक के हृदय मे ज्ञान-ज्योति को जला दिया। वह अब भक्तिपूर्वक, विनयपूर्वक अपना जीवन-यापन करने लगा। उसे अनुभव होता था कि जैसे वह एक लम्बी नींद से जागा है और सवेरा हो गया है।

—उववाई सुत्त



४८

मैं क्या माँगू ?

नगर मे धूमधाम थी। नए राजपुरोहित की शोभायात्रा निकल रही थी। पुराने पुरोहित काश्यप की विधवा पत्नी यशा इस शोभायात्रा को देखकर उदास थी और आँसू उसकी आँखो से टप-टप गिर रहे थे। वह सोच रही थी—पति गये, सब कुछ चला गया।

पुत्र ने माता के आँसू देखे और पूछा—

"माँ ! क्या हुआ ? तू रोती क्यो है ? क्या तुझे कोई दु:ख है ?"

माँ ने उत्तर दिया—

"बेटा ! दु ख के सिवा अब और शेप रहा ही क्या है ? एक दिन तेरे पिता ही राजपुरोहित थे। राजा जितशत्रु उनका बडा आदर करता था। सारी प्रजा ही उनकी पूजा करती थी। आज उनकी मृत्यु के पश्चात् सब कुछ बदल गया है। सब कुछ जैसे उन्ही के साथ चला गया।"

बालक से अपनी माता का दु ख देखा नही गया। वह योग्य पिता का योग्य पुत्र था। बालक होते हुए भी एक दृढ निश्चय-भरे स्वर मे उसने पूछा—

"माँ ! क्या मैं अपने पिता के समान ही नही बन सकता ? क्या मै राजपुरोहित के पद पर नियुक्त नही हो सकता ?"

माता का हृदय अपने पुत्र की इस शुभाकाक्षा से प्रफुल्लित हो उठा। वह बोली—

"क्यो नही हो सकता ? अवश्य हो सकता है। किन्तु तू पहले पढे-लिखे तब न !"

"बस! इतनी सी बात? तू रोना छोड, मै पढूँगा, माँ! और एक दिन अपने पिता के पद पर अवश्य बैठूँगा।"

बालक कपिल को पढने की धुन लग गई। किन्तु उसकी माता जानती थी कि कौशाम्बी मे रहकर कपिल पूरी तरह विद्याध्ययन नही कर सकेगा। वहाँ के पण्डित ईर्ष्यालु थे, स्वार्थी थे। राजपुरोहित काश्यप का पुत्र यदि पढ-लिखकर विद्वान हो गया तो अपने पिता के पद पर आसीन हो जायगा, इस भय से वे उसे पूरी शिक्षा नही देगे। अत यशा ने अपने बेटे को अपने पति के मित्र इन्द्रदत्त के पास श्रावस्ती भेज दिया।

उपाध्याय इन्द्रदत्त बड़े विद्वान और सरल व्यक्ति थे। श्रावस्ती का बच्चा-बच्चा उन्हे जानता था। कपिल जब उनके पास पहुँचा तो उन्होने अपने दिवगत मित्र के पुत्र को आलिगन मे भर लिया और कहा—"अरे, तू तो मेरा ही पुत्र है। कोई अन्य नही। तू मुझे अपने पिता के समान ही समझना। कोई चिन्ता न करना।'

नगरी के धनपति शालिभद्र के यहाँ कपिल के आवास की व्यवस्था हो गई और उसका विद्याध्ययन आरम्भ हो गया।

धीरे-धीरे कपिल युवक हो गया। किन्तु जीवन के उसी विकट सकट-काल मे कपिल चूक गया। श्रेष्ठि शालिभद्र की एक सुन्दरी दासी जो कि कपिल की सेवा किया करती थी, उससे कपिल को प्रेम हो गया। प्रेम अधा होता ही है। कपिल भी उस आँधी मे ऐसा उडा कि वह अब विद्याध्ययन भी भूल गया और उपाध्याय के पास गुरुकुल मे जाना भी उसने बहुत कम कर दिया।

उपाध्याय ने उसे समझाया, डाँटा-फटकारा, बुरा-भला कहा, अपनी माता को दिये हुए वचन की याद दिलाई, दिवगत पिता के गौरव का स्मरण कराया—किन्तु प्रेमी के गले कुछ न उतरा। वह तो पागल होकर दासी की छाया मात्र बनकर रह गया।

एक बार नगर मे वन-महोत्सव की तैयारियाँ हो रही थी। युवक-युवतियाँ सज रहे थे। कपिल की प्रेमिका दासी ने उस अवसर पर अपने प्रेमी से कहा—

"नगर की सारी सुन्दरियाँ सज-धज रही है। तुम यदि मेरे लिए मूल्यवान वस्त्र नही ला सकते तो साधारण नए वस्त्र ही लाकर दो। रत्ना-

भूपण नही ला सकते तो इतने पैसे तो लाकर दो कि मै पुष्पमालाएँ ही खरीद सकूँ। तुम्हे छोड मै और किससे याचना करूँ ? अपनी सखी-सहेलियो के बीच मे ये पुराने वस्त्र पहनकर कैसे जाऊँ ?"

कपिल चिन्ता मे पड गया। वह तो दूर देश से एक ब्रह्मचारी विद्यार्थी के रूप मे यहाँ आया था। उसके पास क्या धन था ? कैसे वह अपनी प्रेमिका की माँगो की पूर्ति करे ?

प्रेमी को मौन देखकर प्रेमिका ने उकसाया—

"ऐसे चुप क्या बैठे हो ? ससार वसाना है तो कुछ पुरुपार्थ तो करना ही पड़ेगा। तुम ब्राह्मणपुत्र हो। मै तुम्हे उपाय वताती हूँ। भिक्षा माँगने मे तुम्हे कोई सकोच नही होना चाहिए। श्रेष्ठि धनदत्त का नियम है कि जो भी कोई व्यक्ति प्रात काल उसे सवसे पहले आशीर्वाद देने जाता है उसे वह दो माशा स्वर्ण दान मे देता है। तुम वह स्वर्ण लाओ। अभी कुछ काम तो निकल ही जायगा।"

कपिल को मार्ग सूझ गया। रात मे वह सोचता रहा—'सवसे पहले जाऊँगा, स्वर्ण लाकर प्रेमिका को प्रसन्न कर दूँगा।' इसी विचार के साथ उसे चिन्ता भी हुई, 'कही मुझसे पहले ही कोई अन्य याचक धनदत्त के पास न पहुँच जाय। अन्यथा मेरी आशा पर पानी फिर जायगा। प्रेमिका रूठ जायगी।'

इन विचारो के कारण उसे नीद ही नही आई। करवटे बदलते-वदलते जव थक गया तो आतुरता का मारा वह घर से निकल पडा। उसे भान ही नही रहा कि प्रात काल होने मे अभी वहुत विलम्व है। चारो ओर घिरे हुए अन्धकार की ओर भी उसकी दृष्टि नही गई। उस पागल प्रेमी को तो एक ही धुन थी—'कोई मुझसे पहले ही न जा पहुँचे। प्रेमिका रूठ न जाय।'

अँधेरी रात मे एक व्यक्ति को चुपचाप चला जाता देख, पहरेदारो ने उसे टोका—"कौन है ? इस अँधेरी रात मे कहाँ जा रहा है ? चोरी करने का इरादा है, क्या ?"

कपिल ने घवराकर कहा—"नही भाई ! चोरी करने क्यो जाऊँगा ? ब्राह्मण का पुत्र हूँ। मै तो श्रेष्ठि धनदत्त के घर जा रहा हूँ। उसे आशीर्वाद दूँगा और स्वर्ण प्राप्त करूँगा।"

किन्तु पहरेदार सन्तुष्ट नही हुए, भला ऐसी अँधेरी आधी रात मे भी कोई भिक्षा लेने जाता है ? इस समय तो कोई चोर ही घर से बाहर निकलता है।

और विद्याध्ययन कर राजपुरोहित का पद प्राप्त करने की महत्त्वाकाक्षा लेकर घर मे चले कपिल पण्डित को कारागार मे बन्द कर दिया गया।

क्या मे क्या हो गया ? कहाँ को चले थे, कहाँ जा पहुँचे ? उद्देश्य क्या था, और प्राप्ति क्या हुई ? महापण्डित काश्यप का पुत्र कारागार मे ? साधारण चोर-उचक्को, शराबी-लम्पटो और खूनी हत्यारो के बीच कपिल ब्राह्मण ? हे भगवान ! तूने यह क्या दिन दिखाया ? मेरी बुद्धि को क्या हो गया ? प्रेमिका की मुस्कान मे माता के आँसू भूल गया ? हाय, यह मेरा कैसा अध पतन हो गया ?

सोचता-सोचता भोला ब्रह्मचारी बडा दु खी हुआ। उसकी मूर्च्छित आत्मा जैसे सहसा जाग पडी और उसे धिक्कारने लगी—धिक्कारती ही चली गई।

राजा प्रसेनजित अपराधियो का न्याय स्वय ही किया करते थे। प्रात काल सभी अपराधियो को जब राजा के समक्ष उपस्थित किया गया तो कपिल ब्राह्मण की स्थिति विचित्र थी। लज्जा के मारे उसकी आखे ऊपर ही न उठती थी। पश्चाताप मे उसका हृदय जला जा रहा था।

नीर-क्षीर का विवेक जो न कर सके वह राजा ही क्या ? प्रसेनजित की दृष्टि तीव्र थी। उसने एक ही नजर मे भाप लिया कि कपिल अपराधी नहीं हो सकता। वह बेचारा किसी भ्रम मे फस गया है। संस्कारवान युवक दिखाई देता है। उन्होने पूछा—

कौन हो तुम ? किसलिए रात मे निकले थे ?"

महाराज ! ब्राह्मणपुत्र हूँ। भिक्षा लेने निकला था। पहरेदारो ने चोर मानकर मुझे पकड लिया। मैं निरपराध हूँ।"

सच-सच कहो। सच कहोगे तो क्षमा मिलेगी। झूठ कहोगे तो कठोर दण्ड।'

महाराज ! क्षमा और दण्ड तो अब आपके हाथ मे है। तो सारी

दे। किन्तु महापण्डित राजपुरोहित काश्यप का पुत्र असत्य भाषण नही करता।"

राजा पहले से ही उस युवक के व्यक्तित्व से फूट रही सस्कारशीलता को देख रहा था। अव उसे विश्वास हो गया। कोमल स्वर मे वोला—

"तुम्हे क्या चाहिए, वटुक! जो चाहो, वह माँग लो। जितना स्वर्ण चाहिए, ले लो। मैं वचन देता हू, जो माँगोगे वही मिलेगा।"

कपिल विचार मे पड गया—विधि का विधान भी विचित्र है! कहाँ तो चोरी के अपराध मे दण्डित होने की स्थिति थी और कहाँ अव मन-चाहा पुरस्कार मिल रहा है। कितना अच्छा अवसर है। एक हजार स्वर्ण-मुद्राएँ माँग लूँ? नही थोडी होगी, एक लाख माँगू? लेकिन राजा के पास क्या कमी है, एक कोटि ही क्यो न माँग लूँ? जीवनभर सुख से रहूँगा।

कपिल की विचारधारा जो चली सो चली। वह सोचता ही रहा, सोचता ही रहा ' सोचता ही चला गया '' ।

राजा ने अधीर होकर कहा—

"कव तक सोचोगे? जो चाहिए वह माँग लो। मै वचनबद्ध हूँ।"

कपिल के मुख पर धीरे-धीरे एक अद्भुत परिवर्तन दिखाई देने लगा था। एक नैसर्गिक प्रकाश उसके नेत्रो से फूटता प्रतीत होता था। अव वह मन ही मन विचार कर रहा था—क्या माँगूँ? क्या कोई धन ऐसा भी है जो कभी समाप्त ही न हो? जव लेने पर आया हूँ तो ऐसा ही धन लूँगा। इन सोने-चाँदी के ठीकरो का क्या करूँगा?

गौरव और गम्भीरता से कपिल ने अव अपना सिर ऊँचा किया। राजा के नेत्रो से अव उसने निस्सकोच अपने नेत्र मिलाए और कहा—

"राजन्! परमात्मा की आप पर कृपा हो। मुझे जो चाहिए था वह मिल गया है। मैंने अपनी आत्मा को जान लिया है। इस आत्मा का अक्षय आनन्द-कोश, अनन्त वैभव, मुझे प्राप्त हो गया है। अव मुझे और कुछ नही चाहिए। इस प्राप्ति के समक्ष शेष सव कुछ धूलि के समान है। अव मैं क्या माँगूँ?"

कपिल ने उसी क्षण हाथ उठाकर अपने केशो का लुचन कर लिया। सव कुछ त्याग कर वह समस्त निधियो का स्वामी वन गया।

—उत्तराध्ययन, चूर्णि ८

किन्तु पहरेदार सन्तुष्ट नही हुए, भला ऐसी अंधेरी आधी रात मे भी कोई भिक्षा लेने जाता है ? इस समय तो कोई चोर ही घर से बाहर निकलता है ।

और विद्याध्ययन कर राजपुरोहित का पद प्राप्त करने की महत्त्वाकाक्षा लेकर घर से चले कपिल पण्डित को कारागार मे बन्द कर दिया गया ।

क्या से क्या हो गया ? कहाँ को चले थे, कहाँ जा पहुँचे ? उद्देश्य क्या था, और प्राप्ति क्या हुई ? महापण्डित काश्यप का पुत्र कारागार मे ? साधारण चोर-उचक्को, शराबी-लम्पटो और खूनी हत्यारो के बीच कपिल ब्राह्मण ? हे भगवान ! तूने यह क्या दिन दिखाया ? मेरी बुद्धि को क्या हो गया ? प्रेमिका की मुस्कान मे माता के आँसू भूल गया ? हाय, यह मेरा कैसा अध पतन हो गया ?

सोचता-सोचता भोला ब्रह्मचारी बडा दुःखी हुआ । उसकी मूर्च्छित आत्मा जैसे सहसा जाग पडी और उसे धिक्कारने लगी—धिक्कारती ही चली गई ।

राजा प्रसेनजित अपराधियो का न्याय स्वय ही किया करते थे । प्रात काल सभी अपराधियो को जब राजा के समक्ष उपस्थित किया गया तो कपिल ब्राह्मण की स्थिति विचित्र थी । लज्जा के मारे उसकी आँखे ऊपर ही न उठती थी । पश्चाताप से उसका हृदय जला जा रहा था ।

नीर-क्षीर का विवेक जो न कर सके वह राजा ही क्या ? प्रसेनजित की दृष्टि तीव्र थी । उसने एक ही नजर मे भाँप लिया कि कपिल अपराधी नही हो सकता । वह बेचारा किसी भ्रम मे फँस गया है । सस्कारवान युवक दिखाई देता है । उन्होने पूछा—

"कौन हो तुम ? किसलिए रात मे निकले थे ?"

"महाराज ! ब्राह्मणपुत्र हूँ । भिक्षा लेने निकला था । पहरेदारो ने चोर मानकर मुझे पकड लिया । मै निरपराध हूँ ।"

"सच-सच कहो । सत्य कहोगे तो क्षमा मिलेगी । झूठ कहोगे तो कठोर दण्ड ।"

"महाराज ! क्षमा और दण्ड तो अब आपके हाथ मे है । जो चाहे,

दे। किन्तु महापण्डित राजपुरोहित काश्यप का पुत्र असत्य भापण नही करता।"

राजा पहले से ही उस युवक के व्यक्तित्व से फूट रही सस्कारशीलता को देख रहा था। अव उसे विश्वास हो गया। कोमल स्वर मे वोला—

"तुम्हे क्या चाहिए, वटुक! जो चाहो, वह माँग लो। जितना स्वर्ण चाहिए, ले लो। मैं वचन देता हू, जो माँगोगे वही मिलेगा।"

कपिल विचार मे पड गया—विधि का विधान भी विचित्र है! कहाँ तो चोरी के अपराध मे दण्डित होने की स्थिति थी और कहाँ अव मन-चाहा पुरस्कार मिल रहा है। कितना अच्छा अवसर है। एक हजार स्वर्ण-मुद्राएँ माँग लूँ ? नही थोडी होगी, एक लाख माँगू ? लेकिन राजा के पास क्या कमी है, एक कोटि ही क्यो न माँग लूँ ? जीवनभर सुख से रहूँगा।

कपिल की विचारधारा जो चली सो चली। वह सोचता ही रहा, सोचता ही रहा · · 'सोचता ही चला गया··· ।

राजा ने अधीर होकर कहा—

"कव तक सोचोगे ? जो चाहिए वह माँग लो। मै वचनवद्ध हूँ।"

कपिल के मुख पर धीरे-धीरे एक अद्‌भुत परिवर्तन दिखाई देने लगा था। एक नैसर्गिक प्रकाश उसके नेत्रो से फूटता प्रतीत होता था। अव वह मन ही मन विचार कर रहा था—क्या माँगूँ ? क्या कोई धन ऐसा भी है जो कभी समाप्त ही न हो ? जव लेने पर आया हूँ तो ऐसा ही धन लूँगा। इन सोने-चाँदी के ठीकरो का क्या करूँगा ?

गौरव और गम्भीरता से कपिल ने अव अपना सिर ऊँचा किया। राजा के नेत्रो से अव उसने निस्सकोच अपने नेत्र मिलाए और कहा—

"राजन्! परमात्मा की आप पर कृपा हो। मुझे जो चाहिए था वह मिल गया है। मैने अपनी आत्मा को जान लिया है। इस आत्मा का अक्षय आनन्द-कोश, अनन्त वैभव, मुझे प्राप्त हो गया है। अव मुझे और कुछ नही चाहिए। इस प्राप्ति के समक्ष शेप सव कुछ धूलि के समान है। अव मैं क्या माँगूँ ?"

कपिल ने उसी क्षण हाथ उठाकर अपने केशो का लुचन कर लिया। सव कुछ त्याग कर वह समस्त निधियो का स्वामी वन गया।

—उत्तराध्ययन, चूर्णि ८

४६

शुभ संकल्प

भारतवर्ष आज के समान दयनीय स्थिति मे सदा ही रहा हो, ऐसी बात नही है। किसी जमाने मे भारत सोने की चिडिया कहलाता था।

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व का युग भी भारत की समृद्धि एव गौरव का युग था। उसी युग की यह एक कथा हे। दक्षिण मे एक विशाल, अपरिमित वैभव और धनधान्य से परिपूर्ण नगरी थी—राजगृही। सम्राट् श्रेणिक उस नगरी मे राज्य करते थे। उनके राज्य मे केवल एक ही व्यक्ति ऐसा था जिसके हृदय मे कोई वेदना थी। और वह व्यक्ति था—राजा की ही रानी, धारिणी।

रानी धारिणी इसलिए दु खी थी कि उसकी गोद सूनी थी।

किन्तु सदाचारी, धर्मनिष्ठ और सयमी व्यक्ति सदा ही कष्ट मे नही रह सकते। रानी धारिणी के भी पुण्यो का उदयकाल आ रहा था। एक रात उसने स्वप्न देखा—एक सुन्दर श्वेत हाथी उसके मुख मे प्रवेश कर रहा है।

प्रात काल रानी ने राजा को अपना स्वप्न जब सुनाया तब राजा ने राज्य के श्रेष्ठ ज्योतिर्विदो को राजसभा मे बुलाकर इस स्वप्न का फलादेश पूछा। ज्योतिर्विदो ने विचार कर बताया—

"महाराज! यह स्वप्न अत्यन्त मगलमय एव कल्याणकारी है। इसके फलस्वरूप रानी को नौ मास व्यतीत होने पर श्रेष्ठ पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी। वह पुत्ररत्न विस्तृत राज्य-सुख भोगने के उपरान्त अन्त मे ससार से

विमुख होकर, अनगार वनकर इस देह के वन्धन से सदा के लिए मुक्त होगा और अपनी आत्मा का परम कल्याण करेगा।"

यह फलादेश सुनकर राजा-रानी के आनन्द की सीमा न रही। सारा राज्य हर्ष-विभोर हो उठा।

महारानी का गर्भ धीरे-धीरे वढने लगा। तीसरे महीने मे रानी को दोहद उत्पन्न हुआ। उनकी इच्छा हुई—मेघ सारे आकाश मे घिरकर गर्जन करने लगे, विजली चमक उठे, मयूरो का केकारव दिशाओ मे गूँज उठे, वर्षा की फुहारो से पृथ्वी का मन स्फुरित हो उठे, सारी धरती हरी मखमली चादर से आच्छादित हो जाय और ऐसे समय मे, मै अपने प्रिय पति सम्राट् श्रेणिक के साथ हाथी पर वैठकर वैभारगिरि का भ्रमण करूँ।

यह आकाक्षा रानी को हुई, किन्तु वर्षाकाल तो था नही। सारा आकाश निरभ्र और नीला था। कही वादल का एक टुकडा भी दिखाई नही देता था। रानी की इच्छा पूरी हो तो कैसे ?

निदान अपने मन की इच्छा को मन मे ही दबाये रानी दिन-दिन दुर्वल होने लगी। उसकी यह स्थिति जव एक प्रिय दासी से देखी न गई तो उसने जाकर सम्राट् को सारी वात कह सुनाई। सुनकर वे भी चिन्ता मे पड गये। किन्तु उपाय क्या था ?

उपाय कोई नही था। आशा की कोई किरण कही दिखाई नही देती थी। उदास राजा राज्य सभा मे पहुँचा। चिन्ता का कारण जानकर राज-सभा भी मूक होकर वैठ गई।

उसी समय राजपुत्र अभयकुमार ने राजसभा मे प्रवेश किया। वह सम्राट् श्रेणिक और रानी नन्दा से उत्पन्न अत्यन्त मेधावी और पराक्रमी राजपुत्र था। उसकी तीव्र और त्वरित वुद्धि वेजोड थी। उसने एक ही दृष्टि मे देख लिया कि आज राजा सहित सारी राजसभा किसी गम्भीर चिन्ता मे निमग्न है। पूछा—

"पिताजी ! क्या कारण है कि आज आप उदास प्रतीत होते हे ? इस पृथ्वी पर ऐसी कौनसी वात उत्पन्न हो गई जो प्रतापी सम्राट् श्रेणिक को भी उदास और चिन्तित कर दे ?"

श्रेणिक जानते थे कि अभयकुमार वीर हे, वुद्धिमान है, समर्थ है।

किन्तु जो असम्भव है उसे सम्भव कैसे किया जा सकता है ? फिर भी उन्होंने सारी बात उसे बताई।

सुनकर कुछ देर अभयकुमार ने विचार किया और फिर कहा—

"पिताजी ! आप चिन्ता न करे। मेरे रहते माता की यह अभिलाषा अवश्य पूर्ण होगी।"

राजसभा भग हुई। अभयकुमार की प्रतिज्ञा मे सभी को विश्वास था। फिर भी राजा सोचते थे—आखिर यह लडका करेगा क्या ?

× × ×

धुन का धनी अभयकुमार आज तीन दिन से पौषधशाला मे निराहार, मौन, ध्यानमग्न बैठा था। उसकी मुखमुद्रा से स्पष्ट प्रतीत होता था कि चाहे अनन्तकाल व्यतीत हो जाय, किन्तु वह तब तक अपने आसन से हिलेगा नही जब तक उसके सकल्प की पूर्ति नही हो जाती।

देवलोक मे महाऋद्धिधारी एक देव ने अपने अवधिज्ञान से जाना— पृथ्वी पर उसका मित्र अभयकुमार उसे पुकार रहा है। क्षणभर मे ही अपने पुण्डरीक विमान मे बैठकर वह अभयकुमार के पास आ पहुँचा। अपना परिचय देकर उसने कहा—

"मित्र ! आपने मुझे स्मरण किया। कहो क्या आज्ञा है ?"

ज्यो ही अभयकुमार ने अपनी इच्छा प्रकट की, सारे आकाश मे काली-काली घटाएँ उमड पडी। दिशाओ मे मेघो का गर्जन गुजायमान होने लगा। ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे वर्षाकाल अपने पूर्ण यौवन पर हो।

अभयकुमार की साधना सफल हुई और रानी धारिणी का दोहद पूर्ण हुआ।

सुखपूर्वक समय व्यतीत होता रहा और नौ मास पूर्ण होने पर महा-रानी ने एक सुन्दर बालक को जन्म दिया। प्रजा खुशी से नाच उठी। राजा ने याचको को मनचाहा दान दिया।

धारिणी के पुत्र का नाम रखा गया 'मेघकुमार'। द्वितीया के चन्द्र के समान वह बालक वृद्धि पाने लगा। इसकी देह की कान्ति अद्भुत थी।

आठ वर्ष का होने पर मेघकुमार को विद्याध्ययन हेतु आचार्य के पास भेजा गया और वह शीघ्र ही, अल्पकाल मे ही, सभी कलाओ और विद्याओ मे निष्णात होकर आश्रम से लौट आया।

यौवनकाल भी आया। मेघकुमार की देह अब पूर्ण चन्द्र के समान शोभित हो रही थी। उसके मुख पर एक नैसर्गिक शोभा छाई रहती थी। ऐसा प्रतीत होता था मानो शक्ति और स्वास्थ्य ने ही उसके अग-प्रत्यगो का निर्माण किया हो।

राजा श्रेणिक ने समुचित अवसर जानकर आठ सुन्दरी, सुलक्षणा राजकुमारियो के साथ मेघकुमार का विवाह कर दिया। वे आठो राजकुमारियाँ अष्ट-सिद्धियो के समान मगलमयी थी। उनका प्रत्येक अग तो सुन्दर था ही, साथ ही वे विनय, नम्रता, लज्जा तथा शान्ति की मूर्ति प्रतीत होती थी।

मेघकुमार अपनी आठो पत्नियो सहित सुखपूर्वक समय व्यतीत करने लगे।

× × ×

ससार के प्राणियो को अहिसा धर्म के उपदेश द्वारा परम कल्याण का मार्ग बताते हुए भगवान महावीर एक बार राजगृही नगरी मे पधारकर गुणशील नामक उद्यान मे ठहरे। अनेक देशो मे विचरण करते हुए वे वहाँ पधारे थे। अनन्तज्ञान, परम करुणा, वीतरागता और कठोर तपश्चरण ही उनका जीवन था।

प्रभु के आगमन का समाचार सुनकर सारी नगरी हर्षविभोर होकर उनके दर्शन और उपदेश-श्रवण हेतु उमड पडी। मेघकुमार ने भी अपने महल के गवाक्ष से यह दृश्य देखा, समाचार सुना और भगवान के दर्शन हेतु चल पडा। राजा भी गया, रानी भी गई, सेवक भी गये, सैनिक भी गये।

भगवान के अमृत-वचनो ने लोगो की सूखी जीवन-सरिता मे अमृत वृष्टि का कार्य किया। उन्होने बताया कि जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष का वास्तविक स्वरूप क्या है। जीव और कर्म का सम्बन्ध क्यो और कैसे होता है ? कर्मो के जाल मे फँसकर जीव कैसे अनन्तकाल तक अनेक योनियो मे भटकता है? इन कर्मो से मुक्ति कैसे पाई जा सकती है?

प्रत्येक श्रोता आज अपने जीवन को धन्य मान रहा था। घर बैठे गगा का आना शायद इसे ही कहा जाता है। गगा ही क्या, भगवान स्वय आज उनके पुण्योदय स्वरूप वहाँ पधारे थे।

अस्तु, उपदेश सुनकर अपने जीवन को कृतार्थ मानते हुए तथा अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार व्रत एव तपश्चरण के नियम लेकर लोग लौटे।

किन्तु मेघकुमार का हृदय तो मानो डूब ही गया था। उनके अन्तस्तल मे तो प्रभु के वचन अब भी गूंज रहे थे और गूंजते ही चले जा रहे थे। उन्हे प्रतीत हो रहा था मानो दिशाएँ कह रही हो—ससार क्षणभगुर है। जीवन के सुख अशाश्वत है।

धीरे-धीरे वे उठे और प्रभु के चरणो मे प्रणिपात कर बोले—

"भगवन्! मुझे तो नया जीवन मिल गया है। ससार की असारता को आज मैने जान लिया है। प्रभु! आप मुझे अपनी शरण मे लीजिए। मुझे बन्धन से मुक्ति की ओर ले चलिए।"

भगवान ने शातभाव से उत्तर दिया—

"देवानुप्रिय! जैसे सुख उपजे वैसा ही करो।"

मेघकुमार भगवान के अनुमति-सूचक शब्दो को सुनकर हर्षित होकर अपने माता-पिता के पास पहुंचे। कहा—

"पूज्यपाद! आज भगवान का उपदेश सुनकर मेरी आँखे खुल गई है। ससार असार है। नश्वर है। सच्चा और शाश्वत सुख आत्मा की पूर्ण मुक्ति मे ही है। अत मै उस शाश्वत सुख की प्राप्ति हेतु प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहता हूँ।"

बेटे की बात सुनकर माता तो मूर्च्छित ही हो गई। ऐसा कोमल, सुकुमार, लाडला बेटा महलो के सुख त्यागकर क्या वन-वन भटकेगा? राज भोगो को छोडकर क्या वह भिक्षा माँग-माँगकर खाएगा? हे भगवान, क्या मेरा बेटा मुझे तडपता छोडकर चला जायगा?

उपचार हुआ। रानी धारिणी होश मे आई और विलाप करने लगी। जैसे-तैसे उसे शान्त कर राजा ने कहा—

"बेटा! अभी तेरी आयु ही क्या है? अभी तूने ससार का सुख भोगा ही कहाँ है? समय आने दे, समय पर देखा जायगा।"

किन्तु मेघकुमार का सकल्प अडिग था। उसने कहा—

"पिताजी! भगवान के सत्य वचन सुन लेने के पश्चात् अब मेरा इस माया मे लिप्त रहना सभव नही। आप ही सोचिए—कौन किसका पुत्र है और कौन किसका पिता या माता? ये सम्बन्ध तो इस क्षणभगुर ससार के है।"

"माँ ! तू मुझे सुखभोग करने को कहती है, किन्तु इन भोगो की अभिलापा क्या कभी पूर्ण भी होती है ? यह तो बढती ही चली जाती है। अत दु ख न कर। मुझे सच्चे सुख और कल्याण के मार्ग पर जाने से न रोक।"

मेघकुमार को अपने निश्चय पर अटल देखकर भी राजा श्रेणिक ने एक वार फिर प्रयत्न किया—

"बेटा ! तुम कहते तो ठीक हो, किन्तु सयम अत्यन्त कठोर है। वह काँटो का पथ है। अगारो की राह है। तुम कोमल हो। कैसे उस मार्ग पर चलोगे ? साधु-जीवन मे अनेक प्रकार के सकट पग-पग पर आते है। तुम कैसे उन सकटो का सामना करोगे ? जगल-जगल भटकना पड़ेगा। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी सब सहन करने पडेगे। यह सब कुछ तुम कैसे कर सकोगे ?"

किन्तु मेघकुमार टस से मस न हुए। वीर पुरुप एक वार सकल्प करले तो फिर कौन उसे अपने सकल्प से डिगा सकता है ?

अन्तत· राजा-रानी को, अथवा कहिए कि माता-पिता को ही हार माननी पडी। लेकिन उन्होने अपनी अन्तिम इच्छा प्रकट की—

"अच्छा पुत्र, जब तुम अपने निश्चय पर दृढ हो, तो तुम्हारा कल्याण हो। किन्तु हमारी एक इच्छा की पूर्ति करते जाओ। केवल एक दिन के लिए ही सही, तुम एक वार राज्य-सिहासन पर बैठो। हमारी आँखे कुछ तो तृप्ति का अनुभव करे। उसके बाद तुम साधु-जीवन मे प्रवेश करने के लिए स्वतन्त्र होगे।"

पूज्य माता-पिता की यह आज्ञा शिरोधार्य करना मेघकुमार ने अपना कर्त्तव्य समझा। धूमधाम के साथ उनका राज्याभिषेक हुआ। शान्तभाव से मेघकुमार ने इस समायोजन को स्वीकार किया।

× × ×

दूसरे दिन राजा मेघकुमार 'मेघमुनि' वन गये। माता ने अपने हृदय को स्थिर कर लिया था। उन्होने अन्तिम आशीप वचन कहे थे—

"मेघकुमार ! मेरे वीर पुत्र ! अब जब तुम सयम के मार्ग पर चल ही पडे हो तो सयम मे शिथिलता कभी न लाना।"

भगवान ने दीक्षा के समय वचन कहे थे—

"भव्य ! अब से जीवन-पर्यन्त तुम्हारा एक ही लक्ष्य रहना चाहिए।

उठते-बैठते, चलते-सोते, प्रत्येक क्रिया करते हुए, प्रत्येक पल सतत जाग्रत रहकर सयम मार्ग का अनुसरण करना। अहिसा का पूर्ण रूप से पालन करना। मुनियो के महाव्रतो का निर्दोष रूप से निर्वाह करना।"

मेघमुनि नव दीक्षित थे। सबमे छोटे थे। अत रात्रि मे जब सोने का समय हुआ तो उनका स्थान सबमे पीछे द्वार के समीप था। रात्रि मे जब कोई मुनि किसी आवश्यक कार्य से आते-जाते तो मेघमुनि को बार-बार पैर सिकोडने पडते। कभी-कभी किसी मुनि का पैर उन्हे लग भी जाता। इस प्रकार सारी रात उन्हे कष्ट रहा और वे ठीक से शयन भी न कर सके।

इस स्थिति से उनके चित्त मे विचारो का आन्दोलन आरम्भ हो गया। वे सोचने लगे—मैंने भूल तो नही की? मै सम्राट श्रेणिक का पुत्र इस प्रकार मुनियो की लाते खाते क्यो पडा हूँ? माता-पिता ने क्या सत्य नही कहा था कि मुनि-जीवन अत्यन्त कठोर है?

साथ ही उन्हे स्मरण हुआ—माता ने कहा था कि अब तुम जब सयम धारण कर ही रहे हो तो सयम मे शिथिलता न लाना। मेरे दूध को न लजाना।

विचारो के इस द्वन्द मे पड़े मेघमुनि ने अन्त मे यही निश्चय किया कि घर लौट चलना चाहिए। माता-पिता तो मुझे लौटा देखकर अवश्य ही प्रसन्न होगे।

यह निर्णय लेकर प्रात काल जब वे भगवान के समक्ष पहुँचे तो दिव्य-ज्ञान को धारण करने वाले प्रभु ने भुवनमोहिनी मधुर मुस्कान के साथ कहा—

"क्यो मुनि मेघ! तुम इतने अधीर कैसे हो गये? एक रात के तनिक से कष्ट से ही विचलित हो गये? क्या तुम्हे अपने पूर्वभव का स्मरण नही, जब तुमने दूसरो को सुख पहुँचाने के लिए घोर कष्ट सहन किया था? अरे, उस कष्ट की तुलना मे यह कष्ट तो कुछ भी नही था। तुमने अपनी शक्ति को पहिचाना नही।"

मेघमुनि को बडी लज्जा का अनुभव हुआ। उन्होने अपने हाथ जोड-कर प्रभु से विनय की—

"भगवन्! मुझे मेरे पूर्वजन्म की कथा सुनाइये।"

भगवान ने सुनाया—

अव से तीसरे भव की यह घटना है। वैताढ्य पर्वत के समीप तुम एक हाथियो के यूथ के प्रधान थे। सात हाथ ऊँचे, नौ हाथ लम्बे और श्वेत वर्ण के थे। एक वार गीष्म ऋतु मे उस वन मे प्रचण्ड दावाग्नि फैल गई। वन के जीव-जन्तु उस भयानक अग्नि मे जल-जलकर भस्म होने लगे। प्राण वचाने के लिए सब भागे। तुम भी भागे। भागते-भागते प्यास से तुम्हारा कण्ठ जलने लगा। पानी पीने की अभिलापा से तुम एक कीचड से भरे तालाव मे उतरे और उसके दलदल मे धँस गये।

उसी समय एक दूसरा हाथी वहाँ आया। वह तुमसे शत्रुता रखता था, क्योकि किसी समय तुमने उसे अपने यूथ से निष्कासित कर दिया था। उसे प्रतिशोध लेने का अवसर मिल गया। अपने पैने दाँतो से उसने तुम्हारे शरीर को वेध डाला। इस प्रकार सात दिन तक कष्ट झेलकर तुमने अपना वह जीवन समाप्त किया।

अगले भव मे गगा नदी के किनारे तुम पुन हाथी के ही रूप मे जन्मे और तुम्ही हाथियो के समुदाय के प्रधान बन गये। सयोग से उस वन मे भी दावाग्नि का प्रकोप हुआ। उसे देखकर तुम्हे अपने पूर्वभव का स्मरण हो आया। अत विचारपूर्वक तुमने वर्षाऋतु मे अपने यूथ के हाथी-हथिनियो की सहायता से उस वन मे चार कोस की लम्बाई-चौडाई मे सारे वृक्षो आदि को साफकर एक गोलाकार वनस्पति रहित मण्डल बना लिया। भविष्य मे सुरक्षा की दृष्टि से तुमने यह कार्य किया था।

एक वार फिर ग्रीष्म ऋतु मे धरती प्रचण्ड ताप से जलने लगी। दावानल सुलग उठा। उस समय तुम अपने यूथ को लेकर उस सुरक्षित मडल मे आ गये। वन के अन्य अनेक छोटे-बड़े प्राणी भी अपने प्राण-बचाने के लिए वहाँ दौडे आये। तुमने सबको शरण दी। उसी समय एक खरगोश शरण खोजता वहाँ आया। किन्तु अव उस स्थान पर तिल मात्र जगह न थी।

सयोगवश उसी समय तुमने अपने शरीर को खुजाने के लिए अपना एक पैर उठाया और उस खाली स्थान पर वह खरगोश आकर बैठ गया। तुमने जब पैर वापिस जमीन पर रखना चाहा तो वहाँ वह कोमल, कमजोर काया वाला खरगोश बैठा था।

तुम चाहते तो अपना पैर नीचे रख देते और कष्ट न पाते। किन्तु उस छोटे से, भोले, असहाय, निरुपाय खरगोश पर तुम्हे करुणा उपजी। तुमने उस पर दया करके स्वय कष्ट-सहन किया और अपना पैर अधर ही रखा। इस अनुकम्पा के माहात्म्य से तुम्हे मनुष्यत्व की प्राप्ति हुई।

वह भयानक दावानल ढाई दिन तक सुलगा। पूरे समय तुम्हारा पैर अधर मे ही रहा। दावानल की समाप्ति पर जब सब जीव वहाँ से चले गये तब तुमने अपना पैर पृथ्वी पर टिकाना चाहा। किन्तु इतने लम्बे समय तक अधर रहने के कारण वह सुन्न पड गया था। तुम उसे टिका न सके और धराशायी हो गये। तीन दिन तक उसी स्थिति मे निराहार पडे रहकर तुम मृत्यु को प्राप्त कर सम्राट श्रेणिक के पुत्र होकर उत्पन्न हुए।

हे मेघ! हाथी के जन्म मे इतना कष्ट सहा, उसका सुफल प्राप्त किया और अब मनुष्य होकर क्या इतने से कष्ट से घबरा जाओगे? विचार करो।

मेघमुनि विगलित हो गये थे। प्रभु के चरणो मे वन्दन करते हुए बोले—

"भगवन्! मै अज्ञानी इस सयमरत्न को कंकर मानकर फेंक देना चाहता था। आपने पुन मेरे ज्ञान-नेत्रो को खोल दिया है। मै आज से अपना जीवन प्राणीमात्र की सेवा मे ही व्यतीत करूँगा। प्रभो! एक बार मुझे क्षमा प्रदान कीजिए।"

भगवान के मुखारविन्द पर वही दिव्य स्मित खिला हुआ था।

× × ×

मेघमुनि ने अपने सकल्प का पालन किया। अटल और अडिग साधना पूर्वक वे तपश्चरण एव ज्ञानाराधना मे लीन रहे। समय व्यतीत होता चला गया। भगवान के साथ विचरण करते-करते वे शीघ्र ही ग्यारह अग के पाठी हो गये। एक-एक दिन से लेकर छह-छह महीने तक उपवास धारण करके वे रहने लगे। उनका जीवन ज्ञान तथा चारित्र का एक सुन्दर उदाहरण ही बन गया। भगवान की आज्ञा प्राप्त कर उन्होने पडिमाओ का सूत्रविधि से अनुष्ठान किया और तत्पश्चात् गुणरत्न सवत्सर करने की आज्ञा भी उन्हे प्रभु से प्राप्त हो गई। उनकी नित्य वर्धन पाती हुई शक्तियों को देखकर भगवान ने उन्हे ऐसी अनुमति प्रदान की।

मेघमुनि इसी प्रकार कठिन से कठिनतर तप करते रहे। धीरे-धीरे काल-क्रमानुसार उनका शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया।

तब, अन्त मे मेघमुनि ने समाधिमरण का निश्चय कर प्रभु से आज्ञा चाही। भगवान ने उचित जानकर आज्ञा दी। मेघमुनि ने समस्त मुनियो से जाने-अनजाने हुई भूलो के लिए क्षमायाचना की। यद्यपि मुनि तो समभाव मे चलते है, किसी के प्रति राग-द्वेप नही रखते, किन्तु फिर भी कदाचित् कोई दोप प्रवृत्ति मे आ ही गया हो तो उसके लिए मन-वचन-काया से क्षमा-याचना करना उचित है।

विपुलाचल पर्वत। शिला पर घास का नाममात्र का विछौना। मेघमुनि सिद्धो एव तीर्थकरो की स्तुति कर, अपने लिए हुए नियमो, व्रतो, प्रतिज्ञाओ की निर्दोपिता पर विचार कर, जीवनपर्यन्त आहार-जल का परित्याग कर शय्या पर एक करवट लेटे है।

एक मास तक इसी प्रकार समाधि मे मग्न रहने के पश्चात् अतीव निर्मल परिणामो के साथ मेघमुनि ने अपने आयुष्य को समाप्त किया।

एक वीरपुरुप का शुभ सकल्प इस प्रकार चरमता को प्राप्त हुआ।

—ज्ञाता धर्म कथा १



५०

विष-वृक्ष

यदि कोई व्यक्ति जानते-बूझते हुए भी अपनी हानि करना चाहे तो उसे कौन रोक सकता है ? आँखे रखते हुए भी यदि कोई अन्धा बने और खाई मे गिरना चाहे तो उसे कौन रोक सकता है ? अपने ही पैरो पर स्वय ही कुल्हाडी मारने वाले को कौन रोक सकता है ?

प्रसिद्ध चम्पानगरी की यह कथा है। पाठक इस नगरी से परिचित है। राजा जितशत्रु के विपय मे भी जान चुके हैं। उस नगरी मे एक सार्थवाह रहा करता था। उसका नाम था—धन्य। उस सार्थवाह के पास अपार धनराशि थी। दूर-दूर के देशो मे उसका व्यापार चलता था। धन-धान्य एव ऐश्वर्य मे उसकी समता करने वाला कोई अन्य उस नगरी मे नही था। उसका जीवन आनन्द से व्यतीत हो रहा था।

एक वार मध्यरात्रि को विचार करते-करते उसने व्यापार के लिए अन्यत्र जाने का निश्चय किया। इस वार इस प्रयोजन हेतु उसने अहिच्छत्र नगरी को चुना। यह नगरी चम्पा से उत्तर-पूर्व दिशा मे थी। बडी ही विशाल तथा समृद्ध नगरी थी वह भी। वहाँ कनककेतु नामक राजा राज्य करता था।

राजा कनककेतु अत्यन्त गुणवान था। गुणी व्यक्तियो का वडा आदर करता था। हिमवन्त पर्वत के समान उसका आकर्षक तथा महान् व्यक्तित्व था। उसकी छत्रछाया मे प्रजा वडे सुख से रहती थी।

अपने निश्चय के अनुसार धन्य सार्थवाह ने व्यापार के लिए अनेक

वस्तुएं इकट्ठी की, अपने कौटुम्बिक पुरुषो से विचार-विमर्श किया और सबकी सम्मति लेकर नगर मे घोषणा करा दी कि धन्य सार्थवाह व्यापार के निमित्त अहिच्छत्र नगरी को जा रहा है, जो भी व्यक्ति उसके साथ जाना चाहे, जा सकता है। यात्रा के लिए आवश्यक सभी वस्तुएँ—वस्त्र, भोजन, औषधि इत्यादि यात्रियो को सार्थवाह के द्वारा प्रदान की जायेगी।

यह घोषणा सुनकर बहुत से लोग जो कि अहिच्छत्र नगरी को जाना चाहते थे किन्तु उपयुक्त समय और सुविधा की प्रतीक्षा मे ठहरे हुए थे, धन्य सार्थवाह के समीप आ गये। किसी के पास वस्त्र नही थे, किसी के पास जूते। धन्य सार्थवाह ने सभी लोगो को सारी आवश्यक सामग्री दे दी। उस जमाने मे समर्थ लोग इसी प्रकार अन्य लोगो की निस्वार्थ सेवा किया करते थे।

शुभ मुहूर्त मे यात्रियो का काफिला उमग के साथ चल पडा। मार्ग लम्बा था। यातायात के साधन प्राचीनकाल मे इतने तीव्रगामी नही थे जितने कि आज है। अत यात्रा मे समय अधिक लगा करता था। अनेक स्थानों पर बीच-बीच मे पडाव डालने पडते थे। मार्ग मे कही नदियाँ पडती थी, कही ऊँचे-ऊँचे पर्वत, कही लम्बे-चौड़े मैदान और कही घनघोर जगल। इन सबको पार करते हुए यात्री बडी कठिनाई से बहुत समय मे अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच पाते थे।

धन्य सार्थवाह का काफिला धीरे-धीरे मजिल-दर-मजिल आगे बढता जा रहा था। चलते-चलते उपयुक्त स्थान देखकर पडाव कर भोजन और विश्राम करते हुए वह काफिला अग देश के बीच मे से गुजरता हुआ देश की सीमा पर जा पहुँचा।

देश की सीमा से आगे पहुँचकर धन्य सार्थवाह ने फिर पडाव डाला। उस स्थान से आगे घनघोर जगल था। उसमे बहुत प्रकार के वृक्ष थे। कुछ तो ऐसे वृक्ष थे जिन्हे अनेक मनुष्यो ने पहले कभी देखा ही नही था। उनमे से कुछ वृक्ष ऐसे भी थे जो कि विषैले थे। धन्य सार्थवाह अनेक यात्राएँ कर चुका था। अनुभवी और ज्ञानी था। इस मार्ग से भी वह कई बार गुजर चुका था। अत वह उस जगल तथा वहाँ के वृक्षो से भली-भाँति परिचित था। अपने साथ के अन्य यात्रियो को सावधान करने के लिए उसने सबसे कहा—

"वन्धुओ ! उस स्थान से आगे वडा विकट वन है। उस वन मे अनेक प्रकार की वनस्पतियाँ हैं। मै विशेप रूप से एक वृक्ष की ओर आपका ध्यान आकर्पित करना चाहता हूँ। उस वृक्ष का नाम है—नन्दीफल। इस जगल के मध्य भाग मे ये वृक्ष लगे हुए है। देखने मे ये वृक्ष वहुत मनोहर है। उनका रग-रूप सुन्दर और आकर्पक है। उनकी छाया भी अत्यन्त शीतल और सुखद है। ये वृक्ष गहरे हरे रग के है और सघन हैं। पत्तो, पुष्पो तथा फलो से लदे हुए हैं। किन्तु आप लोग सावधान रहे, जितने आकर्पक ये वृक्ष है, उतने ही भयकर भी है। ये विपवृक्ष है।"

धन्य सार्थवाह की इतनी वात सुनकर सव लोग चिन्तित हुए। सार्थ-वाह ने आगे कहा—

"इन वृक्षो से हमे सावघान रहना है। जो भी व्यक्ति असावधान होकर इन वृक्षो के पत्तो या फलो का भक्षण करेगा, इतना ही नही, जो भी व्यक्ति इनकी छाया मे वैठेगा, वह कुछ समय तो सुख का अनुभव करेगा, किन्तु अन्त मे उसकी मृत्यु निश्चित है। इसलिए मै आप सवको पहले से ही सावधान कर देना चाहता हूँ। कोई व्यक्ति इन वृक्षो के समीप भी न जाये।"

काफिला आगे वढा। चलते-चलते वह उस जगल के ठीक मध्य मे आ पहुँचा, जहाँ पर मृत्यु के दूत वे नन्दीफल नामक वृक्ष लगे हुए थे। उन सुन्दर वृक्षो को देखकर कोई भी व्यक्ति यह कल्पना तक नही कर सकता था कि वे इतने भयानक होगे। उनकी शोभा देखते ही वनती थी। वे खूब हरे-भरे थे। सुन्दर फूलो और चित्त को आकर्पित करने वाले फलो से लदे हुए। उनकी शाखाएँ पवन मे झूम-झूमकर यात्रियो को अपनी ओर आकर्पित कर रही थी।

इस ससार मे कुछ ऐसे व्यसन है जो मनुष्य को इसी प्रकार अपनी ओर आकर्षित करते है। सेवन करने मे वे मधुर प्रतीत होते है, किन्तु उनका परिणाम होता है विनाश।

ये वृक्ष और उनके फल भी ऐसे ही थे।

धन्य सार्थवाह ने उन वृक्षो से कुछ दूर ही अपना पडाव डाला।

किन्तु आगे वढकर जो स्वय ही विनाश को आमन्त्रित करे उसे कौन रोक सकता है ?

सार्थवाह द्वारा पहले से ही चेतावनी दे दिये जाने के उपरान्त भी स्वाद-लोलुप कुछ लोगो की जिह्वा वश मे न रह सकी। उन लोगो ने उन वृक्षो के सुन्दर और मधुर लगने वाले फलो को खा ही लिया। इसी प्रकार कुछ लोगो ने सोचा कि केवल छाया मे बैठने से क्या होता है? ऐसी शीतल छाया मे तो अवश्य विश्राम करना चाहिए। यह सोचकर उन अभागे लोगो ने उनकी छाया मे ही विश्राम लिया।

परिणाम अनिवार्य था। जिन-जिन लोगो ने उन वृक्षो के फलो को खाया अथवा उनकी छाया मे विश्राम किया, वे सदा-सदा के लिए मृत्यु की शीतल छाया मे विश्राम करने चल दिये।

शेष जिन लोगो ने धन्य सार्थवाह की बात और चेतावनी पर ध्यान दिया था, जिन्होने अपने मन पर अधिकार रखा था, जिन्होने अन्य ही वृक्षो के फल खाये तथा अन्य ही वृक्षो के नीचे विश्राम किया था, वे सुखपूर्वक जीवित रहे।

ससार के कामभोग उस नन्दीफल नामक वृक्ष के समान ही विषमय हैं। धर्म हमे निरन्तर यह शिक्षा देता रहता है कि हमे सयम से काम लेना चाहिए। अपनी इन्द्रियो को सयमपूर्वक कामभोगो से बचाना चाहिए। जो व्यक्ति यह जानते हुए भी अपनी इन्द्रियो के वश मे होकर सासारिक काम-भोगो मे लिप्त और अनुरक्त हो जाते है, उन्हे अन्त मे वही परिणाम भोगना पडता है जैसा कि नन्दीफल नामक वृक्ष के फल खाने वालो को भोगना पडा। ऐसे व्यक्ति, निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थी, गृहस्थ अथवा गृहस्थी, इन्द्रियो के वश मे होकर इस लोक मे भी अनेक लोगो के धिक्कार के पात्र होते हैं तथा परलोक मे भी दु ख पाते है। उन्हे अनन्तकाल तक चार प्रकार की गतियो मे भ्रमण करना पडता है।

दूसरे प्रकार के व्यक्ति जो सयम रखते है, वे इस भव मे अनेक श्रमण-श्रमणियो तथा श्रावक-श्राविकाओ द्वारा पूजनीय होते है तथा परभव मे भी सुख प्राप्त करते हुए अन्त मे अनुक्रम से ससार-सागर के पार उतर जाते है।

काफिला आगे बढता गया। अन्त मे मजिल आ गई। अहिच्छत्र नगर के बाहर एक उद्यान मे पडाव डाल दिया गया। यथासमय मूल्यवान भेट लेकर धन्य सार्थवाह राजा कनककेतु की सेवा मे उपस्थित हुआ। राजा

प्रसन्न हुआ। उसने धन्य सार्थवाह को अपने राज्य मे नि शुल्क व्यापार करने की अनुमति प्रदान की।

व्यापार द्वारा विपुल धनराशि अर्जित कर धन्य सार्थवाह अपने घर लौट आया ओर सुख मे अपना जीवन व्यतीत करने लगा।

एक बार चम्पानगरी मे स्थविर भगवन्त का पदार्पण हुआ। धन्य सार्थवाह उनके उपदेश सुनकर प्रभावित हुआ और दीक्षा ग्रहण कर तप और धर्म का जीवन व्यतीत करने लगा। अन्त मे उसे सिद्धि प्राप्त हुई।

मनुष्य के समक्ष दोनो मार्ग खुले पडे है। एक मार्ग उसे विनाश की ओर, विष की ओर ले जाता है तथा दूसरा मार्ग उसे मुक्ति की ओर, अमृत की ओर। मनुष्य को चाहिए कि वह अमृत का, मुक्ति का मार्ग चुने तथा जन्म-मरण के इस चक्र से सदा के लिए मुक्त हो जाय। ससार के कामभोग विषवृक्ष है। इनका त्याग करना ही उचित है।

—ज्ञाता धर्म कथा



५१

भावी के गर्भ में

श्री कृष्ण ने जब सुना कि भगवान नेमिनाथ उनकी द्वारिका नगरी के वाहर उपवन मे आकर विराजे है, तो वे प्रसन्न हो गये। राजकाज तो चलता ही रहता है, जीवन-भर का वखेडा है यह—ऐसा सोचकर और प्रभु-दर्शन के लिए उत्कठित होकर वे रानी पद्मावती सहित चल पड़े।

दर्शन, वन्दन, उपदेश-श्रवण के पश्चात् अन्य जन तो अपने-अपने घरो को लौट गये, किन्तु श्रीकृष्ण के मन मे आज कुछ जिज्ञासाएँ जाग रही थी। उनका समाधान जानने के लिए वे वही ठहर गये और उचित समय जानकर भगवान से पूछने लगे—

"भन्ते ! मैने अपनी इस द्वारिका नगरी को सजाने-सँवारने और समृद्ध करने मे कोई वात उठा नही रखी है। वडा परिश्रम किया है। आज यह नगरी देवलोक के समान सुशोभित एव समृद्ध है। यहाँ की प्रजा भी सुखी है। भविष्य मे इस नगरी का विनाश तो नही होगा ?"

वास्तविकता यह थी कि श्रीकृष्ण यादव कुमारो मे निरन्तर वढती जा रही सुरा और सुन्दरी के प्रति आसक्ति से आशकित हो गये थे। अत वे इसके परिणाम को जानना चाहते थे।

भगवान ने वताया—

"कृष्ण ! तुम तो ज्ञानी हो। क्या तुम नही जानते कि इस ससार मे एक भी वस्तु शाश्वत नही है ? केवल आत्मा ही शाश्वत है। शेप सव कुछ तो एक न एक दिन विनाश को प्राप्त होने ही वाला है। तुम्हारी यह द्वारिका नगरी भी एक दिन विनप्ट होगी।"

कृष्ण गम्भीर हुए। बोले—

"इसका कारण क्या होगा, प्रभु! निमित्त क्या होगा?"

भगवान ने बताया—

"यादव-कुमारो से प्रताडित होकर द्वैपायन ऋषि कुपित होगे। उन्ही के द्वारा इस नगरी का विनाश होगा।"

कृष्ण की आशका सत्य ही निकली। कुछ क्षण विचार करने के बाद उन्होने दूसरा प्रश्न किया—

"क्या मैं भिक्षु बन सकूँगा, भन्ते!"

"नही, कृष्ण! तुम भिक्षु नही बन सकोगे।"

स्वाभाविक था कि कृष्ण इसका कारण जानना चाहते। उन्होने पूछा—

"भन्ते! मै भिक्षु क्यो नही बन सकूँगा?"

भगवान ने इस प्रश्न के उत्तर मे स्पष्ट कथन किया—

"कृष्ण! तुम वासुदेव हो। आज तक के मानव इतिहास मे किसी भी वासुदेव ने प्रव्रज्या नही ली, ले भी नही सकता और ले सकेगा भी नही। यह ससार का शाश्वत नियम है।"

श्रीकृष्ण और भी उलझ गये। सोचते-सोचते उन्होने फिर पूछा—

"भन्ते! ऐसी स्थिति मे यहाँ से जीवन का अन्त हो जाने पर मै कहाँ और किस रूप मे रहूँगा?"

सब कुछ जानने वाले भगवान ने शान्त, मधुर, सहज वाणी मे कहा—

"कृष्ण! यह द्वारिका नगरी जल रही होगी। सुरा और सुन्दरी के नशे मे डूबे हुए इस नगरी के यादव-कुमार इस अग्नि मे भस्म हो रहे होगे। उस समय तुम, बलभद्र और तुम्हारे माता-पिता यहाँ से निकलकर पाण्डव-मथुरा की ओर जाओगे। उस समय मे वसुदेव और देवकी की मृत्यु हो जाने पर कौशाम्बी वन मे एक वृक्ष के नीचे लेटे हुए तुम्हारे पैर मे जराकुमार बाण मारेगा। उससे तुम्हारे जीवन का अन्त हो जायगा और तुम वहाँ से तीसरी पृथ्वी मे जीवन धारण करोगे। उस समय बलभद्र भी तुम्हारे पास नही होगा, क्योकि वह तुम्हारे लिए जल लाने गया होगा।"

श्रीकृष्ण गम्भीर व्यक्ति थे। किन्तु अपने इस दुखद भविष्य को जान-

कर वे भी मन ही मन कुछ भाराक्रान्त हो गये। उन्हे इस स्थिति मे देखकर भगवान ने उनके हृदय मे आशा का सचार करते हुए कहा—

"किन्तु कृष्ण, तुम चिन्ता मे न पडो। यह तो भावी है और ऐसा ही होगा। लेकिन तुम्हारा आगे का जीवन सुखद है।"

कृष्ण ने उत्साहित होकर पूछा—

"यह कैसे होगा, भन्ते ! मै तो सच ही निराश होने लगा था।"

भगवान ने बताया—

"शतद्वार नगर मे एक अमम तीर्थंकर होगा।"

"अहा ! तब क्या होगा भन्ते ?"

"होगा क्या, वह अमम तीर्थंकर तुम ही हो।"

भगवान के इस अमृत वचन को सुनकर श्रीकृष्ण आनन्द के महासागर मे डूब गये। अपनी सम्पूर्ण शक्ति से गहन सिहनाद कर, प्रभु के चरणो की वन्दना कर वे लौट पडे।

—अन्तकृत अग सूत्र



५२

कौड़ी को तो खूब सम्हाला

किसी समय एक वणिक विदेश से एक हजार स्वर्ण मुद्राएँ कमाकर स्वदेश लौट रहा था। रास्ते मे कुछ और लोग मिल गये। उन्ही साथियो के साथ वह लम्बा मार्ग तय करने लगा। वणिक ने मार्ग मे व्यय करने के लिए कुछ रुपयो को भुनवा कर अस्सी काकिणी साथ रख ली। प्रतिदिन एक-एक काकिणी खर्च करते-करते अन्त मे एक काकिणी शेष रही, किन्तु उसे वह पिछले गाँव मे जहाँ इससे पूर्व वह ठहरा था, भूल आया। मार्ग मे कुछ दूर चले आने के बाद एकाएक उसे याद आया कि वह एक काकिणी कही भूल आया है। साथ वालो से बोला—"भाई! एक बडी विचित्र बात हो गई, मैं एक काकिणी पीछे कही भूल आया हूँ। अभी वापस जाकर उसे ढूँढकर लाता हूँ।"

साथियो ने कहा—"जाने भी दो, एक काकिणी कौन-सी बडी बात है? इतनी दूर जाना, ढूँढना, मिले या न मिले, व्यर्थ मे एक दिन का समय नष्ट होगा।" इस प्रकार साथियो ने उसे बहुत समझाया, किन्तु वह न माना। बोला—

"जानते हो धनोपार्जन मे कितनी कठिनाई होती है? यो ही सरलता से एक काकिणी छोड दूँ, यह मेरे लिए सभव नही है। अभी जाता हूँ और उसे ढूँढ कर ले आता हूँ। मै इतना मूर्ख नही हूँ कि गाँठ से जाए और पता भी न लगाऊँ कि वह कहाँ गई?"

साथियो ने उसकी जिद्द के आगे अधिक विवाद करना उचित न समझा। हारकर वे बोले—"अच्छा भाई! हम तो चलते है। अगले गाँव मे तुम्हारी प्रतीक्षा करेंगे। लौटने की शीघ्रता करना।"

साथी आगे निकल गये। वह वणिक वापस पिछले गाँव की ओर

चल पडा। मार्ग मे चलते हुए उसने विचार किया—साथ की हजार स्वर्ण मुद्राएँ कहाँ-कहाँ बाँधे फिरूँगा ? इतना बोझ उतनी दूर ले जाना आवश्यक नही है। आखिर तो यही लौटना ही है। जगल के किसी एकान्त स्थान पर इसे छिपाकर रख दूँ, लौटकर पुन ले लूँगा। यह सोचकर उसने इधर-उधर देखा, कोई दिखाई नही दिया। निश्चित होकर एक वृक्ष के नीचे गड्ढा खोदकर मुद्राएँ उसमे छिपा दी और ऊपर कुछ चिह्न बना कर वह गाँव की ओर चल पडा।

कोई वस्तु गड्ढे मे दबाते दूर खडे एक व्यक्ति ने उसे देख लिया था। उसने जब देखा कि वणिक चला गया है तो वह उस स्थान पर गया और गड्ढे पर की मिट्टी हटाकर देखा—स्वर्णमुद्राएँ चमचमा रही है। उसका रोम-रोम पुलकित हो उठा, खुशी से वह उछल पड़ा—"धन्य है भगवान ! तू सबका रखवाला है। आज इतनी सारी स्वर्ण-मुद्राएँ तूने मेरे लिए ही यहाँ रखवाई है।" इस प्रकार बार-बार भगवान को धन्यवाद देता वह सारी मुद्राओ को समेट कर चलता बना।

अभागा वणिक उस स्थान पर पहुँचा जहाँ पहले ठहरा था। काकिणी को इधर-उधर देखा, लोगो से पूछताछ की, पर वह नही मिली। निराश होकर वह लौट पडा।

जब वह लौटकर वृक्ष के पास स्वर्ण-मुद्राएँ लेने आया तो गड्ढा खुदा हुआ देखा। उसके पैरो के नीचे से धरती सरक गई। स्वर्ण-मुद्राएँ गायब थी। उसकी आँखो के आगे अँधेरा छा गया। सिर पीट-पाट कर वह रोने लगा—"हाय ! मेरी जीवन भर की गाढी कमाई व्यर्थ ही चली गई, अब मैं कही का न रहा। कौन सा मुँह लेकर घर जाऊँगा ? मेरे बाल-बच्चे क्या खायेगे ?" इस प्रकार अपने को कोसता-रोता हुआ वह साथियो के पास आया।

सभी साथी लोग उसे उसकी मूर्खता पर धिक्कारने लगे। स्वर्ण-मुद्राओ के गायब हो जाने की गहन चिन्ता मे वह कृशकाय, दीन-हीन होकर दर-दर मारा-मारा फिरने लगा। एक काकिणी के लोभ का सवरण न कर पाने वाला हजार मुद्राओ से हाथ धो बैठा। सच है लोभ जब अपनी सीमा का अतिक्रमण करने लगता है तो दुःख को अपने पैर जमाने के लिए पूरी सुविधा हो जाती है। लोभी व्यक्ति स्वय ही अपने विनाश का कारण बनता है। ☆

५३

साधु और चन्द्रमा

आज राजगृही नगरी मे बडी चहल-पहल थी। चारो ओर नगर-जन वडे उत्साह से किसी उत्सव की तैयारी मे लगे हुए-से प्रतीत होते थे। उनके प्रसन्न-मुख को देखकर ऐसा प्रतीत होता था जैसे उन सबको आज कोई बहुत बडी निधि प्राप्त होने को है। एक-दूसरे मे लोग मिलते और उमंग से भरकर पूछते—

"अरे भाई ! किधर चले ? अब तक तैयार नही हुए क्या ? भगवान के दर्शन करने नही चलोगे क्या ?"

"खूब ! तुम्हे सारी राजगृही नगरी मे क्या मै ही एक मूर्ख दिखाई दिया हू जो कि मुझसे यह पूछते हो कि क्या मै भगवान के दर्शन करने नही जाऊँगा ? अरे, घर पर गगा आये तो क्या कोई हाथ पर हाथ धरे बैठा रहेगा ?"

"यही तो, यही तो। मै भी यही तो कहू कि जन्म-जन्म के पुण्यो के फलस्वरूप तो ऐसा सौभाग्य प्राप्त होता है . "

"हाँ भई, बस अब चलते है। देर हो रही है।"

इसी प्रकार की उत्साह भरी बाते उस विशाल राजगृही नगरी के समस्त नागरिकों के मुख से सुनाई पडती थी। वे सब भाग-दौडकर भगवान के दर्शन के लिए जाने की तैयारी मे लगे थे।

यही हाल नारियो का भी था। उन्हे किसी भी स्थान पर जाने के लिए तैयार होने मे बडा समय लगता है। किन्तु आज तो मानो वे पुरुषो से भी होड ले रही थी। पुरुष तैयार हो चुके हो या नही, किन्तु नारिया आज

उनसे भी जल्दी तैयार होकर भगवान के दर्शन के लिए जाने को आतुर थी। किसी महिला को कुछ विलम्ब होता भी तो दूसरी उससे कहती—

"अरे महारानी जी! अब छोडो भी ये साज-सिंगार। ये शृंगार तो जन्मभर होते रहेगे, किन्तु भगवान के दर्शन बार-बार नही होते।"

"चल हट! कर कौन रहा है शृंगार? मैं तो कब से तैयार हूँ बाकी काम बाद मे होता रहेगा।"—दूसरी कहती और घर का अधूरा काम छोड-छाडकर झट से निकल पडती। इस प्रकार उस दिन राजगृही नगरी मे जिधर देखो उधर ही आनन्द, उत्साह और आतुरता का एक समुद्र-सा ही उफन पडा था।

और बालक? बालको के स्वभाव को कौन नही जानता? किसी भी उत्सव मे जाना हो बालक सबसे पहले तैयार होते है और आगे-आगे चलते है। फिर आज तो भगवान पधारे थे, उनके दर्शन के लिए जाना था, अत आज उनकी उमंग का तो कोई पार ही नही था। अपने माता-पिता या बड़े भाई-बहिनो को वे खीच-खीचकर लिए जा रहे थे· ।

"जल्दी करो न, माता! आपने कितनी देर लगा दी, पिताजी! सब लोग तो जा रहे है और आप अभी तैयार ही नही हुए। जल्दी करो, चलो न अब · · ·।"

उस दिन राजगृही नगरी मे ऐसा ही वातावरण था। कारण था भगवान महावीर का उस नगरी मे पदार्पण। अनुक्रम से एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाते हुए भगवान महावीर उस दिन राजगृही नगरी मे पहुँचकर नगरी के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा मे गुणशील नामक उद्यान मे, जिसमे कि एक पवित्र चैत्य था, ठहरे थे। उन्ही के दर्शनो तथा उपदेश का पुण्य-लाभ करने के लिए सारी नगरी उत्साहित हो रही थी।

एक ओर उस नगरी के निवासियो का यह हाल था और दूसरी ओर उस नगरी का राजा—श्रेणिक अपने सारे राज-परिवार को तैयार करके अपनी चतुरगिनी सेना के साथ भगवान के दर्शन के लिए आतुर हो रहा था।

अन्त मे परिषद् निकली और भगवान की सेवा मे उपस्थित हुई। भगवान ने धर्म का उपदेश देकर भव्य प्राणियो को कृतार्थ किया।

उसके बाद भगवान के प्रमुख शिष्य गौतम स्वामी के मन मे एक जिज्ञासा हुई। उन्होने भगवान से प्रश्न किया—

"भगवन्! जीव किस प्रकार वृद्धि को प्राप्त होते है और किस प्रकार हानि को प्राप्त होते है? धर्म का यह तत्त्व समझाकर कृतार्थ कीजिए।"

गौतम स्वामी के प्रश्न का अर्थ यही था कि जीव के गुणो की वृद्धि अथवा विकास कैसे होता है तथा उसके गुणो की हानि अथवा ह्रास कैसे होता है। क्योकि जीव तो शाश्वत्, अनादि और अनन्त है, अतएव उनकी सख्या मे वृद्धि अथवा हानि नही होती है। एक-एक जीव असख्यात्-असख्यात् प्रदेश वाला है। उसके प्रदेशो मे भी कभी वृद्धि या हानि नही होती। वृद्धि अथवा हानि जीव के गुणो मे ही होती है।

भगवान ने गौतम स्वामी के प्रश्न का भाव जानकर उत्तर दिया—

"हे गौतम! तुमने चन्द्रमा को देखा है न!"

"देखा है भगवन्!"

"पूर्णिमा और कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के चन्द्र मे कोई अन्तर तुमने पाया है?"

"अन्तर है, भगवन्!"

"बहुत अन्तर है गौतम! जैसे कृष्णपक्ष की प्रतिपदा का चन्द्र पूर्णिमा के चन्द्र की अपेक्षा वर्ण (शुक्लता) से हीन होता है, सौम्यता से हीन होता है स्निग्धता (अरुक्षता) से हीन होता है, कान्ति (मनोहरता) से हीन होता है इसी प्रकार दीप्ति (चमक) से, युक्ति (आकाश के साथ सयोग) से, छाया (प्रतिबिम्ब) या शोभा से, प्रभा (उदयकाल मे कान्ति की स्फुरणा) से, ओजस् (दाहशमन आदि करने के सामर्थ्य) से, लेश्या (किरण रूप लेश्या) से, और मण्डल (गोलाई) से हीन होता है। इसी प्रकार कृष्णपक्ष की द्वितीया का चन्द्रमा, प्रतिपदा के चन्द्रमा की अपेक्षा वर्ण से हीन होता है, मण्डल से भी हीन होता है। उसके बाद तृतीया का चन्द्रमा द्वितीया के चन्द्रमा की अपेक्षा भी वर्ण से हीन, मडल से हीन होता है। यह सत्य है कि नही?"

"यह पूर्णत सत्य है, भगवन्!"

"इसी प्रकार आगे-आगे उसी क्रम से हीन-हीन होता हुआ अमावस्या

का चन्द्र, चतुर्दशी के चन्द्र की अपेक्षा वर्ण आदि से सर्वथा नष्ट होता है, मण्डल से नष्ट होता है, अर्थात् उसमे वर्ण आदि का अभाव हो जाता है।"

"ऐसा ही होता है, प्रभो !"

"तो गौतम ! इसी प्रकार जीव के विपय मे विचार करो, तुम्हें अपने प्रश्न का उत्तर मिल जायगा। जो हमारा साधु या साध्वी प्रव्रजित होकर क्षान्ति-क्षमा से हीन होता है, इसी प्रकार मुक्ति (निर्लोभता) से, आर्जव से, मार्दव से, लाघव से, सत्य से, तप से, त्याग से, आकिंचन्य से और ब्रह्मचर्य से, अर्थात् दस मुनिधर्मो से हीन होता है, वह उसके पश्चात् इन गुणो से हीन से हीनतर होता जाता है। इस प्रकार, इस क्रम से, हीन से हीनतर होता हुआ उसके क्षमा आदि गुण सर्वथा नप्ट हो जाते है, उसका ब्रह्मचर्य भी नप्ट हो जाता है। यही जीव की हानि है।"

भगवान के द्वारा इतनी स्पष्टता से यह तत्त्व समझा दिये जाने पर गौतम स्वामी ने कहा—

"यह स्पष्ट हो गया, भगवन् ।"

"हाँ ! अब तुम स्वय ही जान सकते हो कि जीव की वृद्धि किस प्रकार होती है। जो हमारा साधु या साध्वी दीक्षित होकर क्षमा, ब्रह्मचर्य आदि से वृद्धि प्राप्त करता है वह उसके बाद इन गुणो मे और भी अधिक वृद्धि प्राप्त करता है और अन्त मे निश्चय ही इस क्रम से बढते-बढते वह क्षमा आदि से और ब्रह्मचर्य से परिपूर्ण हो जाता है। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो अमावस्या का गुणहीन चन्द्र पूर्णिमा के पूर्ण कलायुक्त चन्द्र के समान शोभित होने लगता है।"

गौतम स्वामी के मुख पर ज्ञान का स्निग्ध प्रकाश छा गया। उन्होने कहा—

"भगवन् ! मै जान गया कि जीव किस प्रकार वृद्धि अथवा हानि को प्राप्त होता है।"

तब भगवान ने कहा—

"और यह सब सद्गुरु की उपासना से, निरन्तर प्रमादहीन रहने से तथा चारित्रावरण कर्म के विशिप्ट क्षयोपशम से होता है। क्षमा आदि गुणो की क्रमश वृद्धि ऐसी ही क्रिया से होती है और अन्त मे वृद्धि होते-होते वे गुण पूर्णता को प्राप्त होते है।"

इतना कहकर भगवान मौन हो गये।

गौतम स्वामी मन ही मन विचार कर रहे थे—चन्द्रमा के स्थान पर साधु को समझना चाहिए। प्रमाद नहीं करना चाहिए। प्रमाद साधु रूपी चन्द्रमा के लिए राहु के समान है। जैसे चन्द्रमा पूर्ण होकर भी क्रमश हानि को प्राप्त होता-होता सर्वथा क्षीण हो जाता है, उसी प्रकार गुणो से परिपूर्ण साधु भी कुशील जनो के ससर्ग आदि से चारित्र-हीन होता जाता है और अन्त मे उसे बिलकुल ही खो बैठता है। किन्तु हीन गुणवाला होकर भी सुशील साधु का ससर्ग आदि पाकर वह क्रमश पूर्ण गुणो वाला बन जाता है।



५४

अमृत या विष ?

किसी भी वस्तु का अति सेवन अहितकर होता है। अति सेवन से अमृत भी विष वन जाता है।

एक राजा आम खाने का वडा शौकीन था। नित्य-प्रति चुने-चुने, भाँति-भाँति के आमो का वडे चाव से आस्वादन लेता था और खूव लेता था। आम के अत्यधिक सेवन से राजा 'विशूचिका' नामक रोग से बुरी तरह आक्रान्त हो गया। अनेक वैद्य उपचार में लगे किन्तु 'ज्यो-ज्यो दवा की, रोग वढता गया।' राजा असह्य पीडा की अग्नि मे तिल-तिल कर जलने लगा।

एक वार राजा ने एक अनुभवी वैद्य को चिकित्सा के लिए बुलवाया। वैद्य ने राजा के रोग की परीक्षा करने के उपरान्त वताया—"राजन् ! यह रोग अत्यधिक आम खाने से उत्पन्न हुआ है। साधारण चिकित्सा से यह ठीक होने वाला नही। उचित औपधि से मै इसे निर्मूल तो कर सकता हूँ किन्तु औपधि का पथ्य कठिन है। यदि उसका पालन कर सको तो इलाज किया जाये।"

रोग की भयकर पीड़ा से कराहते हुए राजा ने कहा—"वैद्यराज ! आप मुझे रोगमुक्त कर दीजिए, जैसा कहेगे वैसा ही पथ्य का निर्वाह करूँगा।"

वैद्यराज ने कहा—"आपको आम अत्यधिक प्रिय है। रुग्णावस्था मे भी आप उसके मधुर स्वादो के लोभ का सवरण नही कर पा रहे है। लेकिन अव आपको यह दृढ निश्चय करना होगा कि यावज्जीवन आम नही खाऊँगा।

तभी आप रोग मुक्त हो सकेंगे।" राजा ने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। वैद्यराज ने ओषधि द्वारा थोड़े दिनो मे राजा को स्वस्थ कर दिया।

वैद्यराज ने विदा माँगी। राजकोष मे बहुत-सा द्रव्य देकर वैद्यराज को प्रसन्नतापूर्वक राजा ने विदा किया। जाते समय वैद्यजी ने परिवार एव मन्त्रीगणो को विशेष रूप से सावधान करते हुए कहा—

"आपको इस बात की पूर्ण सतर्कता रखनी होगी कि राजा आम खाना तो दूर उसका स्पर्श भी न करे, अन्यथा रोग पुन उठ खडा होगा और तब इसकी चिकित्सा बिल्कुल ही असभव एव दु साध्य हो जाएगी।"

वैद्यराज के कथनानुसार राजा ने आम खाना बिल्कुल छोड दिया। आम खाने की बात तो दूर रही, राजधानी मे आम का व्यापार तक निषिद्ध कर दिया गया। राज्यभर के सभी आम्रतरु कटवा दिये गये—'न रहेगा बाँस, न बजेगी बासुरी'।

एक बार राजा अपने मन्त्री के साथ अश्वारूढ होकर राज्य-सीमा का अतिक्रमण करता हुआ बहुत दूर निकल गया। वहाँ एक विशाल वन था। धूप और श्रम के कारण राजा और मन्त्री क्लान्त एव श्रान्त हो गये थे। अत विश्राम के लिए उन्होने एक आम वृक्ष की छाया मे अपने घोडे रोक दिए। मन्त्री ने सलाह दी—"महाराज! कुछ आगे चलिए, आम के पेड की छाया मे बैठना ठीक नही है।"

राजा हँस पडा—"मन्त्री जी! यह सब तो वैद्यो-हकीमो की चाले होती है। अपना मतलब जिस प्रकार सीधा हो वही उपाय वैद्य या हकीम अपनाते है। भला आम की छाया मे विश्राम करने से कभी रोग उत्पन्न हो सकता है? फिर हमे यहा अधिक समय तक तो ठहरना नही है। कुछ क्षण विश्राम लेने के बाद आगे बढ जाना है। हम आम तो खा नही रहे है।

आखिर मन्त्री को ही राजा की बात माननी पडी।

दोनो उस वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगे। शीतल वायु चल रही थी। आखो मे नींद तैरने लगी। इतने मे वायु का एक झोका खाकर एक अति सुन्दर पका हुआ आम राजा के पास ही टपक पडा। राजा ने पीले रग का सौरभ से गमकता हुआ आम देखा तो उसके मुँह मे पानी भर आया। आम को हाथ मे उठाकर वह उसकी सुगन्धि लेने लगा। उसके मधुर रस

और स्वाद की प्रशसा करने लगा। यह देखकर मन्त्री ने निवेदन किया— "महाराज! एक प्रवीण वैद्य की सलाह की अवहेलना कर आप अपने ही हाथो अपना अहित कर डालेगे। इसी फल से आप दारुण विपत्ति मे पड़े थे, यही आपके विशूचिका नामक असाध्य रोग का कारण था। वैद्यराज ने एक वार तो उस रोग से मुक्ति दिला दी किन्तु पुन रोगी होने पर स्वस्थ कर सकने मे अपनी असमर्थता भी प्रकट कर गये है। अत आप इसे दूर फेक दीजिए। ऐसा न हो कि इसी एक आम के लालच से आपका बहुमूल्य जीवन खतरे मे पड जाए।"

राजा ने कहा—"मन्त्री! तुम निरे बुद्धू हो। एक आम की गणना इस इतने वडे शरीर मे भला कहाँ हो सकती है? यदि एक आम खाने से ही रोग आक्रमण कर दे तो ससार के सभी व्यक्ति इससे सावधान हो जाएँ। इसे विप-वृक्ष की सज्ञा दे दे। यह तो वैद्य का एक डराने वाला हौआ मात्र है।"

ऐसा कहते हुए जिह्वा के स्वाद के वशीभूत वह राजा उस आम के स्वाद की प्रशसा करता हुआ उसे आखिर खा ही गया।

विश्राम के पश्चात् राजा और मन्त्री पुन घोड़े पर सवार होकर राजधानी की ओर लौट पड़े। मार्ग मे ही राजा उदर-पीडा से व्याकुल हो उठा। प्रासाद तक पहुँचते-पहुँचते वह भयकर दाह से कराहने लगा। तत्काल उन पहले वाले वैद्यराज जी को वुलवाया गया। आम खाने की भयकर भूल से राजा को छटपटाता हुआ देखकर वैद्यराज जी ने अपनी असमर्थता प्रकट की और कहा—

"राजन्! आपने अपने ही हाथो अपने पैरो पर कुल्हाडी मार ली है। सर्वनाश हो गया। अव इस रोग को दूर करने की कोई औपधि या उपाय नही है।"

कष्टो से कातर राजा वैद्य एव मन्त्री की अवहेलना करने की अपनी मूर्खता पर पछताता हुआ असह्य वेदना से प्रताडित हो मृत्यु का ग्रास वन गया।

क्षणिक स्वाद के प्रलोभन ने राजा का अमूल्य जीवन असमय मे हरण कर लिया। अहितकारी पदार्थों की आसक्ति कितनी दुस्सह और दारुण होती है! दुरुपयोग किये जाने पर अमृत भी विप वन जाता है।

—उत्तरा०

५५

सबसे सीधा रास्ता

भगवान महावीर अनुक्रम से विचरण करते-करते जिस दिशा मे भी चले जाते थे, उस दिशा और उस स्थान के समस्त प्राणी परम आनन्दित हो उठते थे। भगवान के दर्शन का लाभ बड़े भाग्य से ही प्राप्त होता है। अत एक बार जब भगवान महावीर एक ग्राम से दूसरे ग्राम मे विचरण करते-करते राजगृही नगरी मे पधारे, तब वहाँ के निवासियो के हर्ष का कोई पार ही न रहा।

राजगृही नगरी मे पधारकर भगवान महावीर गुणशील नामक चैत्य मे विराजे। उस नगरी का राजा श्रेणिक बडा धर्मात्मा था। भगवान के आगमन के सुसवाद को जानकर तो वह अत्यन्त आनन्दित हुआ। वह समस्त नगर निवासियो के साथ भगवान के दर्शन तथा धर्मोपदेश का लाभ लेने गया। उपयुक्त रीति से भगवान की वन्दना करके तथा उपदेश सुनकर सभी नगर जन लौट गये।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी के मन मे एक प्रश्न उठा। उसका समाधान उन्होंने भगवान से पूछा—

"भगवन् ! जीव किस प्रकार आराधक अथवा विराधक होते है ?"

भगवान ने विचार किया कि किसी अच्छे उदाहरण सहित ही इस प्रश्न का उत्तर देना चाहिए। अस्तु उन्होंने कहा—

"गौतम ! तुमने समुद्र के किनारे लगने वाले दावद्रव नामक वृक्ष तो देखे है न ?"

"हा भगवन् ! दावद्रव वृक्ष मैने देखे है।"

"वे दावद्रव वृक्ष कृष्ण वर्ण वाले, निकुरव (गुच्छा) रूप है। पत्तो वाले, फूलो वाले, फलो वाले, अपनी हरियाली के कारण मनोहर और श्री से अत्यन्त शोभित है।

"अव जव द्वीप सम्वन्धी ईपत् पुरोवात अर्थात् कुछ-कुछ स्निग्ध अथवा पूर्व दिशा सम्वन्धी वायु, पथ्यवात अर्थात् सामान्यत वनस्पति के लिए हितकारक या पछाही वायु, मद (धीमी-धीमी) वायु और महावात—प्रचण्ड वायु चलती है, तव वहुत से दावद्रव वृक्ष जीर्ण जैसे हो जाते हे, झोड हो जाते है, अर्थात् सडे पत्तो वाले हो जाते है। अतएव वे खिरे हुए पीले पत्तो, पुष्पो और फलो वाले हो जाते है और सूखे पेडों की तरह मुरझाते हुए खड़े रहते है।

"इसी प्रकार हे गौतम ! जो साधु या साध्वी दीक्षित होकर वहुत-से साधुओ, वहुत-सी साध्वियो, वहुत-से श्रावको और वहुत-सी श्राविकाओ के प्रतिकूल वचनो को सम्यक् प्रकार से सहन करता है, यावत् विशेष रूप से सहन करता है, किन्तु वहुत से अन्य तीर्थिको के तथा गृहस्थो के दुर्वचन को सम्यक् प्रकार से सहन नही करता है, यावत् विशेप रूप से सहन नही करता है, ऐसे पुरुप को मैंने देश विरोधक कहा है।

"जव समुद्र सम्वन्धी ईपत् पुरोवात, पथ्य या पश्चात् वात, मदवात और महावात वहती है, तव वहुत से दावद्रव वृक्ष जीर्ण से हो जाते है, झोड हो जाते है, यावत् मुरझाते-मुरझाते खडे रहते हैं। किन्तु कोई-कोई वृक्ष पत्रित, पुष्पित रहते हुए ही अत्यन्त शोभायमान होते रहते है।

"इसी प्रकार जो साधु अथवा साध्वी दीक्षित होकर वहुत-से अन्य तीर्थिको के और वहुत-से गृहस्थो के दुर्वचन सम्यक् प्रकार से सहन करता है और वहुत-से साधुओ, वहुत-सी साध्वियो, वहुत-से श्रावको तथा वहुत-सी श्राविकाओ के दुर्वचन सम्यक् प्रकार से सहन नही करता, उस पुरुष को मैंने देशाराधक कहा है।

"जव द्वीप सम्वन्धी और समुद्र सम्वन्धी एक भी ईषत् पुरोवात, पथ्य या पश्चात् वात, यावत् महावात नही वहती, तव सव दावद्रव वृक्ष जीर्ण सरीखे हो जाते है, यावत् मुरझाये-मुरझाये रहते है।

"इसी प्रकार हे आयुष्मान् श्रमणो ! जो साधु या साध्वी यावत् प्रव्रजित होकर वहुत-से साधुओ, वहुत-सी साध्वियो, वहुत-से श्रावको, वहुत

सी श्राविकाओ के, बहुत-से अन्य तीर्थिको एव बहुत-से गृहस्थो के दुर्वचनो को सम्यक् प्रकार सहन नही करता, उस पुरुष को मैने सर्वविराधक कहा है।

"और अन्त मे, जब द्वीप सम्बन्धी भी और समुद्र सम्बन्धी भी ईषत् पुरोवात, पथ्य या पश्चात् वात बहती है तब सभी दावद्रव वृक्ष पत्रित, पुष्पित, फलित रहकर सुशोभित रहते है।

"हे गौतम ! इसी प्रकार जो साधु या साध्वी बहुत-से श्रमणो के, बहुत-सी श्रमणियो के, बहुत-से श्रावको के, बहुत-सी श्राविकाओ के, बहुत-से अन्य तीर्थिको के और बहुत-से गृहस्थो के अर्थात् सबके दुर्वचन सम्यक् प्रकार सहन करता है, उस पुरुष को मैने सर्वाराधक कहा है।"

और भी स्पष्ट करते हुए भगवान ने कहा—

"अर्थ यह है गौतम ! कि मैने जो दावद्रव वृक्ष की उपमा दी, वह साधु के लिए है। ऐसा मानो कि साधु दावद्रव वृक्ष के समान है। इसी प्रकार द्वीप की वायु के समान स्वपक्षी साधु आदि के वचन, समुद्री वायु के समान अन्य तीर्थिको के वचन और पुष्प-फल आदि के समान मोक्षमार्ग की आराधना समझना चाहिए। पुष्प आदि के नाश का अर्थ है मोक्षमार्ग की विराधना।

'मैने जैसे द्वीप की वायु के ससर्ग से वृक्षो की समृद्धि बताई, उसी प्रकार साधर्मी के दुर्वचन सहने से मोक्षमार्ग की आराधना और दुर्वचन न सहने से विराधना समझना चाहिए। अन्य तीर्थिको के दुर्वचन न सहने से मोक्षमार्ग की अल्प विराधना होती है। जैसे समुद्री वायु से पुष्प आदि की थोडी समृद्धि और बहुत असमृद्धि बताई, उसी प्रकार पर-तीर्थिको के दुर्वचन सहन करने और स्वपक्ष के सहन न करने से थोडी आराधना और बहुत विराधना होती है और दोनो के दुर्वचन सहन न करके क्रोध आदि करने से सर्वथा विराधना और सहन करने से सर्वथा आराधना होती है।

अत अभिप्राय यह है कि हे गौतम ! साधु को सभी के दुर्वचन क्षमा-भाव से सहन करना चाहिए। क्षमा साधु का सबसे बडा आधार है। मोक्ष की आराधना की वह एकमात्र कुजी है। क्षमाभाव मोक्ष की मजिल का सबसे सीधा रास्ता है।"

☆

५६

आग्रह छोड़ो

एक वार एक नगर मे कुछ व्यापारियो को अपने व्यापार मे भारी हानि उठानी पडी। यहाँ तक कि पास की मूल पूँजी भी प्राय समाप्त हो चली। "आगे और भी परिस्थिति खराव होगी," ऐसा विचार कर सभी व्यापारियो ने आपस मे विचार-विमर्श कर, सहमत होकर अन्यत्र किसी दूर-वर्ती स्थान पर जाकर व्यापार करके धन कमाने की योजना वनाई।

निर्णय के अनुसार व्यापारियो का वह काफिला कुछ अन्य दरिद्र साथियो को साथ लेकर यात्रा पर निकल पडा। काफी मार्ग पार कर लेने के पश्चात् उन्हे पहाडियो से घिरा एक निर्जन स्थान दिखाई पडा। वहाँ पहुँचने पर व्यापारियो ने देखा कि उस स्थान पर इधर-उधर काफी मात्रा मे लोहा विखरा पडा है और जव उन्हे यह ज्ञात हुआ कि यहाँ पर लोहे की खान है तो सभी वहुत प्रसन्न हुए। "यह तो व्यापार का अच्छा साधन बन जायेगा," ऐसा विचार कर सवने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार लोहे के गट्ठर वाँध लिए। "नगर मे जाकर वेच देगे तो कुछ पैसे उपलब्ध हो जायेगे।" ऐसा विचार करके जव वे कुछ आगे वढे तो उन्हे 'त्रपु' (शीशा-रागा) की खान मिली। उन्होने सोचा 'लोहे' से इसकी कीमत ज्यादा होती है, अत क्यो न लोहे को यही छोडकर इसे वाँध ले।"

यह विचार कर वे सभी रागा के गट्ठर वाँधने की तैयारी करने लगे। तभी उनमे से एक व्यापारी वोला—"वास्तव मे तुम लोग अस्थिर विचार के व्यक्ति हो। जव एक वस्तु ले रखी है तो उसे छोडकर दूसरी पर

क्यो आकर्षित होते हो ? इतनी दूर से सिर पर उठाकर लाये गये लोहे को छोडना कहाँ की बुद्धिमानी है ?"

दूसरे साथियो ने उसे "लोहे से रांगे का अधिक मूल्य प्राप्त होगा" कहकर समझाने का प्रयास किया, किन्तु वह अपने हठ पर अडिग ही रहा। निदान सब आगे चले। आगे चलने पर उन्हे ताँबे की खाने मिली। राँगा छोडकर जब ताँबा लेने की बात आई तो पहले व्यापारी को यह बिल्कुल नही रुचा। बात समझाने पर भी वह अपनी हठ पर अडा ही रहा।

अन्य व्यापारियो ने सोचा—"हठ के वशीभूत होकर यह मूर्खता कर रहा है तो इसे लोहा ही लिए रहने दो, लेकिन हम सबको धन कमाना है इसलिए लाभदायक वस्तु का त्याग क्यो करे ?" ऐसा सोचकर उन लोगो ने रांगे को वही छोडकर ताँबे के गट्ठर बाँध लिए।

जैसे-जैसे व्यापारी आगे चलते गये वैसे-वैसे उन्हे क्रमश चादी और फिर सोने की खाने मिली। सब पीछे से उठाए हुए गट्ठर वही डालकर आगे की बहुमूल्य वस्तुओ के गट्ठर बाँधते गये। साथ ही उस हठी व्यापारी को भी समझाते रहे—"लोहे का भारी-भरकम गट्ठर फेक दो, उससे तुम्हे कौन-सी विशेष रकम प्राप्त हो जायेगी ? सामने पडे सोने-चाँदी की अवहेलना कर तुम्हे अन्त मे पछताना पड़ेगा। भाग्य से यदि ऐसा अवसर आ गया है तो इसे व्यर्थ चूकना परले सिरे की मूर्खता ही होगी।"

पहला साथी उन लोगो की बात सुनकर खीझ उठा—"तुम लोग

मणि है। एक ही मणि से तुम्हारा जन्म-भर का दारिद्र्य दूर हो जायेगा। अत अब तो लोहे का गट्ठर फेंक दो और मन चाहे जितने वज्ररत्न बांध लो।" ऐसा कहकर एक बार फिर उस हठी व्यापारी को समझाने का प्रयास उसके साथियो ने किया।

उत्तर मे पुन उस व्यापारी ने कहा—"एक बार कह दिया कि मैं अपनी दूर से लाई वस्तु को किसी भी मूल्य पर छोडने को तैयार नही हूं। तुम्हारे समान लोभी नही हूं। क्षणिक बुद्धि के बल पर गेंद की तरह इधर-उधर लुढकना मुझे कतई पसन्द नही हे। बार-बार मुझे मत छेडो। तुम्हें जो जंचे वैसा करो।"

फिर भी साथियो से न रहा गया। वे जानते थे कि उनके हठ का परिणाम क्या होगा? उसके हित की बात सोचते हुए वे पुन आग्रह करने लगे—"भाई! तुम अपना लोहे का गट्ठर भले ही मोह के वशीभूत होकर न त्याग सको, किन्तु अधिक नही तो केवल एक ही 'मणि' ले लो, अन्यथा जीवन भर दरिद्रता की चक्की मे पिसते हुए अपनी नादानी पर हाथ मल-कर पछताते रहोगे।"

साथियो के इस आग्रह पर वह हठी व्यापारी अब आगबबूला हो उठा और कहने लगा—"तुम लोग नाहक मेरा पीछा पकड रहे हो, म दरिद्र ही रह जाऊँगा तो तुम धन्ना सेठो की ड्योढी पर भीख माँगने नही आऊँगा। जाओ अपना-अपना भाग्य बदलो।"

साथियो ने देखा कि यह किसी भी तरह अपना हठ छोडने को तैयार नही है तो आपस मे कहने लगे—"भाई जाने भी दो! नाहक इसे क्यो तग कर रहे हो। जब इसके भाग्य मे फूटी कौडी ही नही है तो हम सब मिलकर इसके भाग्य मे कगन कैसे चढा सकते है?"

वज्ररत्न मणि को लेकर कुछ दिनो के बाद वे सभी व्यापारी अपने जनपद को लौट आये। एक-एक ही मणि ने उन सब के भाग्य को बदल दिया। वे मालामाल हो गये। सबकी अपनी-अपनी गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ खडी हो गईं। नौकर-चाकर, हाथी-घोड़े रथ आदि सभी उनके महलो मे खडे हो गये। सारी सुख-सुविधा से वे भरपूर हो गये।

जो अभागा व्यापारी लोहे का गट्ठर लाद कर इतनी दूर लाया, उसे बेचने पर उसे जो कुछ भी थोडा मूल्य मिला, उससे उसने दो-चार दिनो के

खाने-पीने का सामान खरीद लिया। कुछ पैसे उसमे से बचा कर मामूली सौदा खरीद कर वह नगर मे फेरी करने लगा। फेरी से प्राप्त थोड़े से द्रव्य से किसी प्रकार अपनी आजीविका चलाता हुआ कष्टमय जीवन व्यतीत करने लगा।

एक दिन फेरी करता हुआ वह एक महल के निकट जब पहुचा तो महल के स्वामी ने इस फेरी वाले को पहचान लिया। उसका मन पुरानी स्मृतियो मे डूबने लगा—"यह वही अभागा व्यापारी है जिसे हम लोगो ने समझाने की पूरी कोशिश की थी, किन्तु भाग्य बडा प्रबल होता है। अपनी हठधर्मी के कारण ही इसकी यह दुर्दशा हो रही है।" उसने तत्काल परिचारक को भेजकर उसे महलो मे बुलवाया।

फेरी वाला बहुत प्रसन्न हुआ, सोचने लगा—आज अच्छे मुहूर्त मे घर से निकला हूं, एक ही स्थान पर सारा माल बिक जायेगा। महल मे पहुंचते ही सेठ ने उसकी ओर देखा और अनुभव किया कि यह तो साक्षात् दरिद्रता की मूर्ति है, फटे-पुराने चिथडो मे लिपटा उसका कृश-शरीर अपनी दयनीय स्थिति की कथा स्वय कह रहा था।

सेठ ने पूछा—"क्यो भाई! इसके पहले मुझे कभी देखा है?"

फेरी वाले ने बडी दीनता से उत्तर दिया—"नही मालिक! आज पहली बार ही इस महल मे आया हूं और आपके दर्शन कर रहा हूं।"

सेठ ने फिर कहा—"एक बार याद तो करो, शायद हमारी तुम्हारी मुलाकात कही हुई हो?"

फेरी वाले ने जब सेठ की सहज गभीर बात सुनी तो वह बडे गौर से उनकी ओर देखने लगा। तत्क्षण ही उसकी पुरानी स्मृतिया उभरकर सामने आ गई "अरे, यह तो उन्ही व्यापारियो मे से एक है, जिन्होने व्यापार की इच्छा से दूरवर्ती प्रदेशो की यात्रा की थी। इन लोगो ने मार्ग मे मुझे बहुत समझाया भी था कि लोहे का गट्ठर त्यागकर चादी, सोना, रत्न-वज्ररत्न ले लो, लेकिन मेरी हठधर्मी ने इन सबकी बातो का पूरी तरह तिरस्कार किया था। आज ये सब वज्ररत्न के कारण ही विपुल वैभवशाली और धनाढ्य हो गये है, जबकि मै दर-दर की ठोकरे खा रहा हू।"

फेरी वाले को अपने दुराग्रह पर इतना पश्चाताप और दुःख हुआ कि वह चक्कर खाकर फर्श पर गिर पडा और बेहोश हो गया।

सेठ के आदेश पर नौकरो ने उसे उठाया। साधारण परिचर्या के बाद जब उसे होश आया तो वह फूट-फूटकर रोने लगा—"कहाँ यह गगन-चुम्बी अट्टालिकाएँ, नौकर-चाकर, सभी प्रकार की सुख-सुविधाएँ और कहाँ मै सडको की धूल फाँकने वाला गरीब। सारा दिन फेरी करने के पश्चात भी जिसे भर-पेट भोजन और तन ढँकने को गज भर कपडा भी नही मिल पाता।"

सेठ ने पुन पुरानी स्मृतियो को ताजा करते हुए कहा—"भाई ! उस समय तो तुम हम लोगो को गालियाँ देते और कोसते थे ! हमारी अस्थिरता का उपहास करते थे, लेकिन तुम्हारी स्थिरता तुम्हे दरिद्रता से उबार न सकी। अब रोने-धोने और पछताने से क्या लाभ ?"

फेरी वाले ने दोनो हाथ जोडकर विनीत स्वरो मे सेठ से क्षमा याचना की। सेठ ने पुराना साथी जानकर उसे बहुत सारी सम्पत्ति देकर विदा किया।

मिथ्या आग्रह छोडकर "सच्चाई को स्वीकार करना" यदि अन्य व्यापारियो की तरह उसे भी उचित लगता तो इस तरह दरिद्रता की चक्की मे उसे न पिसना पडता। औरो की तरह वह भी ऐश्वर्यशाली बन जाता और सुख पाता।

—**राजप्रश्नीय**



५७

आखिर सबकी एक गति

किसी जंगल के एक छोर पर सघन छायादार एक वृक्ष था। वह अत्यन्त विशाल तो था ही साथ ही अति प्राचीन भी था। युगों से अपनी शाखाओं-प्रशाखाओं को फैलाए बूढ़े तपस्वी की भाँति जटाजूट में आवेष्टित हजारों पशु-पक्षियों का आश्रयदाता बन कर वह खड़ा था। उसका मूल-स्कन्ध इतना विशाल था कि उसमें से निकली चारों ओर फैली हुई सैकड़ों-हजारों छोटी-बड़ी शाखाएं ऊपर उठती हुई मानो आकाश चूम लेने को उत्सुक थीं। अगणित तूफानों और झंझावातों को सहता हुआ भी वह अडिग और स्थिर ही रहा। अनगिनत हरे-भरे पत्तों से लहलहाती हुई उसकी डालियां हवा में झूमती रहती थीं। वायु के एक हल्के स्पर्श से ही हजारों पत्ते एक साथ नृत्य कर उठते थे।

उस विशालकाय वृक्ष पर एक वृद्ध पीला पत्ता भी था जो हवा के साधारण झोंकों से ही आन्दोलित हो उठता था। वह अपने जीवन की अन्तिम घड़ियों की प्रतीक्षा कर रहा था। बन्धन शिथिल हो गये थे। काल के मुख में जाने के लिए अब वायु का एक झोंका ही उसके लिए काफी था।

आखिर वह घड़ी भी आ पहुँची। हवा के एक तीव्र झोंके ने उस जीर्णशीर्ण पत्ते को उस महावृक्ष से अलग कर दिया। उड़ चला वह पवन के साथ। उसे इतना अवकाश ही कहाँ था कि मुड़कर अपने साथियों की ओर देखे?

इधर [illegible] नवीन [illegible] फूटे हुए कोमल कोंपलों ने उस [illegible] देखा और हँस पड़ी। पूछने लगी— बाबा! अ

प्रकार सारा सम्बन्ध तोडकर हवा के झोकों में उलटते-पलटते कहाँ चल पड़े ?"

उस वृद्ध पत्ते ने धैर्य रखते हुए कहा—"सुकुमार कोपलो ! तुम नादान हो। आज तुम सब मेरी इस स्थिति को देखकर उपहास कर रही हो, यह उचित नही है। एक दिन मैंने भी तुम्हारी ही तरह शैशव की अँगडाइयाँ ली थी, सुकुमार बचपन देखा था। मैं भी किसी दिन तरुणाई के मादक सुनहले सपने सँजोता हुआ मधुर राग मे सगीत-लहरी बिखेरता था। अपनी शाखा पर विहँसता और पुलकित होता था और तुम्हारी ही तरह प्रत्येक विनष्ट होने वाले बूढे पत्ते का मजाक उडाया करता था। पर आज स्वय भी इस स्थिति मे पहुँचकर जीर्ण-शीर्ण अवस्था मे विदा ले रहा हूँ। भूलो मत ! हमारी ही तरह कल तुम्हारी भी बारी आयेगी। उस वृक्ष पर हँसने वाली सभी नवोदित कोपलो की कालान्तर मे यही गति होनी है। सबको एक दिन विदा लेनी ही पडती है।"

इतनी बात कहकर वह अवस्था-प्राप्त पत्ता अन्य जीर्ण-शीर्ण पत्तों के बीच आकर लुप्त हो गया।

ऐसा कोई भी तो नही जिसे एक न एक दिन जीवन-सरिता के कगार से फिसल कर अतल जल मे समाधिस्थ न हो जाना पडे।

—अनुयोगद्वार



५८

मम्मण सेठ का बैल

रानी की निद्रा भग हो गई। बिजलियाँ चमक रही थी। बादल राक्षसों की तरह गरज रहे थे। मूसलाधार वृष्टि हो रही थी। वर्षा-काल था।

रानी महल की खिड़की के पास आ बैठी। बाहर का दृश्य देखने लगी। बीच-बीच मे बिजली के चमकने से जो प्रकाश फैलता था उसमे उसने देखा—एक व्यक्ति नदी मे से कुछ निकाल कर लाता है, किनारे पर रख देता है और फिर नदी मे उतरता है।

ध्यान से बार-बार देखने पर रानी को पता चला कि वह व्यक्ति नदी के प्रवाह मे बह-बहकर आती हुई लकडिया एकत्र कर रहा है। उसने सोचा—कोई बहुत गरीब आदमी है बेचारा।

प्रात काल होने पर रानी ने राजा से कहा—

"आपके राज्य मे ऐसे-ऐसे गरीब व्यक्ति भी है? ऐसा कैसा राज्य है आपका?"

राजा था श्रेणिक और रानी थी चेलना।

श्रेणिक को बडा आश्चर्य हुआ। वह प्रजावत्सल था। प्रजा के दुख को दूर करने के लिए सदैव तत्पर रहता था। उसने उसी समय अपने अनु-चर भेजकर उस व्यक्ति का पता लगवाया और परिणामस्वरूप राजा के सामने उपस्थित किये गये—मम्मण सेठ।

राजा द्वारा पूछे जाने पर उसने बताया

"राजन् ! आपकी ही प्रजा हूँ। मेरा नाम है मम्मण सेठ। मेरे पास एक बैल तो है, दूसरे बैल की प्राप्ति के लिए ही यह परिश्रम कर रहा था।"

राजा को दया आ गई। सोचा—गरीब है बेचारा। कहा—

"जाओ, मेरी गोशाला से एक बैल तुम ले जाओ। इतनी-सी बात के लिए इतना कष्ट क्यो उठा रहे हो ? आखिर मेरी सम्पत्ति मे भी तो सारी प्रजा का भाग है।"

राजा की आज्ञा सुनकर गोशाला का अध्यक्ष मम्मण को गोशाला मे ले गया। सैकडो-हजारो बैल थे, एक से एक बढकर, कुछ आकार और शक्ति मे हाथियो जैसे, कुछ तेज और बल मे सिह जैसे।

किन्तु हमारे मम्मण सेठ को एक भी बैल पसन्द नही आया।

राजा ने सुना तो बडा आश्चर्य हुआ उसे। पूछा—"क्या हुआ मम्मण कोई बैल पसन्द नही आया ? इतने सारे बैलो मे से ?"

"राजन् ! मुझे तो मेरे बैल की जोड का बैल चाहिए। उसकी जोड का बैल आपकी गोशाला मे नही है।

मम्मण सेठ के इस उत्तर से राजगृही के प्रतापी राजा श्रेणिक के विस्मय और झुँझलाहट का पार न रहा। कुछ खीझ के साथ उसने कहा—

"ऐसा कैसा बैल है तुम्हारा ? लाकर मुझे दिखलाओ तो जरा।"

मम्मण सेठ ने कहा—

"राजन् ! आदेश सिर-माथे। किन्तु मेरा बैल यहाँ नही आ सकता। आप कृपा कर मेरे घर पधारे।"

राजा ने सोचा कि अजीब झक्की आदमी से पाला पड गया। किन्तु वे विचारवान थे। धीरज रखकर मम्मण के साथ चल पडे।

मम्मण सेठ की विशाल हवेली खण्डहर जैसी हो रही थी। कोई सार-सँभाल नही। ऐसी, जैसे आदमी के नही, भूतो के रहने के लिए हो। राजा चुपचाप चलता रहा।

मम्मण उसे तलघर मे ले गया। अँधेरा ही अँधेरा था। किन्तु वहाँ जाकर मम्मण ने किसी वस्तु के ऊपर से एक फटी गुदडी हटाई और पलक मारते ही तीव्र प्रकाश से राजा की आँखे चौधिया गई।

धीरे-धीरे दृष्टि जमाकर उसने देखा—स्वर्ण का एक बैल है। हीरे-पन्ने-मोती-माणिक्यो से जडा हुआ है। रत्न-राशि जगर-मगर कर रही है।

श्रेणिक बिम्बसार देखता ही रह गया।

मम्मण बोला—

"मुझ गरीब का यह बैल है, राजन्! इसकी जोड़ का दूसरा बैल लाने के लिए ही दिन-रात श्रम करता हूँ। बड़ी मितव्ययता से गुजारा करता हूँ।"

सुनकर श्रेणिक ने फिर मन ही मन सोचा—अजीब झक्की के पाले पड़ गया मैं आज! और वह चुपचाप लौट आया। ऐसे झक्की को वह कहता भी तो क्या?

एक बार श्रेणिक ने भगवान महावीर से पूछा—

"भन्ते! इस मम्मण सेठ के पास इतना विपुल धन है, फिर भी वह तो दुखी का दुखी ही है। न स्वयं खाता है, न अन्य को देता है। तनिक-सा दान-पुण्य भी वह नहीं कर सकता। ऐसा क्यों?"

भगवान ने कहा—

"देवानुप्रिय! वह पाप का धन है। इस कारण वह उसे किसी शुभ कार्य में व्यय नहीं कर सकता। धन दो प्रकार से प्राप्त होता है—पुण्यानुबन्धी पुण्य से, और पापानुबन्धी पुण्य से। जिस धन को पाकर मनुष्य के हृदय में शुभ कार्य करने की प्रेरणा हो, वही पहला है, और श्रेष्ठ है। किन्तु जिस धन को पाकर ऐसा संकल्प न जागे वह दूसरा है, अशुभ है, निरर्थक है। इस प्रकार के धन से मनुष्य की कोई भलाई नहीं होती। उससे तो धन का मोह होता है और वह बढ़ता ही रहता है। उस धन में ऐसी आसक्ति उस मनुष्य की होती है कि उससे कभी कोई शुभ कार्य नहीं होता।

देवानुप्रिय! धन तो गृहस्थ जीवन के लिए साधन है। साध्य तो वह है नहीं। उसे साध्य कभी बनने भी नहीं देना चाहिए।

"यह मम्मण इतना धन एकत्र करके भी इसी कारण सुखी न हो सका। जीवनभर वह दुखी ही रहा और नरकवास ही उसका भविष्य है! धन से मोह रखने का अन्य परिणाम हो भी नहीं सकता।"

मार्ग-दर्शन

इन्द्र की अमरावती से होड लेने वाली एक नगरी थी—द्वारिका। और उस नगरी का शासन करते थे स्वय वासुदेव श्रीकृष्ण। महापुरुष थे। वे अपनी प्रजा का पालन पुत्रवत् ही करते थे। किसी दीन-दुखी को [illegible] तो उन्हे तब तक शान्ति न मिलती जब तक कि वे उसके सारे दुख [illegible] सारा दैन्य दूर न कर देते। प्रजा भी अपने ऐसे राजा के लिए [illegible] आशीर्वादो की मगल-वर्षा किया करती थी।

एक दिन अपने गजराज पर आसीन वे ससैन्य, सपरिवार भगवान नेमिनाथ के दर्शन करने नगर से बाहर जा रहे थे। विशाल राजपथ उनकी जय-जयकार से गूँज रहा था।

मार्ग मे उनकी तीक्ष्ण दृष्टि एक वृद्ध पर पडी। वृद्ध अशक्त था, सारी देह पर झुर्रियाँ पडी हुई थी। चलते-फिरते उसके हाथ-पैर कॉपते थे। निर्धन भी होगा बेचारा। तभी तो उस आयु और उस शारीरिक स्थिति मे भी एक-एक ईंट उठाकर वह अपने घर मे धीरे-धीरे ले जा रहा था। देखकर लगता था कि वह गरीब अब गिरा, तब गिरा।

कृष्ण ने ज्योही उसे देखा, कूदकर वे अपने गजराज से नीचे आ गये। गरक्षक देखते ही रह गये कि यह क्या हुआ [illegible]।

कृष्ण ने एक ईंट उठाई और वृद्ध के घर मे जाकर रख दी।

फिर क्या था ? विशाल सैन्य साथ था। अपने राजा को ईंट उठाकर

वृद्ध के घर मे रखते देखकर सारे सैनिकों ने एक-एक ईंट उठाई और घर मे पहुँचा दी। देखते-देखते ही सारी ईंटे यथास्थान पहुँच गई।

छोटी-सी बात है और छोटी-सी घटना है। किन्तु यह सकेत करती है कि लोकनायक युगपुरुष मानवता का मार्गदर्शन किस प्रकार करते है। अपने आचरण मे वे मानवता का इतिहास गढते है, और अपने व्यवहार से वे मानवता को उस राजमार्ग पर ले आते है जो कल्याण की दिशा मे जाता है।

कृष्ण चाहते तो आदेश भी दे सकते थे और उपदेश भी। उनके आदेश का तत्क्षण पालन भी होता। किन्तु अपने आचरण से उन्होंने जो कर दिखाया वह प्रजा के हृदय मे वज्रलेख बनकर अंकित हो गया।

—अन्तकृत अगसूत्र

६०

प्रतिबोध

किसी युग मे इस जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतक्षेत्र मे काकदी नामक एक नगरी थी। उस नगरी से एक योजन दूर कोशाम्ब्र नाम का एक गहन वन था। अनेक प्रकार के वन्य-पशु वहाँ स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करते थे।

एक दिन वहुत से मृगो का एक झुण्ड चौकडियाँ भरता उस वन मे विचरण कर रहा था। अचानक कोई आहट पाकर वह सारा झुण्ड वन मे विलीन हो गया, केवल एक मृगी भाग न सकी। राजकुमार मणिरथ कुमार अपना धनुष-वाण ताने वहाँ आ पहुँचा। मृगी अपने विवश भोले नयनो से उसे देखती रह गई। राजकुमार मृगया पर जव निकलता था तव वह दया को महलो मे ही छोड आता था।

किन्तु आज एक आश्चर्य हुआ। मृगी आँखो मे आँसू भरे राजकुमार को स्थिर होकर देख रही थी, एकटक! भागने का कोई उपक्रम नही। राजकुमार भी स्तब्ध। धीरे-धीरे वह मृगी अपनी मृत्यु की चिन्ता त्याग कर राजकुमार के समीप आकर खडी हो गई। राजकुमार के हृदय को भी जाने क्या हुआ कि उसने अपना धनुप-वाण तोड कर फेक दिया और स्नेह-पूर्वक मृगी की देह को सहलाने लगा। मृगी चुपचाप अपनी वडी-वडी आँखो से आँसू ढलकाती रही। यह देखकर राजकुमार ने विचार किया कि अवश्य ही यह मृगी किसी पूर्व जन्म मे उसकी कोई प्रिय होनी चाहिए।

विचार करते-करते उसे स्मरण हुआ कि आज नगरी मे भगवान महावीर पधारे है। केवलज्ञानी भगवान से इस रहस्य को जान लेने के लिए वह लौट पडा। किन्तु मृगी ने राजकुमार का साथ नही छोडा। वह

भी उसके पीछे-पीछे भगवान के समीप जा पहुँची। राजकुमार ने भगवान से पूछा—

"प्रभु! मुझे अत्यन्त स्नेह करने वाली यह मृगी कौन है?"

भूतकाल, वर्तमान और भविष्य मे घटित हुई, हो रही तथा होने वाली सभी बातो को जानने वाले सर्वज्ञानी भगवान ने उपस्थित सभी प्राणियो को बोध देने के लिए कुमार को उसके पूर्व भव की कथा बताई—

"इस भरतक्षेत्र मे साकेतपुर नाम का एक नगर है। उस नगर मे मदन नाम का राजा था। अनग नाम का उसका कुमार था। उस नगरी मे कुबेर के समान धनाढ्य वैश्रयण नामक एक सेठ रहता था जिसका प्रियकर नामक एक पुत्र था। वह सौम्य, सज्जन, कुशल, दाता, दयालु और श्रद्धालु था। प्रियमित्र नामक सेठ की कन्या सुन्दरी से उसका विवाह हुआ था। पति-पत्नी मे अगाध स्नेह था।

एक दिन प्रियकर का शरीर व्याधिग्रस्त हुआ। सुन्दरी ने पति की सेवा मे दिन-रात एक कर दिया। किन्तु अशुभ कर्मो के उदय से होनहार होकर ही रही। प्रियकर की मृत्यु हो गई। परिवार के लोग रो-धोकर अन्त मे अन्तिम सस्कार हेतु उसका शव घर से बाहर निकालने लगे।

किन्तु सुन्दरी का मन अपने पति के प्रति प्रगाढ स्नेह से लिप्त था। वह उसका सस्कार करने ही नही देती थी। सबने समझाया, किन्तु मोह-भरी पत्नी समझती ही नही थी। वह पति की मृत देह से लिपट-लिपटकर उससे बोलती जाती थी, जैसे कि वह जीवित ही हो। मोहान्ध व्यक्ति को सार-असार का ज्ञान होता ही कहाँ है?

थक कर परिवार वाले वहाँ से चले गये। सुन्दरी शव को लिए बैठी रही। दूसरे दिन शव से दुर्गंध आने लगी किन्तु प्रेम के अधीन हुई वह मोहान्ध प्रेमिका उसे न छोड सकी। स्वजनो ने फिर समझाया, किन्तु वह न समझी और यह सोचकर कि लोग उसे पागल समझते है, वह शव को उठाकर श्मशान मे पहुँची।

भूख मिटाने के लिए वह नगर मे से भिक्षा माँग लाती और उसमे से अच्छी-अच्छी वस्तुएँ पति के सामने रखकर कहती—'प्रियतम! इसमे से जो सरस भोजन हो वह आप ले तथा जो नीरस हो वह मुझे दे।'

इस प्रकार वह नीरस भोजन करती हुई किसी कापालिक की पुत्री

या राक्षसी, पिशाचिनी की तरह श्मशान मे रहने लगी। उसके पिता ने राजा से प्रार्थना की—"हे देव ! मेरी पुत्री किसी दुष्ट ग्रह से ग्रसित हो गई है। आप घोषणा करा दे कि जो कोई व्यक्ति उसे अच्छी कर देगा उसे मै मनोवाछित वस्तु प्रदान करूँगा।"

राजा ने घोषणा करा दी। राजकुमार ने भी यह सुना और सोचा कि यह प्रेम की दीवानी है, प्रेमरूपी पिशाच से ही ग्रस्त है। इसे अन्य कोई रोग नही है। मै उसे प्रतिबोध दूँगा।

कुमार एक स्त्री का शव लेकर श्मशान मे पहुँचा। शव उसने सुन्दरी के सामने रख दिया। बोला कोई किसी से नही। राजकुमार भी चुपचाप सब कुछ वैसा ही करने लगा जैसा सुन्दरी किया करती थी। यह देखकर एक दिन सुन्दरी ने कुमार से पूछा—'यह तुम क्या करते हो ?' राजकुमार ने कहा—'यह मेरी सौभाग्यवती, गुणवती प्रिया है। इसका शरीर कुछ अस्वस्थ हो गया है, लोग कहने लगे कि यह तो मर गई है। इसका सस्कार कर देना चाहिए, वे झूठ बोलते है। इसलिए मै इसे यहाँ ले आया हूँ।' सुनकर सुन्दरी ने कहा—'तुमने ठीक किया। समान स्वभाव वाले हम अब मित्र है।'

राजकुमार बोला—'तू मेरी बहिन और यह मेरा बहनोई है। इसका नाम क्या है ?'

सुन्दरी ने बताया और कुमार की प्रिया का नाम पूछा। भाई-बहिन बनकर वे रहने लगे। दोनो मे से कोई जब किसी कार्य से कही जाता तो अपना शव दूसरे को सौप जाता।

एक दिन कुमार ने सुन्दरी से कहा—

'बहिन ! आज तेरे पति ने मेरी प्रिया से कुछ कहा, किन्तु मैं ठीक से वह समझ नहीं सका।'

सुन्दरी क्रोधित हुई, पति से बोली—'मैंने तुम्हारे लिए कुल, गृह, माता-पिता आदि सबको छोडा और तुम अन्य स्त्री की अभिलाषा करते हो ?' पति ने कोई उत्तर नही दिया। शव था, वह भला क्या उत्तर देता ?

एक दिन सुन्दरी अपने पति का शव कुमार को सौप कर गई। कुमार ने दोनो शव एक कुएँ मे डाल दिए और सुन्दरी के पास पहुँचा। उसे देखकर सुन्दरी ने पूछा—'अरे भाई ! तुम उन दोनो को किसे सौप कर

आए ? कुमार ने उत्तर दिया—'अपनी प्रिया मायादेवी का रक्षण करने के लिए मैने प्रियकर को सौपा है और प्रियकर की रक्षा करने को मैने मायादेवी को सौपा है। अब, चलो हम भी वहाँ चले।'

दोनो लौटे, किन्तु वहाँ न प्रियकर था, न मायादेवी। यह देखकर सुन्दरी बहुत दुखी हुई। कुमार भी कपटपूर्वक मूर्च्छित हो गया। कुछ देर बाद अपनी सज्ञा लौटा कर वह बोला—'हे बहिन ! अब हम क्या करे ? तेरा पति मेरी प्रिया को लेकर भाग गया है। यह उसने ठीक नही किया।'

सुन्दरी सोचने लगी—मेरा पति इसकी प्रिया का हरण कर ले गया। वह अनार्य, निर्दय तथा कृतघ्न प्रतीत होता है।

कुमार ने फिर पूछा—'भद्रे ! अब हम क्या करे ?' सुन्दरी ने उत्तर दिया—'भाई मुझे तो कुछ भी समझ मे नही आता। जैसा तुम ठीक समझो वैसा ही करे।'

कुमार ने कहा—'तू सत्य कहती है। तुझे कुछ समझ मे नही आता। देख मेरी बात सुन, इस ससार मे यह जीव अकेला ही प्रयाण करता है। इसमे प्रिय कौन ? प्रिया कौन ? सयोग अपने परिणाम मे वियोग देने वाले ही होते है और उदयकाल अस्त को प्राप्त होता है। भोग महारोग के समान दु खदायी होते है। यह जानकर बहिन ! सम्यक्त्व को अगीकार कर।'

सुन्दरी को बोध हुआ। वह लौटकर अपने घर आ गई।

यह कथा सुनाकर भगवान ने कहा—

"हे मणिरथकुमार उस सुन्दरी का जीव तुम हो और उस जन्म का तुम्हारा पति प्रियकर ससार मे भ्रमण करता हुआ अब इस वन मे इस मृगी के रूप मे उत्पन्न हुआ है। आज तुम्हे देखकर इस मृगी को अपने पूर्व भव का स्मरण हो आया है और वह तुमसे स्नेह करने लगी है।"

सुनकर और बोध पाकर कुमार ने भगवान से प्रार्थना की—"प्रभु ! मैं इस असार ससार से थक गया हूँ। मुझे अपनी शरण मे लीजिए।"

और वह भगवान के चरणो मे झुक गया।

☆

६१

दृष्टिदोष

यह ससार अच्छी और बुरी वस्तुओ से भरा हे। सत्य और असत्य की आँखमिचौनी यहाँ प्रतिक्षण चल रही है। सावधान व्यक्ति को आंखे खोलकर आगे वढना चाहिए।

भरतक्षेत्र के तीन खण्डो के स्वामी श्रीकृष्ण द्वारिका नगरी मे शासन करते थे। उनके राज्य मे चारो ओर सुख-समृद्धि थी। वे न्यायी थे और प्रजा को पुत्रवत् प्यार करते थे। उनके राज्य मे अन्याय नही हो सकता था, अनीति नही पनप सकती थी। वे दूध का दूध और पानी का पानी करने की क्षमता रखते थे।

श्रीकृष्ण के राज्य मे एक सेठानी रहती थी। उसका नाम था—थावच्चा। उसके एक पुत्र था, जिसका नाम था थावच्चाकुमार। सेठानी के पास जितना अखूट धन था, उसके पुत्र के पास भी गुण, कुशलता तथा विद्वत्ता की उतनी ही सम्पत्ति थी।

जब थावच्चाकुमार सभी विद्याओ मे पारङ्गत हो गया तथा यौवन मे उसने प्रवेश किया तब उसकी माता ने वत्तीस सुलक्षणा सुन्दरी कन्याओ के साथ उसका विवाह कर दिया। स्वय थावच्चाकुमार भी रूप मे कामदेव के समान था। उसके दिन आनन्द के साथ व्यतीत हो रहे थे।

उस समय भगवान नेमिनाथ सर्वज्ञ स्थिति मे एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचरण करते हुए भव्य प्राणियो को धर्म तथा आत्मकल्याण का उपदेश देते हुए, द्वारिका नगरी मे पधारे। प्रभु की अमृतवाणी का क्या कहना? एक ही वार उनके वचन सुनकर प्राणी ऐसा अनुभव करते थे जैसे

उनके जन्म-जन्मान्तरो के पाप धुल गये हो और उनके पवित्र पुण्यो का उदय हो आया हो।

जब प्रभु पधारे तो लोक उनके दर्शनो के लिए समुद्र की भाँति उमड पडा। इस कथा का नायक थावच्चाकुमार भी भगवान की सेवा मे पहुँचा।

श्रीकृष्ण भगवान नेमिनाथ के सासारिक अवस्था के भाई थे। वे तो आनन्द से झूम ही उठे और समाचार सुनते ही भगवान के समीप पहुँचे।

भगवान का उपदेश सुनकर थावच्चाकुमार के मन मे ससार से विरक्ति उत्पन्न हो गई। प्रभु ने बताया था कि आत्मा का सच्चा स्वरूप क्या है ? क्यो वह ससार के बन्धनो मे भटक जाता है और भव-भ्रमण करता है ? इस भव-भ्रमण से सदा के लिए मुक्त होने का मार्ग कौन-सा है ?

अस्तु, थावच्चाकुमार ने जब अपनी माता से मुनि दीक्षा लेने के लिए आज्ञा माँगी तब वह बडी दु खी हो गई। अपने लाडले बेटे को सयम के उस कठोर मार्ग पर जाने से उसने बहुत रोका। किन्तु थावच्चाकुमार का निश्चय तो अटल था। वह धर्म के तत्त्व को तथा आत्मा के सत्य को जान चुका था।

श्रीकृष्ण ने भी कुमार को समझाते हुए कहा—

"कुमार ! अभी तुम्हारे दीक्षित होने का समय नही आया। अभी तुम युवक हो। अपनी माता के इकलौते बेटे हो। समय आने पर दीक्षा लेना। हाँ, यदि तुम्हे कोई कष्ट हो तो वह मुझे बताओ, मै तुम्हारा कष्ट दूर करूँगा।"

तीन खण्ड के अधिपति सम्राट श्रीकृष्ण के लिए कौनसी बात असाध्य थी ? वे सभी कुछ कर सकते थे। सभी के कष्ट दूर कर सकते थे। उनकी बात सुनकर कुमार ने बडी नम्रता के साथ कहा—

'महाराज ! आप समर्थ है। कृपालु है। और मुझे विश्वास है कि आप सबके कष्ट दूर कर सकते है। मुझे भी कष्ट है, एक नही, मुझे दो कष्ट है। यदि आप उन्हे दूर करदे तो मै वचन देता हूँ कि मै दीक्षा नही लूगा।"

श्रीकृष्ण को आशा बँधी। पूछा—

"बोलो, मै तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूँ ?"

कुमार ने कहा— 'सम्राट् ! मैने कहा कि मुझे दो कष्ट है। एक तो

यह कि शीघ्र ही वृद्धावस्था आकर मेरे शरीर को जीर्ण कर देगी तथा मेरे यौवन को निगल जायगी तथा दूसरा यह कि काल किसी भी पल आकर मुझे निगल जायगा। कृपया इन कष्टो से मुझे बचा लीजिए, आपकी शक्ति तो अपरम्पार है।"

सुनने वाले स्तब्ध रह गये। श्रीकृष्ण कुमार के चातुर्य और उसके कथन के सत्य मर्म को समझकर बोले—

"कुमार तुम्हारा कल्याण हो। मेरे पास तो क्या, इस सृष्टि मे किसी के पास भी ऐसी शक्ति नही है जो तुम्हारे इन कष्टो को दूर कर सके। तुम ठीक ही कहते हो। अत तुम्हे आज्ञा है, दीक्षा की तैयारी तुम कर सकते हो।"

स्वय सम्राट श्रीकृष्ण ने थावच्चाकुमार की भगवती दीक्षा की तैयारी की और वे दीक्षित हो गये।

भगवान की कृपा से सयम की आराधना अविचलित भाव से करते हुए शीघ्र ही थावच्चाकुमार ने चौदह पूर्व का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

एक वार मुनि थावच्चाकुमार भगवान से आज्ञा लेकर अपने शिष्यो सहित विचार करते हुए सेलगपुर नामक नगर के सुभूमि नामक उद्यान मे आकर ठहरे। वहाँ के राजा ने उनका उपदेश सुना और उस उपदेश से प्रभावित होकर उसके श्रावक-धर्म के व्रत ग्रहण कर लिये।

इसी प्रकार विचरण करते-करते मुनि सौगन्धिक नगर मे जव पहुँचे तो अन्य लोगो के साथ वहाँ का नगर-सेठ सुदर्शन भी मुनि के उपदेशामृत का पान करने आया। यद्यपि वह साख्य मत को स्वीकार कर चुका था, किन्तु फिर भी वह सत्यान्वेषी था और किसी एक मतवाद से ही बँध जाने वाला व्यक्ति नही था। उसने मुनिवर का उपदेश सुना और अपनी कतिपय शकाओ के निवारण हेतु उसने मुनिवर से विनयपूर्वक प्रश्न किया—

"मुनिवर! आपका मूल धर्म क्या है?"

"सुदर्शन! हमारा मूल धर्म विनय है। यह विनय दो प्रकार का होता है—एक, श्रावक का विनय और दूसरा, साधु का विनय। श्रावक स्थूल रूप से एक देश से हिंसा आदि पापो का त्याग करता है, जबकि साधु मन-वचन-काया से हिंसा नही करते, असत्य भाषण नही करते, किसी का द्रव्य हरण नही करते और परिग्रह नही रखते। इन दोनो प्रकार के विनयमूल

धर्म का पालन करते हुए जीव क्रमश कर्मों का क्षय करता हुआ मुक्ति प्राप्त करता है।"

धर्म का मर्म इसी प्रकार कुछ विस्तारपूर्वक सुदर्शन को समझाकर मुनिवर ने उससे पूछा—

"तुम्हारा धर्म क्या है, सुदर्शन ?"

"हमारा धर्म तो शुचिमूलक है। तीर्थस्थान तथा जलाभिषेक से शुचि होती है।

"तुम भ्रम मे हो। इस प्रकार के जलाभिषेक आदि मे तो केवल शरीर की ही शुद्धि हो सकती है। किन्तु, सुदर्शन, आत्मा पर जो मैल चढा है, क्रोध-काम-लोभ-मोह आदि, वह कैसे दूर होगी ? स्नानादि मात्र से तो वह दूर नही हो सकती। उसे दूर करने का तो मात्र यही उपाय है कि जीव हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, मोह, मान, क्रोध इत्यादि से दूर रहे। अरे, सुदर्शन, तुम तो विचारवान हो, तनिक विचार करो कि क्या ये कषाय जलाभिषेक आदि से दूर हो सकते है ?"

सुदर्शन ने विचार किया और उसे मुनिवर के कथन की सत्यता को समझने मे विलम्ब नही हुआ। उसने प्रसन्नतापूर्वक जैनधर्म को स्वीकार कर लिया।

कुछ समय बाद वे सन्यासी जिनसे कि सुदर्शन ने शुचिधर्म लिया था, वहाँ आये और यह जानकर कि सुदर्शन ने जैनधर्म स्वीकार कर लिया है, वे मुनिवर से वाद-विवाद करने जा पहुँचे। उस वाद-विवाद का परिणाम यह हुआ कि मुनिवर के ज्ञान और उनके सत्य धर्म से सन्यासी अत्यन्त प्रभावित हो गये। उनका हृदय मुनिवर के प्रति भक्तिभाव मे भर उठा। वे आग्रही व्यक्ति नही थे। सत्य के ही अन्वेषी थे। अत उन्होने याचना की—

"मुनिवर ! मै अन्धकार मे था। आपने मेरे अज्ञान के अन्धकार को हटा दिया। अब आप मुझे जैनधर्म मे दीक्षित करने की कृपा भी कीजिए।"

मुनिवर को क्या आपत्ति हो सकती थी ? प्रत्येक प्राणी को सन्मार्ग दिखाना ही उन्हे इष्ट था। अत उस सन्यासी को उनके शिष्यो सहित जैनधर्म की दीक्षा प्रदान करदी गई।

इस प्रकार कुछ काल तक ज्ञान, ध्यान और तपश्चरण मे अपने

सयमी जीवन को निरत रखते हुए अन्त मे पुण्डरीक पर्वत पर समाधि धारण कर अष्ट कर्मों का नाश कर थावच्चा मुनि ने मोक्ष प्राप्त किया।

वे सन्यासी अव सुक मुनि के नाम से पुकारे जाने लगे थे। एक बार विचरण करते हुए वे सेलगपुर पधारे। वहाँ के राजा सेलग के हृदय पर सुक मुनि के उपदेश का ऐसा प्रभाव पडा कि उसने तुरन्त दीक्षा लेने का निश्चय किया। उसके मन्त्रियो ने भी इस शुभ कार्य मे रोक लगाने का कोई प्रयत्न नही किया। अत राजा ने अपने पुत्र मण्डूक को बुलाकर कहा—

"पुत्र! मै तो अब इस सासारिक जीवन से विदा ले रहा हूँ। तुम सुयोग्य हो। राज्य के उत्तरदायित्व को अव तुम सम्हालना और न्यायपूर्वक अपनी प्रजा का पालन करना। मैं तो अव एक दूसरे ही साम्राज्य मे आत्मा के शत्रुओ से युद्ध करके उस युद्ध मे विजय प्राप्त करने जा रहा हूँ।"

राजा सेलग दीक्षित होकर साधना करने लगे। ज्ञानार्जन तथा कठोर तपश्चरण मे वे लीन हो गये। इस तपस्या मे वे ऐसे खो गये कि उन्हे न तो खाने-पीने की ही कोई सुध रही और न सोने-बैठने की ही। प्रतिपल वे तो ज्ञान-ध्यान मे ही डूबे रहते।

कठोर तपस्या के कारण शीघ्र ही उन्होने अपनी समस्त इन्द्रियो को वश मे कर लिया। किन्तु राजसुख मे पला हुआ उनका शरीर एक साथ इतनी कठोर तपस्या को सहन नही कर सका अथवा पूर्व कर्मो का ही उदय कहिए कि उन्हे पित्त ज्वर ने ग्रस लिया और खुजली रोग हो गया।

रोग हो तो हो। पीडा है तो होती रहे। ज्ञानी और तपस्वी व्यक्ति इनकी चिन्ता ही कहाँ करता है? सेलग मुनि भी अपने शरीर की ओर से उपेक्षा भाव धारण किये रहे और विचरण करते-करते एक वार सेलग नगरी मे ही पधारे।

जनता उनके दर्शन के लिए उमड पडी। राजा मण्डूक भी गया। सभा विसर्जित होने के वाद मुनि के रोग-पीडित शरीर को देखकर राजा ने विनय की—

"मुनिवर! शरीर धर्म का एक साधन है। आपका शरीर रोग से पीडित है। कृपा कर नगर मे पधारिये। कुछ समय उपचार ग्रहण कर स्वस्थ होने पर पुन विचरण करिये। हमे सेवा का इतना अवसर तो प्रदान करिये।"

प्रार्थना अनुचित नही थी। मुनिराज ने स्वीकार कर लिया। वे नगर मे चले आये। उपचार हुआ और शीघ्र ही वे स्वस्थ व नीरोग हो गये।

किन्तु इन कर्मो की गति को क्या कहिए ? नीरोग हो जाने के बाद भी मुनिराज की उस स्थान से विहार करने की इच्छा नही हुई। उनकी आत्मा मे असावधानी आ गई थी। वे उसी नगरी मे रहने की ही इच्छा करने लगे, आनन्द मनाने लगे और नशीले पदार्थो का सेवन करने लगे। ज्ञानी और ध्यानी होते हुए भी अशुभ कर्मो के उदय के कारण उनकी आत्मा असावधान हो गई और कर्म उन्हे नीचे की ओर घसीटने लगे।

उनके साथ जो अन्य मुनि थे, वे बडे विचार मे पडे—समस्त राज-वैभव को तृण की भाँति त्यागकर इतनी कठोर तपस्या करने वाले राजर्षि की यह क्या दशा ? सासारिक प्रलोभनो ने उन्हे फिर से अपनी ओर इस प्रकार आकर्षित कर लिया जैसे चुम्बक लोहे को करता है। राजर्षि ने अपनी समस्त मर्यादा को त्याग दिया, सयम नियम की उन्हे तनिक भी चिन्ता न रही ?

विवश होकर उन्होने पथक मुनि को उनकी सेवा मे छोडकर अन्यत्र विहार कर दिया।

पथक मुनि गुरु की सेवा करते रहे। एक दिन कार्तिक मास की पूर्णिमा को राजर्षि आनन्द से भोजनादि कर शयन-सुख ले रहे थे। पथक मुनि ने कार्तिक मास का प्रतिक्रमण किया और 'खमासमणो' द्वारा गुरु से क्षमा माँगने के लिए उनके चरणो का स्पर्श किया। गुरु की सुख-निद्रा भग हुई और वे क्रोध मे भरकर चीख उठे—

"अरे, यह कौन दुष्ट मेरी सुख की नीद मे व्याघात उत्पन्न कर रहा है।"

पथक मुनि ने अत्यन्त विनम्रतापूर्वक हाथ जोडकर उत्तर दिया—

"गुरुदेव ! यह तो मै आपका विनीत शिष्य पथक हूँ। चातुर्मासिक प्रतिक्रमण करके आपसे अपने अपराधो की क्षमा माग रहा हू। गुरुदेव, मेरे अपराध को क्षमा करिये। मुझसे आपकी नीद मे व्याघात उत्पन्न हो गया, किन्तु मेरी ऐसी भावना नही थी।"

लेकिन अव राजपि की नीद सचमुच ही टूट गई थी। उसी क्षण विजली की कौध के समान उनके वहुत समय से बन्द ज्ञान-नेत्र खुल गये थे। उन्हे विचार आया—अरे, यह क्या हो गया था ? मै कैसी निद्रा मे डूब गया था ? पवित्र मुनि-जीवन की मगलमय मर्यादा को तिलाजलि देकर मै किन सासारिक प्रलोभनो के गर्त मे गिर पडा था ? अरे, तनिक-सी असावधानीवश मैंने घोर तपस्या द्वारा अर्जित अपनी समस्त चरित्र-सम्पदा ही लुटा दी ?

राजपि की नीद खुल गई।

पश्चाताप की अग्नि ने उनके हृदय मे जमकर आ बैठी सारी दुर्बलता को भस्म कर दिया।

दूसरे दिन प्रात काल होते ही राजपि अपने शिष्य पथक के साथ उस नगरी से विहार कर गये। कठोर सयम और तपस्या द्वारा उन्होने कुछ काल के लिए अपने जीवन मे आई सारी शिथिलता को दूर कर दिया और भविष्य मे कभी एक क्षण के लिए भी अपने जीवन मे प्रमाद नही आने दिया।

इस शुभ समाचार को सुनकर उनके सारे शिष्य फिर से उनकी सेवा मे लौट आये।

भूले-भटके प्राणियो को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करते हुए अन्त मे पुण्डरीक पर्वत पर समाधि धारण कर राजर्षि ने मोक्ष प्राप्त किया।

पलभर भी प्रमाद नही करना चाहिए। सावधान मनुष्य को अपनी दृष्टि आत्म-कल्याण के विन्दु पर स्थिर रखनी चाहिए। निर्दोष दृष्टि ही मुक्ति की मजिल को देख सकती है।

—ज्ञाता धर्म कथा



६२

चलो मेरे साथ !

मगध की राजधानी राजगृही अपने समय की एक अनुपम नगरी थी। उस नगरी मे सुख और समृद्धि तो चारो ओर बिखरी दिखाई देती ही थी, इसके साथ ही प्रकृति की छटा भी उस नगरी के आस-पास दर्शनीय ही थी। चारो ओर सुन्दर-सुन्दर उद्यान ओर सरोवर फैले हुए थे। उन स्वच्छ सरोवरो मे स्नान कर राजगृही के नागरिक ओर अन्य पथिक अपनी सारी थकान भूल जाते थे तथा उन उद्यानो मे घडीभर के लिए विश्राम कर लोग अपने सारे विषाद को दूर कर देते थे।

भगवान महावीर जिस समय इस भूतल पर विचरण करते हुए भव्य जीवो का कल्याण कर रहे थे, उस समय की यह कथा है—

अर्जुन नामक एक माली राजगृही मे रहता था। नगरी से बाहर उसका एक विशाल उद्यान था। भाँति-भाति के सुन्दर, सुगन्धित पुष्पो से उसका वह उद्यान सदैव एक रग-बिरगे गलीचे की तरह शोभित होता था।

अर्जुन की आजीविका का साधन वह उद्यान ही था। उसी उद्यान मे एक यक्ष-मन्दिर था। यक्ष के हाथ मे एक विशाल मुद्गर था। इसीलिए लोग उस यक्ष को 'मुद्गरपाणि' यक्ष के नाम से पुकारने लगे थे। अर्जुन माली उस यक्ष को अपना कुलदेवता मानकर बडी भक्तिपूर्वक उसकी पूजा किया करता था।

ससार मे अच्छाई और बुराई साथ-साथ चलती ही रहती है। कुछ लोग अच्छे होते है तो कुछ लोग बुरे भी। राजगृही नगरी मे भी उस समय

जहाँ अभयकुमार, सुदर्शन एव पूणिया श्रावक जैसे उत्तम पुरुष निवास करते थे, वही कुछ धूर्त, लम्पट और दुष्ट व्यक्ति भी थे।

दुष्टो की एक तो पूरी टोली ही थी। उसमे छह व्यक्ति थे। स्थान-स्थान पर उत्पात मचाते रहना और सभ्य तथा भले नागरिको को पीडा पहुँचाना इस दुष्ट ललितागोष्ठी का दैनिक कार्यक्रम था।

एक दिन यह टोली अर्जुनमाली के वगीचे मे जा पहुँची। वहाँ अर्जुन अपनी पत्नी के साथ पुष्प चयन कर रहा था। उसकी पत्नी वन्धुमती के सौन्दर्य को देखकर वह टोली वासना से पीडित हो उठी। उन्होने वन्धुमती के साथ दुराचार करने का निश्चय किया और अवसर की ताक मे यक्ष-मन्दिर मे आकर वे लोग छिप गये।

कुछ समय वाद जव अर्जुनमाली यक्ष की पूजा करने मन्दिर मे आया और अपना सिर झुकाकर वह यक्ष को प्रणाम करने लगा, तव उन दुष्टो ने कूदकर अर्जुन को दवोच लिया और उसे रस्सियो से वाँधकर उसी के सामने उसकी पत्नी के साथ दुराचार करने लगे।

अर्जुनमाली की आँखो मे खून उतर आया। क्रोधित होकर वह वन्धन मुक्त होने के लिए कसमसाने लगा, किन्तु वन्धन कठोर थे। वे नही टूटे।

तव अर्जुनमाली को अपने कुलदेवता यक्ष का स्मरण हुआ और वह उससे मन ही मन कहने लगा—"मैंने तेरी पूजा इसीलिए की थी कि तू मुझे यह दुर्दिन दिखाए ? धिक्कार है तेरे यक्षत्व पर, अन्यथा मुझे शक्ति दे कि मैं इन दुष्टो को इनके पाप का दण्ड दे सकूं।"

हृदय की गहरी भावना का प्रभाव समझिए अथवा सच्ची श्रद्धा की शक्ति, किन्तु उसी क्षण वह यक्ष अपने भक्त की देह मे प्रविष्ट हो गया

तड तड' तड' करते हुए सारे वन्धन टूट गये। अर्जुनमाली के हाथो मे यक्ष का वह विकराल मुद्गर आ गया और एक ही वार मे उसने उन छहो लम्पटो तथा वन्धुमती का काम तमाम कर दिया।

किन्तु इसके पश्चात् भी अर्जुनमाली का क्रोध शान्त नही हुआ। यक्ष उसकी देह मे समाया हुआ था और वह उससे आविष्ट था। अव तो अर्जुनमाली के सामने जो भी जीवित मनुष्य पड जाता वही काल का ग्रास वन जाता। साक्षात् यमराज की भाँति अर्जुनमाली चारो ओर मृत्यु का ताण्डव नृत्य करता हुआ घूमने लगा।

उसने नियम बना लिया था कि प्रतिदिन छह पुरुषों और एक स्त्री की हत्या करके ही विश्राम लूंगा और ऐसा ही वह करता भी था। उस दुर्घटना का ऐसा भयानक प्रभाव बेचारे उस सीधे-सादे माली पर पड़ा था।

नगरी में हाहाकार मच गया। विनाश का ताण्डव होने लगा। प्रतिदिन छह पुरुषों और एक स्त्री की हत्या कोई साधारण सी बात तो है नहीं।

राजा श्रेणिक भी चिन्तित हुआ। प्रजा का पालन करने वाले राजा ने अपने सैनिक भेजकर अर्जुन को रोकना चाहा, किन्तु अर्जुन की यक्ष शक्ति के सामने किसी की कुछ न चली। वह तो मृत्यु का महादूत बना हुआ था। मौत ही जिसकी आई हो, वही उसके सामने जाए, फिर चाहे वह कोई भी हो।

नगरद्वार बन्द कर दिये गये। लोगों का नगर से बाहर निकलना ही बन्द हो गया। नगर के बाहर चारों ओर निर्जन, सुनसान हो गया मृत्यु का सन्नाटा छा गया।

उसी समय भगवान महावीर राजगृही नगरी में पधार कर बाहर गुणशील उद्यान में ठहरे। उनके आगमन का समाचार तो किसी प्रकार नगरवासियों को मिल गया, और उनके हृदय भगवान के चरणों में शीघ्राति-शीघ्र पहुँचने के लिए बेचैन हो उठे, किन्तु उपाय क्या? नगरी और गुण-शील उद्यान के बीच अर्जुनमाली के रूप में साक्षात् मृत्यु विचरण कर रही थी। कौन जा सकता था उस मृत्यु के खुले हुए मुख में?

हताश लोगों ने प्रभु की वन्दना घर बैठे ही करके सन्तोष किया।

किन्तु उस नगरी में एक ऐसा भी धर्मवीर युवक था जो प्रभु के आगमन का संवाद सुनकर रुक न सका और चल पड़ा मृत्यु को जीतकर अमृत का वरदान पाने। वह तेजस्वी और निष्ठावान युवक था—सुदर्शन।

उसे सभी ने रोकना चाहा। माता-पिता ने, बन्धु-बान्धवों ने, इष्ट-मित्रों ने—किन्तु वह किसी के रोके नहीं रुका। उसका निश्चय अटल था, और उसका एक ही उत्तर था—'प्रभु द्वार पर आकर ठहरे हों और मैं भीतर बन्द रहूं यह सम्भव नहीं।'

अपनी अभय आत्मा में अनन्य भक्ति लिए वह युवक नगर से बाहर चल पड़ा।

अर्जुनमाली ने सुदर्शन को बाहर आते देखा और विकराल अट्टहास

करता हुआ अपनी भीम-गदा लिए वह उसकी ओर दौड पडा—वहुत दिन वाद आज उसे शिकार जो मिला था।

लेकिन सुदर्शन के रूप मे अर्जुनमाली के लिए एक आश्चर्य ही प्रगट हुआ था अथवा कहा जाय कि उसकी जीवन-दिशा का एक नया मोड, एक नया स्वर्ण-अवसर ही उपस्थित हुआ था।

किन्तु अर्जुनमाली को इसका ज्ञान उस समय तक नही था। वह तो अपने शिकार की ओर ही लपका था, उसके रक्त से अपनी मृत्यु-पिपासा को शान्त करने हेतु। अपनी विशाल, लौह-गदा उसने हवा मे लहराई और सुदर्शन के मस्तक पर उसने भीषण प्रहार करना चाहा। किन्तु उसका हाथ आकाश मे उठा ही रह गया

सुदर्शन ने जव अर्जुनमाली को अपनी ओर वढते देखा तव उसने निर्भय रहकर सथागा के रूप मे सागारिक प्रतिमा धारण कर ली थी। उसका हृदय शान्त था और ध्यान अविचल।

उसी का परिणाम था कि अर्जुन के शरीर मे स्थित यक्ष का तेज उस अभय धर्ममूर्ति के समक्ष समाप्त हो गया था और वह उसे त्याग कर चला गया था।

अपनी सामान्य स्थिति मे आकर अर्जुनमाली सुदर्शन के चरणो मे गिर गया था। होश आने पर उसने देखा कि उसके सामने मनुष्य के रूप मे एक देवता खडा था—ध्यानमग्न, स्थिर, निर्भय, शान्त, प्रेम की साक्षात् मानवमूर्ति।

सुदर्शन का ध्यान टूटा। अर्जुन ने विनय की—'देवता! तुमने मुझे उवार लिया। मै हिंसा और प्रतिशोध के दावानल मे जल रहा था। तुमने मुझे शान्ति और प्रेम के सरोवर मे स्नान कराकर नया जीवन प्रदान किया।

'किन्तु अव मेरे पापो का क्या प्रायश्चित्त होगा? मैने कितने निरपराध प्राणियो की निर्मम हत्या कर डाली है? मेरी आत्मा को शान्ति कैसे प्राप्त होगी? मुझे शरण कहाँ मिलेगी?'

मन्द, मधुर, दयापूर्ण मुस्कान के साथ सुदर्शन ने अर्जुन को उठाया और कहा—

'चलो मेरे साथ, अर्जुन! दुःख न करो। जो हुआ सो हो गया। ...

भी तुम अपने हृदय को शुद्ध कर सकते हो। अपने हृदय में रहे हुए राक्षस को हटाकर तुम उसी में सदा निवास करने वाले देवता को जागृत कर सकते हो। चलो मेरे साथ! हम सब के जो शरणदाता हैं वे भगवान महावीर समीप ही हैं। चलो, चलो मेरे साथ।"

दूर-दूर से लोग इस घटना को देख रहे थे और विस्मय में डूबे हुए थे—ऐसा भयानक राक्षस कैसे क्षणमात्र में बदल गया? सुदर्शन ने यह कैसा चमत्कार किया?

अर्जुन को लेकर सुदर्शन प्रभु के समीप पहुँचा। केवलज्ञानी, अशरण-शरण प्रभु ने पीडित अर्जुनमाली को अपनी और धर्म की शरण में ले लिया।

साहस बटोर कर पीछे-पीछे चली आई जन-मेदिनी जय-जयकार कर उठी—'भगवान महावीर स्वामी की जय। जैनधर्म की जय।'

प्रव्रजित होकर अर्जुन मुनि ने घोर तप किया। बहुत से नासमझ लोग अब भी उनके पूर्वकृत्यों का स्मरण कर उनकी प्रताडना करते थे और उन्हें पीडित करते थे। किन्तु अर्जुन मुनि अब धैर्य, क्षमा और प्रेम की प्रतिमूर्ति बन चुके थे। समभाव उनकी आत्मा में अचल होकर स्थित हो चुका था।

उसके बाद अर्जुन मुनि अपने लक्ष्य से कभी विचलित नहीं हुए। उनकी साधना-यात्रा तभी समाप्त हुई जब वे केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो गये।

अन्तकृतदशा० ६।३



६३

गृहिधर्म की आराधना

दुर्लभ और मूल्यवान वस्तु कौन प्राप्त करना नही चाहता ?

किन्तु वह मूल्यवान वस्तु क्या है, उसका ज्ञान ही यदि मनुष्य को हो जाय तो वेडा पार होते देर न लगे ।

वस्तुत यह मनुष्य जीवन ही दुर्लभ है । एक बार यह प्राप्त हो जाय और मानव अपने विवेक से चलता हुआ यदि पुरुषार्थ करे तो फिर अन्य कुछ भी दुर्लभ नही ।

आनन्द नामक एक गाथापति (गृहपति) की यह कथा है—

वाणिज्य ग्राम मे जितशत्रु नामक राजा राज्य करता था। वह उदार था, न्यायप्रिय था और प्रजापालक था। ग्राम के ईशाण कोण मे द्युतिपलाश नामक एक सुन्दर उद्यान था। द्युतिपलाश नामक यक्ष का आयतन होने के कारण ही उस उद्यान का यह नाम पड गया था।

उसी ग्राम मे आनन्द अपने परिवार सहित रहता था। शिवानन्दा नामक उसकी पत्नी थी। धन-सम्पत्ति की उसके पास कोई कमी नही थी। करोडो का वह स्वामी था। उसके पास चार व्रज (गोकुल) भी थे। प्रत्येक व्रज मे दस हजार गाये थी। इस अपार सम्पत्ति के कारण उसे महर्धिक कहा जाता था। पति-परायणा सुन्दर पत्नी तथा इस अपार और अटूट सम्पत्ति के कारण उसका जीवन आनन्द से व्यतीत होता था।

गृहपति आनन्द बुद्धिमान भी था और व्यवहार-कुशल भी। राजा तथा सारी प्रजा उससे सदैव मत्रणा लिया करते थे।

एक वार ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान महावीर वाणिज्य

ग्राम मे पधारे। समवसरण लगा। भगवान के आगमन का सवाद सुनकर राजा जितशत्रु परम हर्षित होकर भगवान के दर्शन करने तथा उनका उपदेश सुनने के लिए सपरिवार गया। गृहपति आनन्द ने भी जब यह सवाद सुना तो विचार किया—'ऐसे पुण्य-अवसर भाग्य से ही प्राप्त होते है। अन्यथा गृहकार्यो की झझट तो जीवन भर लगी ही रहती है।'

यह विचार कर वह भी भगवान के दर्शन हेतु जाने के लिए तैयार होने लगा। स्नानादि से निवृत्त होकर तथा स्वच्छ वस्त्र धारण करके वह द्युतिपलाश उद्यान की ओर चल पडा। आधे रास्ते पर ही वाहन को त्याग कर वह पैदल ही भगवान के समीप पहुँचा। भगवान के दिव्य प्रभामण्डल को देखकर उसका हृदय हर्ष से विभोर हो उठा। तीन बार प्रदक्षिणा करके वह उपदेश श्रवण करने के लिए बैठा। भगवान के सदुपदेश को सुनकर सारी जनता आनन्द से विभोर हो उठी। गृहपति आनन्द भी भक्ति से परिपूर्ण हो उठा था। वह बोला—

"भते! आज मेरे ज्ञान-नेत्र खुलते-से प्रतीत होते है। मै निर्ग्रन्थ प्रवचन मे प्रतीति एव रुचि रखता हूँ। इसमे मेरी श्रद्धा है। जैसा तत्त्व आपने कहा है, सब वैसे ही है—यह सत्य है। मै इस धर्म की चाह रखता हूँ। आपके समीप राजा, युवराज, दाण्डनिक, सेनापति, नगर-रक्षक, सार्थवाह, श्रेष्ठी, कौटुम्बिक आदि सभी मुण्डित होकर आगार धर्म से अनगार मे आते है। किन्तु मैं साधु जीवन की कठिन चर्या मे निर्गमन के लिए अपने को असमर्थ व अयोग्य पाता हूँ। अत गृहस्थ धर्म के द्वादश व्रतो के ग्रहण की इच्छा कर रहा हूँ।"

भगवान ने अमृतमय वचन कहे—

'जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा ही करो। किन्तु शुभ कार्य मे विलम्ब नही करना चाहिए।"

गृहपति आनन्द ने तत्काल बारह व्रतो को स्वीकार करते हुए कहा—भते! मै दो करण और तीन योग से स्थूलप्राणातिपात, स्थूलमृषावाद व स्थूलअदत्तादान का प्रत्याख्यान करता हूँ। स्व-भार्या के अतिरिक्त अन्य स्त्रियाँ मेरी मातृसदृश है। इच्छापरिमाण व्रत के अन्तर्गत चार हिरण्य कोटि सरक्षित और व्यवसाय मे प्रयोजित चार हिरण्य कोटि तथा धन-धान्य आदि के प्रविस्तार मे प्रयोजित चार हिरण्य कोटि, इस प्रकार कुल १२

हिरण्य कोटि के अतिरिक्त धन-सग्रह का त्याग करता हूँ। चार गौ-व्रज के अतिरिक्त और व्रज का भी विसर्जन करता हूँ। क्षेत्र भूमि मे पाँच सौ हल से अधिक, प्रदेशान्तर मे जाने के लिए एव घरेलू काम के लिए पाँच-पाँच सौ शकटो से अधिक का त्याग करता हूँ।"

इसी प्रकार आनन्द ने वाहन, वस्त्र, भोजन, आभूपण इत्यादि सभी पदार्थों के विपय मे एक निश्चित सीमा अगीकार करली।

इसके वाद भगवान ने कहा—"आनन्द! जीवाजीव की विभक्ति के ज्ञाता व अपनी मर्यादा मे विहरण करने वाले श्रमणोपासक को व्रतो के अतिचार भी जानने चाहिए।"

गृहपति आनन्द ने भगवान से अतिचार का विस्तृत विवेचन करने के लिए प्रार्थना की। भगवान महावीर ने अतिचारो की स्पष्ट व्याख्या कर आनन्द की जिज्ञासा का समाधान किया। आनन्द ने पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत ग्रहण किये। एक अभिग्रह ग्रहण करते हुए आनन्द ने भगवान से निवेदन किया—"भते! आज से इतर तैर्थिको की, इतर तैर्थिको के देवताओ व इतर तैर्थिको द्वारा स्वीकृत चैत्यो को नमस्कार नही करूँगा। उनके द्वारा वार्ता का आरम्भ न होने पर, उनसे वार्तालाप करना, गुरुबुद्धि से उन्हे अशन-पान खादिम-स्वादिम आदि देना मुझे नही कल्पता है। इस अभिग्रह मे मेरे छ अपवाद होगे। राजा, गण, वलवान, देवताओ के अभियोग से, गुरु आदि के निग्रह से और अरण्य आदि का प्रसग उपस्थित होने पर मुझे उन्हे दान देना कल्पता है।"

अपनी दृढनिष्ठा से आनन्द ने कहा—"भते! निर्ग्रन्थो को प्रासुक व एपणीय अशन-पान, खादिम-स्वादिम, वस्त्र कवल, प्रतिग्रह (पात्र), पादप्रोच्छन, पीठ फलक, शय्या, सस्तारक, औपध, भेपज का प्रतिलाभ करना मुझे कल्पता है।"

अपनी अनेक जिज्ञासाओ का तात्त्विक ढग से समाधान पाकर विधिपूर्वक भगवान की वन्दना कर गृहपति आनन्द अपने घर आया। घर आकर उसने अपनी पत्नी को व्रत ग्रहण की वात सविस्तार वताई। शिवानन्दा ने पति के मुख से सारी वात श्रवण कर लेने के पश्चात् स्वय भी व्रत ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की। पति का सहर्प अनुमोदन पाकर वह स्नानादि से निवृत्त हुई, वहुमूल्य वस्त्राभरण से अलकृत हो, दासियो के

परिकर मे घिरी सुन्दर सुसज्जित यान पर आरूढ हो भगवान महावीर के समवशरण मे पहुँची। महती परिषद् के साथ भगवान की देशना सुनकर वह आत्मविभोर हो गई। भगवान के समक्ष द्वादश व्रत का विधि-विधानपूर्वक गृहस्थ-धर्म मे पालन करने का सकल्प लेकर अपने घर वापस आ गई।

पुनश्च, गणधर गोतम ने भगवान से पूछा—"प्रभो! श्रमणोपासक गृहपति आनन्द क्या आपके समक्ष प्रव्रजित होने मे समर्थ है?"

केवलज्ञानी भगवान महावीर ने उत्तर दिया—"गोतम! ऐसा नही है। आनन्द बहुत वर्षो तक श्रावक पर्याय का पालन करता हुआ अनशन-पूर्वक शरीर त्याग कर सौधर्म कल्प के अरुणाभ विमान मे चार पल्योपम की स्थिति मे उत्पन्न होगा।"

इधर आनन्द और शिवानन्दा दोनो ही जीव-अजीव की पर्यायो पर अनुचिन्तन करते हुए सुखपूर्वक जीवन-यापन करने लगे। शीलव्रत, अणुव्रत, प्रत्याख्यान तथा पोषध-उपवास आदि करते हुए अपनी आत्मा को भावित करने लगे। धीरे-धीरे चोदह वर्ष व्यतीत हो गये। पन्द्रहवे वर्ष का प्रारम्भ ही था कि एक बार रात्रि के उत्तरार्ध मे धर्म-जागरण करते हुए आनन्द के मन मे सकल्प उदय हुआ—"नगर के राजा, युवराज, नगर-रक्षक, नगर-प्रधान आदि आत्मीय-जनो का मै आधार हूँ। अधिकाश कार्यो मे वे सभी मुझसे मन्त्रणा करते रहते है। इसी व्यस्तता और व्यग्रता के फलस्वरूप भगवान महावीर का दर्शन स्वीकृत कर धर्म-प्रज्ञप्ति को क्रियान्वित करने का सुअवसर आज तक नही मिल पाया। शुभ सकल्प भी यदाकदा उठते है, क्यो न इसका सदुपयोग किया जाय?" ऐसा विचार आते ही सकल्प ने बल पकडा। वह पुन सोचने लगा—"कल प्रात काल होते ही ज्ञाति-स्वजनो मित्रो को निमन्त्रित कर उन्ही के समक्ष ज्येष्ठ पुत्र को घर का सारा दायित्व सौप वाणिज्य नगर के उत्तर-पूर्व दिशा मे अवस्थित कोल्लाग उप-नगर के ज्ञातकुल की पौषधशाला मे भगवान की धर्म-प्रज्ञप्ति स्वीकार कर विचरण करूँ।"

सूर्योदय होते ही मन के सकल्पानुसार सभी ज्ञातजनो को निमन्त्रित कर उन्हे यथावत् भोजन आदि से सन्तुष्ट व सम्मानित करते हुए श्रमणोपासक आनन्द ने अपने विचार प्रगट किये। सब की सम्मति से ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का दायित्व सौपा और उपस्थित जनो को सम्बोधित करते हुए

कहने लगा—"भाई ! मै एकान्त मे धर्मजागरण मे प्रवृत्त रहना चाहता हूँ, इसलिए भविष्य मे किसी भी प्रकार का सम्पर्क-सम्बन्ध मुझसे कोई न रखे और न ही कोई मन्त्रणा (सलाह) करे।"

अपने स्वजनो की अनुज्ञा प्राप्त कर गृहपति आनन्द कोल्नाग सन्नि-वेशस्थ पौषधशाला मे आया। विधिवत् उक्त स्थान की प्रतिलेखना कर भगवान महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति को स्वीकार कर विचरण करने लगा।

गृहपति आनन्द ने श्रावक की ग्यारह प्रतिमा स्वीकार की। सूत्र कल्प और मार्ग के अनुसार प्रत्येक प्रतिमा को काया द्वारा ग्रहण करते हुए उपयोग द्वारा रक्षण मे प्रवृत्त हुआ। अतिचारो का त्याग करते हुए विशुद्ध हुआ। प्रतिमाओ के स्वीकरण और उनमे होने वाले घोर तपश्चरण से उसका शरीर अत्यन्त कृश हो गया। धर्म जागरण करते हुए एक दिन ग्रहपति आनन्द के मन मे फिर विचार-सकल्प का उदय हुआ—"इस अनु-ष्ठान मे शरीर कृश हो चला है। हड्डियो का ढाँचा मात्र यह रह गया है। फिर भी मुझ मे अव तक उत्थान, कर्म, वल, वीर्य, पुरुषाकार, पराक्रम, श्रद्धा, घृति और सवेग है। क्यो न मै इनकी उपस्थिति मे ही अपश्चिम मारणा-न्तिक सलेखना से युक्त होकर, भक्त-पान का प्रत्याख्यान करूँ।" अपने सकल्प को तत्काल आनन्द ने कार्य रूप मे परिणत कर दिया।

शुभ अध्यवसाय, शुभ परिणाम व विशुद्ध होती हुई लेश्याओ से श्रम-णोपासक आनन्द के ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम हुआ। उसे निर्मल अवधिज्ञान की प्राप्ति हुई।

इन्ही दिनो भगवान महावीर पुन वाणिज्य ग्राम पधारे। गौतम स्वामी वेले की तपस्या पूर्ण कर भगवान की आज्ञा लेकर भिक्षा के लिए नगर मे आये। जनता मे श्रमणोपासक आनन्द के आमरण अनशन की चर्चा सुनकर गौतम स्वामी इन्हे देखने की भावना से पौषधशाला मे आये। गौतम स्वामी के आगमन पर आनन्द को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। वह शारीरिक असमर्थतावश उठ न सके। लेटे-लेटे ही आनन्द ने उन्हे वन्दन किया और उनके चरण स्पर्श किये।

आनन्द ने कहा—"भगवन् ! क्या आमरण अनशन मे गृहस्थ को अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है ?"

गौतम वोले—हाँ, हो सकता है।"

आनन्द ने तब कहा—"भगवन् ! मुझे अवधिज्ञान प्राप्त हुआ है। उसके बल पर मै उत्तर दिशा मे चूलहेमवन्त पर्वत तक, दक्षिण, पश्चिम एव पूर्व दिशा मे पाँच सौ योजन समुद्र तक, ऊपर सौधर्म देवलोक तक, नीचे प्रथम नरक के लौलुप्य नरकावास तक देख सकता हूँ। मुझे इतना विशाल अवधिज्ञान प्राप्त हुआ है।"

गौतम को आश्चर्य हुआ। उन्होने कहा—"आनन्द ! गृहस्थ को इतना विशाल अवधिज्ञान नही मिल सकता। अनशन मे तुमसे यह मिथ्या सभाषण हुआ है, अत शीघ्र इसकी आलोचना व प्रायश्चित्त कर तुम्हे शुद्ध हो जाना चाहिए।"

यह सुनकर आनन्द ने प्रश्न किया—"प्रभो ! भगवान महावीर के शासन मे सत्याचरण का प्रायश्चित्त होता है या असत्याचरण का ?"

"असत्याचरण का।" गौतम ने दृढ स्वर मे कहा।

आनन्द—"प्रभो ! तब तो यह प्रायश्चित्त कही आपको ही तो नही करना होगा ? क्योकि असत्याचरण तो आपसे ही हुआ है।"

गौतम का मन सशकित हुआ। वहाँ से चलकर वे भगवान महावीर के सन्निकट आये और उन्हे सारा हाल कह सुनाया।

भगवान महावीर ने कहा—"गौतम ! इस प्रसग पर असत्याचरण तो तुमसे ही हुआ है। तुम आनन्द के पास जाकर तुरन्त क्षमा-याचना करो।"

विनयमूर्ति गौतम शीघ्रतापूर्वक आनन्द के पास पौषधशाला पहुँचे। वे बोले—"आनन्द ! तुम धन्य हो। भगवान महावीर ने तुम्हारे वचन को सत्य घोषित किया है। मेरे कथन से तुमको कष्ट हुआ होगा ? मृषा-भाषण के लिए मै क्षमा चाहता हूँ।" ऐसा कहकर गौतम भगवान के पास लौट आये।

आनन्द ने बीस वर्ष तक श्रमणोपासक पर्याय का पालन करते हुए अन्तिम काल मे अनशन-आलोचना आदि कर शरीर त्यागा और वह सौधर्म कल्प के अरुणाभ विमान मे उत्पन्न हुआ।

गृहस्थ-जीवन मे श्रावक के बारह व्रतो का विधिवत् पालन करते हुए भी उस दुर्लभ पद को प्राप्त किया जा सकता है, जिसकी अभिलाषा योगिजन करते है।

—उपासकदशा

६४

अब पछताये होत क्या ?

मेतार्य जन्म से चाण्डाल थे। उन्होने श्रमण भगवान महावीर के सघ मे दीक्षा ग्रहण की थी। ज्ञान और समता की साधना से उनका सयमी जीवन चमक उठा। सयम की कठोर साधना के लिए सघ की मर्यादा से मुक्त होकर एकाकी रहने लगे। परिभ्रमण करते हुए वे एक बार राजगृह मे आये।

भिक्षा के लिए वे एक स्वर्णकार के पास पहुँचे। स्वर्णकार मुनि को देखकर हर्ष-विभोर हो उठा। वन्दन कर निवेदन किया भगवन्! एक क्षण आप यहाँ पर रुके, मैं अभी घर मे जाकर आता हूँ। मुनि वही पर खड़े रह गये। स्वर्णकार की दुकान मे क्रौंच पक्षी का एक युगल बैठा हुआ था। वह वहाँ पड़े हुए स्वर्णयवो को निगल गया।

स्वर्णकार ने आकर ज्यो ही देखा कि स्वर्णयव वहाँ नही है तो वह स्तब्ध हो गया। उसने मुनि से स्वर्णयवो के सम्बन्ध मे प्रश्न किया। मुनि मौन रहे। स्वर्णकार को आवेश आ गया। वह बोला—"मुनिवर! मै अभी-अभी आपके सामने स्वर्णयव छोडकर गया था। आपके अतिरिक्त यहाँ पर कोई आया भी नही है अत आपने ही मेरे स्वर्णयवो को लिया है।" मुनि अब भी मौन थे।

मुनि के मौन से स्वर्णकार तिलमिला उठा। उसने कहा—"मुनिवर! वे स्वर्णयव मेरे नही है। वे सम्राट् श्रेणिक के है। मै उनके अन्त पुर के लिए आभूषण तैयार कर रहा हू। यदि वे स्वर्णयव मुझे नही मिलेगे तो आप जानते है कि मेरी क्या दुर्दशा होगी ? आप सम्राट् श्रेणिक के दामाद रहे है। आपने

अपने विराट् वैभव को छोडकर दीक्षा ग्रहण की हे। श्रमण भगवान महावीर के महान सघ के आप तेजस्वी सदस्य हे। अत मन के लोभ को छोडकर मेरी वस्तु पुन मुझे लौटा दे। भूल मानव से होती हे, आप से भी भूल हो सकती हे। अभी आपकी भूल को अन्य कोई भी नही जानता। मेरी बात को माने और मुझे मेरी वस्तु लौटा दे ओर भूल का प्रायश्चित्त कर अपना शुद्धीकरण करे।"

स्वर्णकार के यह कहने पर भी मुनि ने मौन न खोला! स्वर्णकार ने समझा कि मुनि का मन स्वर्णयव पर ललचा गया हे। वे विना दण्ड दिये मानेगे नही। वह द्वार बन्दकर शीघ्र ही गीला चर्मपट्ट लाया और कसकर मुनि के सिर पर बाँध दिया। मुनि भूमि पर लुढक गये। सूर्य के उग्रताप से चर्मपट्ट धीरे-धीरे सूखने लगा।

मुनि चिन्तन करने लगे—स्वर्णकार का इसमे किञ्चित् भी दोष नही है। वह बेचारा भी राजा के उग्र दण्ड के कारण भयभीत है, यदि मैं मौन छोड़कर सत्य-तथ्य का समुद्घाटन करता तो क्रौंच-युगल की हत्या हो जाती। दूसरे के प्राणो की वलि देने से तो यही श्रेयस्कर है कि मैं अपने प्राणो की वलि दे दूँ।

मुनि ध्यानस्थ हो गये। उन्होंने अपना वलिदान दे दिया।

उसी समय एक लकडहारे ने लकडी का गट्ठर स्वर्णकार के मकान मे डाला, उसकी तेज आवाज से भयभीत होकर क्रौंच पक्षी को वीट हो गई, उसमे स्वर्णयव निकल आये। स्वर्णकार उसे देखकर पश्चाताप करने लगा। अरे! मैंने निरपराध मुनि की हत्या कर दी।

पर अव क्या हो सकता था?

☆

६५

पाप के भागीदार

कालसौकरिक राजगृह का सबसे बडा कसाई था। प्रतिदिन उसके कसाईखाने मे सैकडो भैंसे मारे जाते थे। एक दिन राजा श्रेणिक ने कालसौकरिक को अपने पास बुलाकर कहा—"कालसौकरिक! तुम भैंसा मारना छोड दो, मैं तुम्हे इतना धन दूँगा कि जिससे तुम्हारा सारा परिवार समृद्ध हो जायेगा।"

सम्राट् के प्रस्ताव की अवहेलना करते हुए कालसौकरिक ने कहा—"राजन्! मै आपकी अन्य कोई भी बात सहर्ष मान सकता हूँ, पर आपकी भैंसा न मारने की वात मुझे बिलकुल पसन्द नही है। मुझे बिना भैंसा मारे चैन ही नही पडता है।"

सम्राट् ने अनुचरो को आदेश देकर कालसौकरिक को अन्धकूप मे डलवा दिया। राजा प्रसन्न होकर भगवान महावीर के पास पहुँचा। वन्दन कर निवेदन किया—"भगवन्! मैने कालसौकरिक को भैंसे मारने छुडवा दिये हैं।"

भगवान ने कहा—"श्रेणिक! यह बिल्कुल ही असम्भव है।"

"भगवन्! मैंने उसे अन्धकूप मे रखा है, वहाँ पर वह भैंसो को किस प्रकार मारेगा?"

भगवान ने कहा—"तुम्हारा कथन सही है, पर क्या अन
गीली मिट्टी नही है?"

"भगवन्! गीली मिट्टी से क्या तात्पर्य है?"

"गीली मिट्टी से वह दिन भर भैंसो की आकृति व

उन्हे मारने का उसी प्रकार अभिनय करता रहा। इसीलिए मैंने कहा है कि कालसौकरिक को भैंसे मारना छुड़वाना सभव नही है।"

सम्राट् ने स्वय जाकर देखा कि अन्धकूप मे कालसौकरिक के क्रूर हाथ भैंसे मारने मे लगे हुए है। सम्राट् ने उसे मुक्त कर दिया।

कुछ समय के पश्चात् कालसौकरिक मर गया। परिवार के लोग आये और दाह-सस्कार किया।

सुलस कालसौकरिक का ज्येष्ठ पुत्र था। परिजनो ने एक भैंसे को मारकर अपने पिता के पद को सँभालने का अनुरोध किया। सुलस ने उनके प्रस्ताव को ठुकराते हुए कहा—"मैने भगवान महावीर का पावन उपदेश सुना है। मै कसाई का धन्धा नही कर सकता। जैसे मुझे मेरे प्राण प्रिय है वैसे ही दूसरो को अपने प्राण प्रिय है। फिर मै अपने प्राणो की रक्षा के लिए दूसरो के प्राण कैसे लूट सकता हूँ।"

स्वजन-वर्ग ने कहा—प्राणी-हिसा मे जो पाप होगा, उसके भागीदार हम है। उन्हे प्रतिबोध देने के लिए सुलस ने अपने पिता की तेज कुठार को हाथ मे उठाया। अपने सामने खड़े हुए भैंसे को प्रेम की दृष्टि से देखा और वह कुठार अपनी जघा पर दे मारी। वह मूच्छित होकर गिर पड़ा। जघा से रक्त के फव्वारे छूटने लगे। कुछ समय के पश्चात् सावधान होने पर उसने कहा—"मेरे प्यारे बन्धुओ! यह घाव मुझे अत्यधिक कष्ट दे रहा है, कृपया आप मेरी पीडा को ले लीजिए जिससे मुझे शान्ति हो।"

परिजन वर्ग ने उदास मन से कहा—"यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है। किसी अन्य की पीडा को अन्य कोई व्यक्ति कैसे ले सकता है?"

सुलस ने तपाक से कहा—"आप मेरी पीडा नही ले सकते, तब आप मेरे पाप को कैसे ले सकेंगे?"

स्वजनो के पास इस प्रश्न का कोई उत्तर नही था।

सुलस ने कहा—"चाहे पैतृक-धन्धा भी क्यो न हो, यदि वह पापपूर्ण है तो पुत्र को नही करना चाहिए। यदि पिता अन्धा है तो पुत्र को भी अन्धा हो जाना चाहिए। यह बुद्धिमानी नही है।"

☆

६६

एक रहस्य

भगवान महावीर के ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति अनगार ज्ञानी थे, विवेकी थे और सत्य के अन्तिम छोर तक पहुँचने की उनकी जिज्ञासा वडी तीव्र थी। किसी भी विपय मे कोई शका उत्पन्न हो, तो उसका समाधान प्राप्त किये विना वे रुकते नही थे।

एक वार शुक्ल ध्यान मे लीन वे विचरण कर रहे थे। जीवात्मा पर विचार करते-करते एक शका उनके मन मे उत्पन्न हुई और वे उसका समाधान पाने के लिए उत्कठित हुए। भगवान महावीर के अतिरिक्त अन्य कौन था जो उनका समाधान प्रस्तुत कर सकता ?

सयोगवश उस समय भगवान समीप ही राजगृह नामक नगर मे गुणशील नाम के विख्यात चैत्य मे ठहरे थे। इन्द्रभूति भगवान की सेवा मे उपस्थित हुए। सविनय वन्दन करने के उपरान्त उन्होने प्रभु से प्रश्न किया—

"भगवन् ! जीव किस प्रकार शीघ्र ही गुरुता अथवा लघुता को प्राप्त करता है ?"

भगवान ने विचार किया कि उदाहरण सहित यह तत्त्व शिष्य को समझाना चाहिए। अत उन्होने कहा—

कल्पना करो, एक तूवा है, जो सूखा है, छिद्र रहित है, वहुत वडा है। क्या वह पानी मे डूबेगा ?

नही भगवन् ! गौतम ने निवेदन दिया। तूँवे का स्वभाव तो पानी पर तैरने का है।

उस तूबे पर कोई व्यक्ति अच्छी तरह से दर्भ और कुश लपेट देता है और फिर उस पर मिट्टी का लेप भी चढा देता हे। कुछ समय तक उसे धूप मे सुखा देता हे। जब वह अच्छी तरह सूख जाता है तब पहले के समान ही उस तूबे पर फिर से दर्भ और कुश लपेट देता हे और उसी प्रकार मिट्टी का लेप लगाकर सुखा देता है और इसी प्रकार वह आठ बार यह विधि दुहराता है। जब आठ बार उस तूबे पर दर्भ-कुश-मिट्टी का लेप लगकर सूख जाता है। तब वह उसे किसी जल मे लेजाकर डालता है। बताओ, गौतम! वह डूबेगा या तैरेगा।

भगवन्! वह तूबा जिस पर आठ लेप लग चुके है डूब ही जायेगा।

एक ईषत् हास्य की मधुर रेखा प्रभु के मुखचन्द्र पर झलक आई। सौम्यता की चन्द्रिका छिटक गई। तब उन्होने अपने शिष्य को उनके प्रश्न का उत्तर देते हुए समझाया—

"हे गौतम! वह तूबा वास्तव मे तो हलका था। उसे जल मे डूबना नही चाहिए था। किन्तु मिट्टी के आठ बार के लेप के कारण वह गुरुता को प्राप्त हो गया और जल को लाँघकर जल के तल रही हुई धरती तक चला गया। क्यो, ऐसा ही हुआ न?"

"हाँ, भगवन्! ऐसा ही हुआ।"—इन्द्रभूति अनगार के मस्तिष्क मे तत्त्व का प्रकाश छा गया था।

"इसी प्रकार, हे गौतम! जीव भी प्राणातिपात से, यावत् मिथ्या-दर्शन शल्य से, अठारह पाप-स्थानको के सेवन से क्रमश आठ कर्म प्रकृतियो का उपार्जन करते है। उन्ही कर्म-प्रकृतियो की गुरुता के कारण, उसी गुरुता के भार के परिणामस्वरूप जीव मृत्यु के समय मृत्यु को प्राप्त कर, इस पृथ्वीतल को लाँघकर नीचे, नरक मे स्थित होते है। जीव गुरुत्व को किस प्रकार प्राप्त होते है, यह तो तुम भली प्रकार से अब समझ गये न?"—भगवान ने पूछा।

"हाँ भगवन्! मै जान गया कि जीव किस प्रकार गुरुत्व को प्राप्त होते है।"—सन्तुष्ट इन्द्रभूति अनगार ने उत्तर दिया।

"अब हे गौतम! मै तुम्हे यह रहस्य समझाता हू कि जीव किस प्रकार शीघ्र लघुत्व को प्राप्त करते है। विचार करो, यदि उस तूबे का

सबसे ऊपर का मिट्टी का लेप गल जाय और नष्ट होकर तूबे पर से हट जाय, तब क्या होगा ?"

"भगवन् ! तब तूवा कुछ हल्का हो जायगा ।"

"हाँ कुछ हल्का तो हो ही जायगा। तुम ठीक कहते हो। और हल्का हो जाने से क्या होगा ? क्या वह पृथ्वीतल से कुछ ऊपर आकर नही ठहरेगा ?"—प्रभु ने प्रश्न किया।

"ऐसा ही होगा भगवन् ।"

"इसी प्रकार, यदि उस तूबे का दूसरा मिट्टी का लेप भी गल जाय और नष्ट हो जाय, तब वह पृथ्वीतल से कुछ और अधिक ऊपर आकर ठहरेगा और जब क्रमश उसके आठो मिट्टी के लेप गलकर नष्ट हो जायँगे और तूबे से पृथक् हो जायेंगे, तब क्या होगा ?"

इन्द्रभूति गौतम भगवान के ज्ञान तथा विवेचन की सटीक सरलता पर मुग्ध हो रहे थे। वे बोले—

"मै रहस्य जान गया प्रभु ! तब वह तूवा जैसे का तैसा शुद्ध और हल्का हो जायगा और जल की सतह पर आकर तैरने लगेगा।"

अपने विवेकी शिष्य से यह समुचित उत्तर पाकर भगवान ने स्पष्ट समझाया—

"इसी प्रकार, हे गौतम ! प्राणातिपातविरमण यावत् मिथ्यादर्शन शल्य विरमण से क्रमश आठ प्रकृतियो को नष्ट करके जीव आकाशतल की ओर उडकर लोकाग्र मे स्थित हो जाते है। गौतम ! जीव इस प्रकार लघुत्व को प्राप्त होते हैं। स्पष्ट हुआ न ?"

"भगवन् ! आप सर्वज्ञ है।"

☆

६७

संयम का चमत्कार

वाराणसी भारत की एक महान नगरी थी। उसकी शोभा और समृद्धि अलकापुरी के समान थी। सुन्दर, विशाल और गगनस्पर्शी भव्य-भवन जन-जन के मन को मन्त्रमुग्ध कर देते थे। नगरी के बाहर गगा महा-नदी कल-कल छल-छल बह रही थी।

गगा के किनारे मृतगगानीर नामक सरोवर था। उसका पानी अमृत के समान मधुर और स्फटिक के समान निर्मल था। उसमे विविध प्रकार के कमल खिल रहे थे। उनकी मधुर सौरभ से सारा वातावरण महक रहा था। हजारो जलचर उस सरोवर मे निर्भय होकर निवास करते थे।

सरोवर के सन्निकट ही मालुकाकच्छ नामक एक सुन्दर वन-खण्ड था। उसमे हजारो वृक्ष थे, जिनकी सघन छाया सारे दिन छायी रहती थी और उस शीतल छाया मे अनेक वनचर पशु क्रीडा किया करते थे।

सन्ध्या का समय था। धीरे-धीरे अन्धकार दैत्य के समान बढ रहा था। उस समय दो कछुए आहार की अन्वेपणा के लिए धीरे से सरोवर के बाहर निकले। सरोवर के सन्निकट चमचमाती हुई रेती पर वे चहलकदमी करने लगे।

उसी समय मालुकाकच्छ मे रहने वाले दो शृगाल पानी पीने के लिए सरोवर पर आए। शृगालो ने कछुओ को घूमते हुए देखा। उनकी आँखो मे नई चमक आ गई। उनकी जबान लपलपा उठी। उन्होने निश्चय किया कि आज हम इन कछुओ का आहार करेगे, क्योकि ये मधुर जल मे निवास

करते है, इनका मास वडा ही स्वादिष्ट होगा। दोनो एक-दूसरे के विचार से सहमत हो गये।

एक शृगाल ने दूसरे से कहा—"सावधान हो जाओ, परस्पर वार्तालाप न करो, क्योकि कछुए वडे चतुर होते है।"

दूसरे ने कहा—"तुम्हारा कथन सत्य है पर ये मक्कारी मे हमसे आगे नही वढ सकेगे।"

कछुए, शृगालो की आहट पाकर रुक गये, किन्तु सरोवर इतना दूर था कि वे भागकर भी उसकी शरण मे नही पहुँच सकते थे। अत एक कछुए ने दूसरे से कहा—"भाई ! सावधान हो जाओ। ये शृगाल वडे पापी है। ये हमारे प्राणो को नष्ट करने वाले है अत अपने हाथ, पैर, गर्दन व शरीर के सभी अगोपागो को इस प्रकार भीतर करलो कि इन्हे यह ज्ञात हो कि यह तो मृत है।"

कछुए ने अपनी वात पूर्ण की ही थी कि दोनो शृगाल वहाँ पर आ गये। उन्होने दाँतो से उन पर प्रहार किया। तीक्ष्ण पजो से उनको नोचा, इधर से उधर उलट-पुलट कर देखा, पर ढाल के सदृश ऊपर की मजबूत हड्डी पर उसका कोई असर नही हुआ। परेशान होकर एक ने दूसरे शृगाल से आँख के सकेत से कहा—अव यहाँ से धीरे से चल दो।

पास की झाडी मे जाकर वे दोनो छिपकर बैठ गये। और पहले ने दूसरे से कहा—"जहाँ पर शक्ति काम न करती हो, वहाँ पर बुद्धि से काम लेना चाहिए। कुछ समय तक चुपचाप यहाँ पर बैठे रहो। कुछ क्षणो मे ये कछुए सरोवर की ओर जव जायेगे तव हम इन्हे दवोचकर खा लेगे।"

उन दो कछुओ मे से एक कछुआ उतावले स्वभाव का था। उसके मन मे धैर्य और सयम का अभाव था। साथी ने उसे पहले ही समझा दिया था कि शृगाल पास की झाडी मे छिपे रहेगे अत हाथ, पैर, मुँह आदि दीर्घकाल तक वाहर मत निकालना। पर अपने साथी के कथन की उपेक्षा कर ज्यो ही उसने अपना एक पैर वाहर निकाला त्यो ही एक शृगाल ने लपक कर उसे अपने तीक्ष्ण दाँतो से खा लिया। एक पैर खो देने के वाद भी उसे अक्ल नही आई। कुछ समय के पश्चात् दूसरा पैर निकाला, वह भी शृगाल ने खा लिया। इस प्रकार उसके हाथ और गर्दन सभी को शृगाल खा गये।

धैर्य के अभाव मे और असयम के कारण उसे अपने प्राणो से हाथ धोना पडा ।

दूसरा कछुआ विवेकवान व सयमी था । उसे अपनी इन्द्रियो पर पूर्ण अधिकार था । वह शान्त-भाव से बैठा रहा । उन शृगालो ने अनेक प्रयास किये किन्तु उन्हे सफलता नही मिली । अन्त मे निराश होकर वे उलटे पैरो लौट गये । जब कछुए को यह पूर्ण विश्वास हो गया कि शृगाल चले गये है तब उसने अत्यन्त सावधानी से अपने अगोपागो को बाहर निकाला और इधर-उधर देखकर वह शीघ्र ही दौडकर सरोवर मे पहुच गया और अपने स्नेही साथियो से जा मिला ।

श्रमण भगवान महावीर ने कथा का सार प्रस्तुत करते हुए कहा—"जो प्रथम कछुए के समान साधक है, वह विनष्ट होता हे और द्वितीय कछुए के समान जो साधक है वह इन्द्रियो पर सयम रखकर अपने जीवन को चमकाता हे ।"

सयम जीवन है । उसके सामने पाप की शक्ति पराजित हो जाती है । अत सयम मे जीवन को चमकाओ ।

—ज्ञाता धर्म कथा



६८

संयम से सिद्धि

बात बहुत पुरानी है। कुरु जनपद मे इषुकार नामक एक सुन्दर नगर था । उस नगर का अधिपति इषुकार था और उसकी पत्नी का नाम कमलावती था।

इषुकार नगर मे भृगु नामक एक प्रतिभा सम्पन्न राजपुरोहित रहता था। उसकी पत्नी का नाम यशा था। वह वशिष्ठ कुल मे जन्मी थी अत उसका अपर नाम वाशिष्ठी भी था। सन्तान के अभाव मे वे दोनो रात-दिन चिन्ता के सागर मे डुबकी लगाया करते थे। एक बार दो देव जिनका जन्म भृगुपुरोहित के यहाँ होने वाला था। वे जैन श्रमण के वेश को धारण कर भृगुपुरोहित के घर पहुँचे। मुनियो को देखकर भृगु और यशा अत्यन्त प्रसन्न हुए। वन्दन कर उन्होने मुनियो से उपदेश श्रवण किया। श्रावक के व्रत ग्रहण किये।

पुरोहित ने प्रश्न किया—भगवन् ! हमारे कोई पुत्र होगा या नही ?

मुनियो ने उत्तर देते हुए कहा—पुरोहित जी ! तुम व्यर्थ की चिन्ता न करो, हम कहते है कि तुम्हारे एक नही अपितु दो पुत्र होगे, पर एक बात है ?

पुरोहित ने प्रतिप्रश्न किया—भगवन् ! वह कौनसी बात है ? जिसे आप कहने मे सकोच कर रहे है ?

सकोच की तो कोई बात नही, पर तुम्हे सुनकर मन मे विचार होगा। किन्तु सत्य तथ्य को प्रकट करना तो हम मुनियो का कर्त्तव्य है।

कहिए गुरुदेव ! शीघ्र कहिए ! भृगु ने निवेदन किया।

वे दोनो बालक बाल्यावस्था मे ही श्रमण बनेगे। श्रमण बनकर वे अत्यधिक जिनधर्म की प्रभावना करेगे। अत तुम्हे चिन्तित होने की आवश्यकता नही।

मुनि वहाँ से प्रस्थान कर गये। कुछ समय के पश्चात् दोनो ने भृगु

पुरोहित के यहाँ पुत्रो के रूप मे जन्म ग्रहण किया। वे बहुत ही सुन्दर थे। यशा उन्हे देखकर आनन्द-विभोर थी, किन्तु मन मे यह भय समाया हुआ था कि मुनियो की भविष्यवाणी के अनुसार ये कही दीक्षा न ग्रहण कर ले अत उन्होने नगर को छोडकर व्रज मे निवास किया जहाँ पर कोई मुनि न आ सके। यशा अपने पुत्रो के मन मे समय-समय पर साधुओ के प्रति भय की भावना पैदा करती रहती थी। वह उनसे कहती—साधुओ के पास मत जाना। वे छोटे-छोटे बच्चो को उठाकर ले जाते है। उन्हे मार कर उनका माँस खा जाते है। और तो क्या उनसे बात भी मत करना। माँ की शिक्षा के फलस्वरूप दोनो बालक साधुओ के नाम से ही काँपते थे।

एक बार दोनो बालक खेलते-खेलते गाँव से बहुत दूर निकल गये। उन्होने दूर से देखा कई साधु उस मार्ग से आ रहे है। उन्हे देखकर वे घबरा गये। अब क्या करे ? बचने का कोई उपाय नही था, अत वे शीघ्र ही पास के एक सघन वट-वृक्ष चढ गये। सयोगवश साधु भी उस वृक्ष की शीतल छाया मे आकर बैठे। बालको का भय बढा। माता-पिता की शिक्षा स्मृतिपटल पर नाचने लगी। छुपे हुए चुपचाप देखने लगे कि साधु क्या करते है ? साधुओ ने पेड के नीचे आकर इधर-उधर देखा-भाला कि कही पर जीव-जन्तु तो नही है। धीरे से चीटो को एक ओर सुरक्षित किया, और बडी यतना के साथ बैठकर भोजन जो पात्र मे साथ लाये थे वह करने लगे। दोनो बालको ने उनके दयाशील व्यवहार को देखा, उनका करुणापूर्ण वार्तालाप सुना। उनके अन्तर्मानस का भय दूर हो गया। इससे पूर्व भी हमने कभी इनको देखा है ? ये बिल्कुल ही अपरिचित तो नही लगते है ? धीरे-धीरे धुँधली-सी स्मृति अवचेतन मन पर रूपाकार होने लगी। वह कुछ गहरी होकर स्पष्ट होने लगी। कुछ ही क्षणो मे उन्हे अपने पूर्व भव का स्मरण हो आया। उनका सम्पूर्ण भय दूर हो गया। अन्तर्मन प्रसन्नता से झूम उठा। वे वृक्ष से नीचे उतरे और मुनियो को वन्दन किया। मुनियो ने उनको प्रतिबोध दिया। वे घर आये और माता-पिता से निवेदन किया—

"हमने देखा है—मानव-जीवन अनित्य है, उसमे भी विघ्न बहुत है, आयु अल्प है इसलिए घर मे हमे कोई आनन्द नही है। हम मुनि-चर्या को स्वीकार करने के लिए आपकी अनुमति चाहते है।"

माता-पिता ने अनेक तर्क-वितर्क देकर उन्हे समझाने का प्रयास किया, किन्तु उनके सभी तर्कों का पुत्रो ने खण्डन कर दिया। अन्त मे उन्होने भी अपने पुत्रो के साथ सयम लेने का निर्णय किया।

भृगु पुरोहित सम्पन्न था। उसके पास विराट् वैभव था। सम्पत्ति का उत्तराधिकारी न होने से प्रश्न उद्‌बुद्ध हुआ कि इसका मालिक कौन हो ? तत्कालीन परम्परा के अनुसार यह समाधान किया गया कि जिस सम्पत्ति का कोई अधिपति नही है उसका अधिपति राजा है।

महारानी कमलावती ने सुना कि भृगु पुरोहित, उसकी पत्नी यशा और उनके दोनो पुत्र विराट् सम्पत्ति को त्यागकर सयम-साधना के महा-मार्ग पर बढ रहे है और उनके द्वारा त्यक्त वैभव राज्यागार मे लाया जा रहा है। यह बात महारानी को पसन्द नही आई। उसने राजा से स्पष्ट शब्दो मे कहा—

राजन् ! वमन खाने वाले पुरुष की कभी प्रशसा नही होती। आप एक ब्राह्मण द्वारा परित्यक्त धन को लेना चाहते है, यह कहाँ का न्याय है ? इस विराट् विश्व का सम्पूर्ण धन भी आपको मिल जाये तो भी आपकी इच्छाओ की पूर्ति नही होगी। धर्म के अतिरिक्त कोई भी वस्तु आपको त्राण नही दे सकती। जैसे पक्षिणी पिंजडे मे आनन्द की अनुभूति नही करती, वैसे ही मुझे भी इस बन्धन मे आनन्द का अनुभव नही हो रहा है। मै इसे छोड-कर सयम-साधना, तप आराधना करना चाहती हूँ।

कुछ समय रुक कर पुन रानी ने कहा—राजन् ! यह धन माँस के टुकडे के समान है। जैसे माँस-खण्ड पर चील, कौवे और गीध झपटते है वैसे ही धनलोलुप व्यक्ति धन पर झपटता है। हमारे लिए श्रेयस्कर यही है कि प्रस्तुत नश्वर धन को छोडकर शाश्वत धन की अन्वेषणा करे।

रानी की बात सुनकर राजा की भावना मे परिवर्तन होता है। राजा और रानी दोनो ही भोगो से विरक्त हो जाते है। सयम को स्वीकार कर जीवन को पवित्र बनाते है।

इस प्रकार राजा, रानी, पुरोहित, पुरोहितानी व दोनो कुमारो ने सयम से सिद्धि प्राप्त की।

—उत्तराध्ययन १४

☆

६९

तपःपूत जीवन

मथुरा नगरी मे राजा शख राज्य कर रहे थे। स्थविर मुनियो से धर्म के मर्म को श्रवण कर उनके अन्तर्मानस मे वैराग्य का पयोधि उछाले मारने लगा। राज्य को त्यागकर वे मुनि वने। गम्भीर अध्ययन कर गीतार्थ वने।

एक वार वे परिभ्रमण करते हुए हस्तिनापुर आये। हस्तिनापुर मे प्रवेश करने के दो मार्ग थे। एक मार्ग का नाम हुताशन था। वह सारे दिन तप्त तवे की तरह जलता रहता था। भीष्म ग्रीष्म मे यदि कोई भूला-भटका पथिक उस मार्ग पर चला जाता तो वह रास्ते मे ही अपने प्यारे प्राण खो देता।

मुनि शख ने सोचा, मुझे किस मार्ग से जाना चाहिए। उन्होने सडक के सन्निकट भव्य-भवन के गवाक्ष मे बैठे हुए सोमदेव ब्राह्मण से जिज्ञासा प्रस्तुत की कि मुझे किस मार्ग से जाना चाहिए ?

सोमदेव के अन्तर्मानस मे विद्वेषाग्नि जल रही थी। उसने मुनि को हुताशन मार्ग की ओर जाने का सकेत किया।

मुनि के मुस्तैदी कदम उसी मार्ग की ओर चल पडे। वे लब्धि सम्पन्न थे। उनके पाद-स्पर्श से मार्ग वर्फ की तरह ठण्डा हो गया। सोमदेव को अपने पापाचरण पर पश्चाताप हुआ। मुनि महान् है। इन्ही के पुण्य के प्रवल प्रभाव से अग्नि-जैसा मार्ग भी हिम-स्पर्श हो गया है। मै पापी हू। मैने भयकर पाप-कर्म किया है। उसने दौडकर मुनि के चरण पकड लिये और पाप से मुक्त होने का उपाय पूछा। मुनि ने श्रमण धर्म की महत्ता का

प्रतिपादन किया। मुनि के प्रवचन से प्रभावित होकर उसने सयम धर्म गहण किया, किन्तु उसके मन मे जाति, रूप और ऐश्वर्य का गर्व बना रहा।

सोमदेव मुनि मरकर वहाँ से देव बने और वहाँ का आयुष्य पूर्ण कर मृत गगा नदी के तट पर बलकोट्ट नामक हरिकेश का पुत्र 'वल' हुआ। उसका स्वभाव अत्यन्त क्रोधी था और पूर्वभव मे जाति आदि का अभिमान करने के कारण उसका रूप कौवे के समान काला था।

एक वार वसन्तोत्सव चल रहा था। सभी उत्सव का आनन्द लूट रहे थे। किन्तु क्रोधी वल को कोई पूछ भी नही रहा था। वह एकान्त मे एकाकी खडा-खडा देख रहा था। उसने देखा एक भयकर विपधर वावी मे से वाहर निकला, लोगो ने उसे मार दिया। कुछ क्षणो के पश्चात् दूसरा निर्विप सर्प निकला, किन्तु उसे किसी ने छेडा भी नही।

'वल' के हृतत्री के तार झनझना उठे जिसमे विष है उसे कष्ट है और जो निर्विप है, उसे किसी भी प्रकार का खतरा नही है। चिन्तन करते हुए उन्हे जाति-स्मरण ज्ञान हुआ, और वे साधु बन गये।

मुनि हरिकेशवल श्रमण वनकर उत्कृष्ट तप का आचरण करने लगे। एक वार परिभ्रमण करते हुए वे वाराणसी आये और वहाँ पर 'तेंदुक' उद्यान मे ठहरे। मुनि के उग्रतप के प्रभाव से 'गडीतिदुग' नामक एक यक्ष मुनि का परम भक्त हो गया। वह दिन-रात मुनि की सेवा मे रहने लगा।

वाराणसी के राजा कौशलिक की पुत्री भद्रा वडी सुन्दर थी। उसे अपने रूप और यौवन पर वडा गर्व था। वह एक वार अपनी सहेलियो व दासियो के साथ उसी उद्यान मे आई और यक्ष की अर्चना करने के लिए ज्यो ही यक्षायतन मे पहुँची, वहाँ पर उसकी दृष्टि ध्यान मे तल्लीन मुनि के कृश व मलीन तन पर जा टिकी। उसने घृणा से मुनि के शरीर पर थूक दिया।

यक्ष ने देखा इस पापिनी ने मुनि का भयकर अपमान किया है। जरा इसे चमत्कार दिखाना चाहिए। उसने भद्रा के शरीर मे प्रवेश किया। प्रवेश करते ही भद्रा पागलो की भाँति प्रलाप करने लगी। दासियो ने वडी कठिनता से उसे राजमहल मे पहुँचाया। तान्त्रिक व यान्त्रिको ने अनेक उपचार किये, पर सफलता प्राप्त नही हुई। राजा चिन्तित हो उठा।

यक्ष ने प्रकट होकर कहा—इस कुमारी ने उग्र तपस्वी सन्त की

हान् अवहेलना की है, यदि इसका पाणिग्रहण उसी मुनि के साथ किया
ाय तो मैं इसे छोड सकता हूँ अन्यथा तुम चाहे कितने भी उपचार करो,
फलता प्राप्त नही होगी। राजा ने कुमारी को जीवित रखने की अभि-
ाषा से यक्ष की बात स्वीकार की।

विवाह के योग्य वस्त्रालकारो से सुसज्जित कर और विवाह की
मस्त सामग्री लेकर राजा यक्षायतन मे पहुँचा। मुनि को नमन कर प्रार्थना
रने लगा—महर्षे! मेरी कन्या को स्वीकार करे।

मुनि ने कहा—मै श्रमण हूं, श्रमण के सामने ऐसी अनुचित बाते नही
िया करते। जिस मकान मे स्त्री रहती हो वहाँ पर मुनि नही रहते, फिर
्त्री के साथ पाणिग्रहण का प्रश्न ही कहाँ? मुनि सदा मोक्ष के इच्छुक है
े शाश्वत आनन्द चाहते है, वे स्त्रियो मे किस प्रकार आसक्त हो सकते है?

कन्या को मुनि के श्री चरणो मे छोडकर राजा उलटे पैर अपने
महलो मे लौट गया। यक्ष रातभर विविध प्रकार के रूप बनाकर कन्या को
ठगता रहा। प्रभात हुआ। कन्या अपने पिता के पास पहुँची और रात की
बीती घटना पिता को सुनाई। पुरोहित रुद्रदेव राजा के पास ही बैठा था।
उसने कहा—राजन्! यह ऋषि-पत्नी है। ऋषि के द्वारा त्यक्त होने से यह
सहज ही ब्राह्मण की सम्पत्ति हो जाती है। अत आप इसे किसी ब्राह्मण को
प्रदान कर दे। राजा ने वह कन्या उसे दे दी।

पुरोहित ने एक विराट् यज्ञ का आयोजन किया। दूर-दूर के विद्वान
उस यज्ञ मे आमन्त्रित किये गये। बढिया भोजन की तैयारी होने लगी।

मुनि हरिकेशबल एक-एक मास का उग्र तप कर रहे थे। पारणे के
लिए घूमते हुए उसी यज्ञ मण्डप मे जा पहुँचे। मुनि के विद्रूप रूप को देख-
कर जाति-मद मे उन्मत्त बने हुए वे ब्राह्मण खिल-खिलाकर हँस पडे। अरे!
यह काला-कलूटा नर-पिशाच कहाँ से आ गया? किस आशा से आया है?
इसे शीघ्र ही यहाँ से हटा दो।

उन ब्राह्मणो की यह करनी-करतूत देखकर उन्हे प्रतिबोध देने के
लिए एक तिन्दुक यक्ष मुनि के शरीर मे प्रवेश कर गया। उसने कहा —'मै
श्रमण हू, सयमी हू, ब्रह्मचारी हू, परिग्रह से रहित हू। भिक्षा का समय है,
इसलिए भिक्षा प्राप्त करने के लिए यहा पर आया हू। आपके यहा तो इतना-

सारा भोजन वन रहा है और दिया जा रहा है, उसमे से कुछ भोजन मुझे भी दिया जाय।

रुद्रदेव ने स्पष्ट इन्कार करते हुए कहा—यह भोजन तो ब्राह्मणो के लिए है, हम तुम्हे यह भोजन नही देगे।

यक्ष ने कहा—किसान ऐसी भूमि मे बीज वपन करता है, जहाँ पर उसके पैदा होने की आशा होती है। मुझे दान दो तुम्हे अवश्य ही लाभ प्राप्त होगा।

रुद्रदेव ने कहा—मुझे पता है वह स्थान कौनसा है ? ब्राह्मणो से बढकर कोई भी उत्तम क्षेत्र नही है।

यक्ष ने कहा—जिनमे क्रोध की आँधी आ रही हो, मान के सर्प फूत्कारे मार रहे हो, माया और लोभ के बवण्डर उठ रहे हो, वे जाति से भले ही ब्राह्मण हो किन्तु गुणो से ब्राह्मण नही है। वे वेदो का सही अर्थ नही जानते है, वे पुण्य क्षेत्र नही है।

रुद्रदेव ने कहा—भले ही यह अन्न-पान सडकर नष्ट हो जाये, किन्तु ब्राह्मणो का अवर्णवाद वोलने वाले, मैं तुम्हे नही दूँगा।

यक्ष ने कहा—मैं जितेन्द्रिय हूँ, समिति और गुप्ति से युक्त हूँ, निर्दोप आहार लेता हूँ, यदि तुम मुझे आहार प्रदान नही करोगे, तो इस विराट् यज्ञ का फल भी तुम्हे प्राप्त नही होगा।

रुद्रदेव ने आपे से वाहर होकर कहा—छात्रो ! इसे मार-पीटकर, गलहत्था देकर वाहर निकाल दो।

आदेश प्राप्त होते ही छात्र मुनि को मारने के लिए आगे वढे।

भद्रा ने देखा महान् अनर्थ होने जा रहा है। उसने उच्च स्वर से कहा—यह तो महान् ऋपि है, इसने ही मेरा त्याग किया है। देवता के अभियोग से उत्प्रेरित होकर राजा ने मुझे इसे प्रदान किया किन्तु इस महा-मुनि ने मुझे मन से भी नही चाहा। इसकी अवहेलना मत करो। कही यह अपने दिव्य तेज से तुम्हे भस्म न करदे।

यक्ष ने मुनि को मारने के लिए आये हुए युवको को भूमि पर गिरा दिया और उनको ऐसा मारा कि सारा-शरीर लहू-लुहान हो गया, और रुधिर के वमन होने लगे।

छात्रो की वह स्थिति देखकर रुद्रदेव भद्रा के साथ मुनि के चरणो

मे गिर पडा—भन्ते ! अनजान मे हमने आपकी जो अवहेलना की है, हमे क्षमा करे। मुनि क्षमाशील होते है वे किसी पर भी क्रोध नही करते।

यक्ष मुनि के शरीर से निकलकर अलग हो गया।

मुनि ने मधुर मुस्कान बिखेरते हुए कहा—मेरे अन्तर्मानस मे न पहले प्रद्वेष था, न अभी है और न आगे भी रहेगा। किन्तु मेरी सेवा मे जो यक्ष है उसी का यह चमत्कार है।

भद्रा और रुद्रदेव के अत्यधिक स्नेह भरे आग्रह से मुनि ने आहार ग्रहण किया। सर्वत्र प्रसन्नता का वातावरण छा गया। जन-जन की जिह्वा पर ये बोल फूट रहे थे कि जाति से कोई महान नही होता, ये मुनि चाण्डाल के पुत्र है, पर इनके तप की महिमा और गरिमा तो देखो। साक्षात् देव भी इनके चरणो की उपासना करते है।

रुद्रदेव की जिज्ञासा पर मुनि ने सच्चे यज्ञ के मर्म का रहस्योद्घाटन करते हुए कहा—तप ज्योति है। जीव ज्योति-स्थान है। मन, वचन और काया की सद्प्रवृत्ति घी डालने की कडछियाँ है। शरीर अग्नि जलाने के कण्डे है। कर्म ईंधन है। सयम की प्रवृत्ति शान्ति पाठ है, इस प्रकार प्रशस्त अहिंसक यज्ञ कर अपने जीवन को चमकाइए।

मुनि के तप पूत जीवन से सभी के जीवन का नक्शा ही बदल गया।

—उत्तराध्ययन १२



७०

मेरा कोई नहीं

मालव प्रान्त मे सुदर्शनपुर नामक एक सुन्दर नगर था। मणिरथ वहाँ का राज्य सचालन करता था। उनका कनिष्ठ भ्राता युगवाहु था। उसकी पत्नी का नाम मदनरेखा था। मदनरेखा रूप मे अप्सरा से कम नही थी। मदनरेखा के रूप पर मुग्ध होकर मणिरथ ने कपट से युगवाहु को मार दिया। उस समय मदनरेखा गर्भवती थी। उसने भयकर जगल मे एक पुत्र को जन्म दिया। उस नवजात शिशु को मिथिला नरेश पद्मरथ अपने राजमहल मे गया और उस वालक का नाम 'नमि' रखा।

राजा पद्मरथ धर्मनिष्ठ था। उसके अन्य कोई भी सन्तान नही थी अत· नमि का वहुत ही स्नेह से पालन-पोपण किया। राजा पद्मरथ ने जव श्रमण धर्म स्वीकार कर लिया तव 'नमि' मिथिला का राजा वना।

एक वार राजा 'नमि' को भयकर दाह-ज्वर की पीडा हुई। छह मास तक घोर वेदना होती रही। उपचार होते रहे किन्तु कुछ भी लाभ नही हुआ।

एक अनुभवी वैद्य आया। उसने शरीर पर चन्दन का लेप लगाने के लिए कहा। रानियाँ चन्दन घिसने लगी। उनके हाथो मे पहने हुए ककण वज रहे थे। वेदना से आकुल-व्याकुल राजा ककण की आवाज सहन न कर सका। उसने ककण उतारने को कहा। सभी रानियो ने सौभाग्य-चिह्न स्वरूप एक-एक ककण को छोडकर सभी ककण उतार दिये।

कुछ समय के पश्चात् राजा ने मन्त्री से पूछा—"पहले ककण का

शब्द सुनाई दे रहा था, अब क्यों नहीं दे रहा है ? क्या अब चन्दन घिसना बन्द हो गया है ?"

मन्त्री ने कहा—"स्वामिन् ! कंकणों के घर्षण का शब्द आपको नहीं सुहा रहा था। उस शब्द-ध्वनि से आपको अपार कष्ट हो रहा था, अतः आपकी शान्ति के लिए रानियों ने सौभाग्य-चिह्न स्वरूप एक-एक कंकण को रखकर शेष सभी कंकण उतार दिये हैं। एक कंकण से घर्षण नहीं होता, और घर्षण के बिना शब्द कहाँ से हो।"

राजा के लिए यह घटना केवल घटना नहीं रही। प्रस्तुत घटना ने राजा की मनोगति बदल दी। वह चिन्तन करने लगा—जहाँ अनेक हैं, वहां संघर्ष है, दुःख है, पीड़ा है। जहाँ पर एक है वहाँ पर शान्ति है, जहां शरीर, इन्द्रिय, मन और इनसे भी आगे धन एवं परिवार की बेतुकी भीड़ है वहां पर दुःख है जहां केवल एक आत्मभाव है वहाँ पर सुख ही सुख है।

राजा के अन्तर्मन में वैराग्य-भावना जागृत हुई, वह निर्ग्रन्थ मुनि हो गया। सारा राज्य वैभव ज्यों का त्यों छोड़कर नगर के बाहर एकान्त-शान्त स्थान में जाकर साधना के लिए खड़ा हो गया।

अप्सराओं का मधुर नृत्य चल रहा था। शक्रेन्द्र उस नृत्य को देखने में तल्लीन था कि उसे ज्ञात हुआ कि नमि राजा श्रमण मुनि बन गये हैं—यह त्याग उन्होंने भावुकतावश किया है या इसके पीछे चिन्तन है। यह जानने के लिए स्वर्ग का राजा इन्द्र ब्राह्मण का वेश धारण कर नमि राजर्षि के पास आया और राजर्षि से कहा—

"हे राजर्षि ! आज मिथिला के प्रासादों और गृहों में कोलाहल से परिपूर्ण दारुण शब्द क्यों सुनाई दे रहे हैं ?"

राजर्षि ने एक सुन्दर रूपक के माध्यम से कहा—"मथुरा में एक चैत्य वृक्ष था, जो शीतल छाया वाला, मनोरम, पत्र, पुष्प एवं फलों से युक्त और बहुत से पक्षियों के लिए उपकारक था।"

"एक दिन प्रचण्ड आंधी ने उस मनोरम वृक्ष को गिरा दिया। उसके गिर जाने से उसके आश्रित रहने वाले ये पक्षी, दुःखी, अशरण और पीड़ित होकर आक्रन्दन कर रहे हैं।"

इन्द्र ने पुनः कहा—"यह अग्नि है, यह वायु है। यह आपका मन्दिर जल रहा है। भगवन् ! आप अपने रनिवास की ओर क्यों नहीं देखते ?"

नमि राजर्षि ने अध्यात्म चिन्तन की गहराई मे डुबकी लगाते हुए कहा—"वे हम लोग है जिनके पास कुछ भी नही है, सुख पूर्वक रहते है, सुख पूर्वक जीते है। मिथिला जल रही है उसमे मेरा कुछ भी नही जल रहा है।"

पुत्र और स्त्रियो से मुक्त तथा व्यवसाय से निवृत्त भिक्षु के लिए कोई वस्तु प्रिय भी नही होती और अप्रिय भी नही होती।

सब बन्धनो से मुक्त 'मै अकेला हू, मेरा कोई नही है।'

इन्द्र ने अनुभव किया मिथिला तो क्या राजर्षि शरीर, मन, इन्द्रिय, उनके विषय-भोग, मोह और अज्ञान इन सभी को पारकर ऐसी आध्यात्मिक दुनिया मे पहुँच गये है जहाँ पर उनका कोई शत्रु नही है, सभी मित्र ही मित्र है।

वह उनके आध्यात्मिक तेजस्वी जीवन से प्रभावित होकर उनके चरणो मे गिर पडा। उनकी प्रशसा के मधुर गीत गाता हुआ अपने स्थान लौट गया।

—उत्तराध्ययन ९



७१

सत्यमैव जयते

श्रमण भगवान महावीर का समवसरण एक बार राजगृह नगर के बाहर लगा हुआ था। भगवान के पीयूषवर्षी प्रवचन का पान करने के लिए हजारों भक्तगण पहुँचे थे। प्रवचन पूर्ण हुआ। श्रोतागण अपने-अपने स्थान की ओर चल दिये। किन्तु एक चोर वहीं पर दुबक कर बैठा था। एक सन्त ने पूछा—"कैसे बैठे हो भैया?"

"आज का दिन धन्य है! आज मैंने अपने जीवन में सर्वप्रथम भगवान की मंगलमय वाणी सुनी। वाणी क्या है, मानो अनमोल रत्नों की ही वर्षा हो रही हो!"

सन्त ने कहा—"रत्नों की वर्षा तो हुई, पर तुमने कितने रत्न ग्रहण किये हैं? यदि तुमने एकाध रत्न भी ग्रहण नहीं किया तो यह बहुमूल्य रत्न-वर्षा तुम्हारे किस काम की।"

चोर चिन्तन के सागर में डुबकी लगाने लगा कि मुझे क्या लेना चाहिए? मैं चोर हूँ। चोरी करना मेरा धन्धा है। यदि मैं चोरी करना ही छोड़ दूँ तो मेरा सारा परिवार भूख से छटपटाकर मर जायेगा। यदि मैंने चोरी जैसा पापकर्म नहीं छोड़ा तो फिर अन्य क्या छोड़ूँ?

उसने अपनी समस्या सन्त के सामने प्रस्तुत की।

सन्त मनोविज्ञान का सूक्ष्म ज्ञाता था। वह मानव-मन को परखने की कला में निष्णात था। उसने कहा—"भाई तुम चोरी न छोड़ो, अभी चोरी छोड़ने का हमारा आग्रह भी नहीं है। तुमने अपने जीवन की सत्य घटना मुझसे कही है। अपने जीवन की सबसे बड़ी कमजोरी को बिना किसी

सकोच के प्रकट किया है। अत मै चाहता हूँ कि तुम झूठ न बोलकर सदा सत्य बोला करो।"

सन्त की जादूभरी वाणी से चोर इतना प्रभावित हुआ कि उसने उसी समय प्रतिज्ञा ग्रहण की कि आज से मै कभी भी झूठ न बोलूँगा, सदा सत्य ही बोलूँगा।

सन्त ने प्रतिज्ञा दिलाते हुए कहा—"प्रतिज्ञा तो ले रहे हो, प्रतिज्ञा लेना जितना सरल व सीधा है उतना प्रतिज्ञा को पालन करना कठिन है।"

चोर ने दृढता के साथ कहा—"नही महाराज! मै सच्चे मन से प्रतिज्ञा ग्रहण कर रहा हूँ। प्राणो को त्याग करके भी प्रण को निभाऊँगा।"

प्रतिज्ञा लेकर चोर घर पहुँचा। पर उसके कर्ण-कुहरो मे भगवान की वाणी गूँज रही थी। वह विचारने लगा कि अभी तो घर मे खाने-पीने की कोई कमी नही है फिर व्यर्थ ही चोरी कर दूसरो को कष्ट क्यो दूँ। जब घर मे खाने को न रहेगा, तब ही चोरी की बात सोचूँगा।

उसने अनेक दिनो तक चोरी नही की, जो पास मे था उसे खाता रहा। जब घर मे सभी वस्तुएँ समाप्त हो गई, तो वह चोरी के लिए निकला। उसके कदम अपने लक्ष्य की ओर पड रहे थे और साथ ही चिन्तन भी चल रहा था कि यदि किसी साधारण व्यक्ति के यहाँ चोरी करूँगा तो उसे कितनी कठिनाई होगी, वह कितने ही दिन तक रोता रहेगा, इसलिए चोरी ऐसे स्थान पर करनी चाहिए, जिससे उसके मालिक को चिन्ता न हो, वह शोक-सागर मे डुबकी न लगाये। अच्छा तो, आज राजा के यहाँ पर ही चोरी करे। उसके यहाँ तो विराट् वैभव अठखेलियाँ कर रहा है। वहाँ से यदि कुछ धन ले भी आया तो उसे किसी प्रकार का कष्ट नही होगा।

राजा के खजाने की चोरी करने के लिए मुझे पहले से तैयारी करनी पडेगी। यो ही चला गया तो निराशा देवी के ही दर्शन होगे। उसने गुप्त रूप से जाकर राजा के खजाने के तालो को देखा। उनकी चाबियाँ बनाई और एक रात सेठ का रूप बनाकर चाबियो का गुच्छा लेकर वह खजाने की ओर चोरी करने के लिए चल पडा।

उस दिन राजा श्रेणिक और महामन्त्री अभयकुमार अपनी प्रजा के सुख-दु ख की सही स्थिति जानने के लिए वेष परिवर्तन कर नगर की गलियो

मे घूम रहे थे। उन्हे सेठ बना हुआ चोर सामने मिल गया। राजा ने पूछा—"कौन ?"

चोर के सामने प्रश्न क्या था, एक गम्भीर समस्या थी। उसे समझते हुए देर न लगी कि प्रश्नकर्त्ता साधारण व्यक्ति नही किन्तु स्वय सम्राट् और मन्त्री है। वह एक क्षण हिचकिचाया, पर दूसरे ही क्षण सँभल गया, उसने मन मे दृढ निश्चय किया कि सत्य ही बोलना है।

राजा ने कडककर दुबारा पूछा—"बोलता क्यो नही, कौन है ?"

"मै चोर हूं।"

"कहाँ जा रहा है ?" राजा ने दूसरा प्रश्न किया।

"चोरी करने जा रहा हू।" चोर का उत्तर सुनकर राजा और मन्त्री मन मे विचारने लगे, व्यर्थ ही हमने एक राह चलते हुए व्यक्ति को टोका। चोर अपने को कभी भी अपने मुँह से चोर नही कहता। वह अपना परिचय सदा साहूकार के रूप मे ही देता है। यह चोर नही साहूकार है। वे मुस्कराते हुए बगल से निकल गये।

सेठ बना हुआ चोर राजमहलो मे पहुँचा। पहरेदार खडे थे। उन्होने पूछा—"कौन है ?"

चोर ने बिना किसी हिचकिचाहट के वही उत्तर दिया—"चोर हूं।"

पहरेदारो ने सोचा—राजा और मन्त्री वेष परिवर्तन कर अभी बाहर गये है उन्होने किसी राज्य अधिकारी को भेजा है इसलिए वे मार्ग से हट गये। चोर ने खजाने का ताला खोला। अन्दर जाकर इधर-उधर देखा, वैभव बिखरा पडा था। उसने चार बहुमूल्य जवाहरात के डिब्बे देखे। मेरे जीवन निर्वाह के लिए दो डिब्बे ही पर्याप्त है। इन दो डिब्बो से तो मेरा सारा परिवार सुखी हो जायेगा और सदा के लिए चोरी जैसे निकृष्ट कार्य को छोडकर अपने जीवन को पवित्र बनाने का प्रयास करूँगा। उसने शीघ्र ही चार डिब्बो मे से दो डिब्बे बगल मे दबाये, खजाने का ताला बन्द कर, शीघ्र ही लौट गया।

चोर ज्योही आगे बढा, त्योही सामने से राजा और मन्त्री आ गये।

राजा ने पूछा—"कौन ?"

"श्रीमान्! मैने एक बार पूर्व भी बताया था कि मै चोर हू। अब आप ही बताइये कि और क्या परिचय दूं।"

राजा—"अच्छा तो कहाँ पर गये थे ?"

चोर—"चोरी करने गया था।"

राजा—"किसके यहाँ पर चोरी की ?"

चोर—"राज-खजाने मे गया था। यदि गरीब के यहाँ जाता तो उसे कितना कष्ट होता।"

राजा—"राज-खजाने से क्या लाये हो ?"

चोर—"सिर्फ जवाहरात के बहुमूल्य दो डिब्बे चुराकर लाया हूँ।"

राजा ने और मन्त्री अभयकुमार ने सोचा यह मजाक कर रहा है, उन्होने हँसते-हँसते राजमहलो की ओर कदम बढा दिये और चोर ने अपने घर की ओर।

प्रभात की सुनहरी किरणे फूटी। खजाची ने ज्यो ही खजाना खोला तो उसे ज्ञात हुआ कि दो जवाहरात के डिब्बे कोई चुराकर ले गया है। खजाची विचारने लगा कि चोरी हुई है तो मुझे भी इस सुनहरे अवसर से लाभ उठाना चाहिए। जो दो डिब्बे शेष बचे थे वे उसने धीरे से अपने घर पहुँचा दिये। फिर राजा से निवेदन किया, राजन्! आज रात को राज-खजाने मे चोरी हो गई है। जवाहरात के चार डिब्बे चोर चुराकर ले गया है।

राजा ने पहरेदारो को बुलाकर पूछा—चोरी कैसे हुई ? तुम पहरा दे रहे थे या नीद ले रहे थे। पहरेदारो ने कहा—राजन्! रात को एक सेठ आया था, हमने उससे पूछा कि तुम कौन हो, तो उसने अपने आपको चोर बतलाया। चोर कहने से हमने सोचा यह चोर नही आपके ही द्वारा प्रेषित कोई विशिष्ट अधिकारी है, हमारे पूछने पर नाराज होकर यह अपने आपको झूठ-मूठ चोर कह रहा है।

राजा ने सोचा वह वस्तुत बहुत ही तेज-तर्रार निकला। वह साहूकार नही चोर ही था, पर साधारण चोर मे कभी भी इस प्रकार का साहस नही हो सकता। वह सत्यवादी है।

राजा ने अपने प्रधानमन्त्री अभय से कहा—उस चोर का अवश्य ही पता लगाना चाहिए, यदि आज उपेक्षा की गई तो वह दिन भी दूर नही है जिस दिन खजाने मे मक्खियाँ भिनभनाने लगेगी।

मन्त्री अभय ने चोर का पता लगाने के लिए राजगृह मे ढिढोरा पिटवाया कि जिसने रात मे राज-खजाने मे चोरी की हो वह राजसभा मे उपस्थित हो जाय।

लोगो ने ढिढोरा सुना। वे खिल-खिलाकर हँस पडे। एक-दूसरे से

कहने लगे कि ज्ञात होता है कि राजा पागल हो गया है। आज दिन तक न ऐसा कभी सुना है, न देखा है। कही पर इस तरह चोर पकडे गये है? कोई भी कैसा भी चोर क्यो न हो, वह राजदरबार मे आकर ऐसा कभी नही कह सकता कि मै चोर हूँ।

ढिढोरा पीटता हुआ व्यक्ति आगे बढ रहा था। वह ज्यो ही चोर के द्वार पर पहुँचा। चोर ने ढिढोरा सुना, मन ही मन विचारने लगा, आज मेरे सत्यव्रत की कठोर परीक्षा है। पहले भी मैं इस परीक्षा मे उत्तीर्ण हुआ हूँ। सत्य की अपराजेय शक्ति के मैंने साक्षात् दर्शन किये है। अब मैं पीछे नही हट सकता। रात मे मैंने अपना सही रूप राजा, मत्री और पहरेदारो के सामने रखा है। अब भी वही रूप सामने रखूँगा। प्राण भले ही चले जायें, पर मैं सत्य को छोड नही सकता।

उसने सिपाहियो से कहा—रात को राज-खजाने मे मैंने चोरी की है। सिपाहियो ने उसे पकडकर राजा के सामने उपस्थित किया। राजा ने उसे पहचान लिया।

राजा ने पूछा—"क्या तुमने राज-खजाने मे चोरी की थी?"

चोर—'राजन् मैं तो आपको रात मे ही स्पष्ट रूप से बता चुका हूँ।'

राजा—"स्पष्ट रूप से बताओ, तुमने रात को क्या चुराया?"

चोर—"रात को ही मैंने बताया था कि मैंने दो जवाहरात के डिब्बे चुराये है।"

राजा—"किन्तु खजाने मे से चार डिब्बे गायब हो गये है।"

चोर—"मैंने तो दो डिब्बे चुराये है। शेष के सम्बन्ध मे मुझे कुछ भी ज्ञात नही है। यदि मुझे झूठ ही बोलना होता तो स्वेच्छा से यहाँ पर नही आता और रात को भी आपके सामने मिथ्या बोलता। मैंने एक बार भगवान महावीर की वाणी सुनी है और उससे प्रभावित होकर सत्य बोलने की प्रतिज्ञा ग्रहण की है जिसके कारण ही प्राणो की बाजी लगाकर के भी आपकी राज सभा मे उपस्थित हुआ हू। सत्य ने ही मेरे मन मे बल पैदा किया है।"

राजा के भय से कोषाध्यक्ष ने अपनी भूल स्वीकार की।

राजा ने चोर की सत्यवादिता से प्रभावित होकर उसे कोषाध्यक्ष के महत्त्वपूर्ण पद पर नियुक्त कर दिया। सत्य का मार्ग कठिन है, पर सत्य की सदा विजय होती है।

✡

श्री देवेन्द्रमुनि : ए

जैन तत्त्वविद्या के जाने-माने लेख

का जन्म आज से ४२ वर्ष पूर्व वि० स

था ।

नो वर्ष की आयु मे गुरुवर्य श्री पु

मे भागवती दीक्षा ग्रहण की । सस्कृत-

आगमो के गहन अध्ययन-अनुशीलन मे

आपकी प्रज्ञा विवेचना-प्रधान अ

मूलक है । किसी भी विषय पर लिखते

पहुचकर प्रमाण और तर्क के साथ उसे प्र

चार तीर्थकरो पर आपने चार वि

शीलनात्मक ग्रन्थ लिखे है । कल्पसूत्र प

व्याख्या प्रस्तुत की है । लघु-कथा, निबन्ध

व विचार-सुभाषित पर भी लगभग २५-३

है । अब तक ४ दर्जन से अधिक पुस्तके प्र

सरल एवं विनम्रचेता, सदा प्रसन्न

स्वभाव के निर्मल आकर्षक व्यक्तित्व के ध

जैन साहित्य के अग्रगी लेखको मे सर्वाधिक

नगरी से बाहर उत्तरपूर्व दिशा मे एक विशाल खाई थी। वह बडी गन्दी थी। उसका जल चर्वी, मांस, रक्त आदि से युक्त था। शव उस खाई मे पडे रहते थे। कीडो-कृमियो से भरा हुआ वह पानी अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त तथा अमनोज्ञ था। देखते ही घृणा उत्पन्न होती तथा समीप जाते ही जी घवराने लगता।

एक दिन राजा भोजन करने वैठा था। साथ मे और भी अनेक राजा तथा धनी व्यक्ति थे। भोजन कर लेने के उपरान्त राजा जितशत्रु ने कहा—

"देवानुप्रियो! यह उत्तम अशन, पान है। उसका स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और वाणी सभी कुछ श्रेष्ठ है। इन्द्रियो तथा शरीर को सुख देने वाला है।"

राजा की वात मे हाँ मे हाँ मिलाने वालो की इस ससार मे क्या कमी हो सकती है? जितने भी उपस्थित जन थे उन सभी ने राजा की वात स्वीकार की। कोई वोला—

"अहा राजन्! आप जैसा कहते है वैसा ही है।"

"अहा राजन्! इस भोजन-पान आदि का क्या कहना? यह तो अद्‌भुत है।"

"इसके वर्ण, रस, गन्ध आदि अत्यन्त उत्तम है।"

"आनन्द की सीमा है, राजन्! यह अशनपान अत्यन्त मनोज्ञ है।"

सव ने हाँ मे हाँ मिलाई, और खूव मिलाई। राजा को प्रसन्न करने का अवसर कौन चूके?

किन्तु उस मण्डली मे एक ऐसा भी व्यक्ति था जो चुपचाप उस सारे वार्तालाप को सुन रहा था। वह कुछ भी वोला नही।

वह व्यक्ति अन्य कोई नही, मन्त्री सुवुद्धि था।

राजा ने जव मन्त्री को मौन देखा तो कहा—

"अरे मन्त्रिवर! आप मौन है। कुछ कहते नही। यह मनोज्ञ अशन,

पान, खादिम-स्वादिम आदि उत्तम वर्णादि से युक्त और समस्त इन्द्रियो तथा गात्र को आनन्द प्रदान करने वाला है।"

राजा ने अपने कथन को मन्त्री के सामने इस अभिप्राय से दुहराया कि वह इसका अनुमोदन करेगा।

लेकिन मन्त्री तो मौन ही रहा। विवेकवान पुरुष केवल किसी व्यक्ति को प्रसन्न करने के उद्देश्य से ही कोई बात स्वीकार या अस्वीकार नही करते। वे जव कहते है तव सारपूर्ण बात ही कहते है।

मन्त्री को अव भी मौन ही देखकर राजा को कुछ आश्चर्य हुआ। उसने अपनी बात फिर से दुहराई। किन्तु परिणाम वही—मौन।

तव राजा को कुछ क्रोध आया। उसने तीसरी बार वही बात कुछ तीखे स्वरो मे कहकर मन्त्री से पूछा—

"तुम उत्तर क्यो नही देते सुबुद्धि ? मैं पूछ रहा हूँ और तुम बोलते नही। तुम्हारा जो भी विचार हो वह तुरन्त कहो।"

राजा का यह आदेश पाकर मन्त्री ने कहा—

"स्वामी ! यह अशन-पान मनोज्ञ है, उत्तम है, इस विपय मे मुझे कोई विस्मय नही है। यह सव तो पुद्‌गलो से निर्मित है और पुद्‌गलो का स्वरूप परिवर्तनशील है। उत्तम एव शुभ रूप-रस-गन्ध वाले पुद्‌गल भी कालक्रम से गन्दे और खराव हो सकते है तथा जो अशुभ और खराव हे वे भी उत्तम और शुभ हो सकते है। तत्व की वात तो यह है राजन् ! कि सभी पुद्‌गलो मे प्रयोग (जीव के प्रयत्न) तथा विस्रसा (स्वाभाविक रूप से) परिणमन होता रहता है।"

बात पते की थी। तात्विक थी। किन्तु वहाँ तत्व की वात सुनने कौन वैठा था ? राजा को तत्व नही सुनना था, केवल अपनी वात का अनुमोदन चाहिए था। जव मन्त्री ने उसकी वात का अनुमोदन नही किया, उसकी हाँ मे हाँ नही मिलाई, तो वह उससे रुष्ट होकर अन्य लोगो से वातचीत करने लगा। मन्त्री के प्रति उसके मन मे उपेक्षा का भाव आ गया। मन्त्री भी यह देखकर शान्त भाव से अपना कार्य देखने के लिए उठ कर अन्यत्र चला गया।

कुछ दिन व्यतीत हो गए। एक वार राजा अश्व पर सवार होकर घूमने निकला। साथ मे अनेक सैनिक थे तथा मन्त्री भी था। घूमते-घूमते

राजा उस खाई के समीप जा पहुँचा। उस गन्दे पानी की दुर्गन्ध से उसका माथा चकरा गया और कान-मुँह ढँककर वह वहाँ से भाग खडा हुआ।

खाई से दूर जाने पर राजा वोला—

"उफ! कितना गन्दा, कैसा दुर्गन्धिपूर्ण पानी है?"

राजा के मुँह से यह वात सुनते ही साथ वाले सभी लोगो ने उसकी वात का अनुमोदन करते हुए स्वीकृति मे सिर हिलाया। किन्तु अपने स्वभाव के अनुसार मन्त्री मौन ही रहा।

राजा ने उसे मौन देखा, अपनी वात दुहराई और अनुमोदन की आशा की। किन्तु अनुमोदन नही मिला। दूसरे शब्दो मे, मन्त्री ने उसकी हाँ मे हाँ नही मिलाई। राजा ने कुपित होकर उत्तर देने का आदेश दिया तव मन्त्री ने कहा—

"राजन्! इस खाई के पानी के अच्छा या बुरा होने के विपय मे मुझे कोई विस्मय नही है। यदि आपको स्मरण हो तो एक वार पहिले भी मैने आपसे कहा था कि शुभ और अच्छे रूप-रस-गन्ध वाले पुद्गल भी अशुभ रूप मे परिणत हो जाते है तथा जो अशुभ दिखाई देते है वे शुभ रूप मे। राजन्! मनुष्य के प्रयत्न से तथा स्वाभाविक रूप से पुद्गलो मे परिवर्तन होता ही रहता है।"

फिर वही वात हुई। राजा को उपदेश नही सुनना था, अपनी वात का अनुमोदन ही चाहिए था। रुष्ट होकर वह वोला—

"मन्त्री! तुम केवल नाम के ही सुबुद्धि प्रतीत होते हो। स्वय को वडे वुद्धिमान मानकर दुराग्रह करते हो।"

राजा ने कडवी वात कह दी, किन्तु मन्त्री शान्त रहा। उसने मन मे निश्चय किया कि यह तत्व की वात राजा को किसी दिन अन्य प्रकार से समझा दूंगा।

घर आकर मन्त्री ने कुम्हार के यहाँ से कुछ नए घडे मँगाए और उनमे खाई का वही गन्दा जल भरवा कर मँगवाया। उस जल को अच्छी तरह छानकर दूसरे घडो मे भरवाया और उनका मुँह वन्द करा कर मुहर लगवा दी। सात दिन और सात रात्रि के वाद जल को फिर से दूसरे घडो मे छानकर भरा गया और उसी प्रकार मुहर लगा दी गई।

यह प्रक्रिया सात सप्ताह तक चलती रही। इस प्रक्रिया द्वारा वह पानी अन्त मे एक दम शुद्ध, स्वास्थ्यप्रद, सुगन्धित—एक शब्द मे 'उदक रत्न' हो गया। तब मन्त्री ने उसमे कुछ और भी ऐसे द्रव्य मिलाए जिनसे वह पानी अमृत-तुल्य ही हो गया।

अब उस जल को लेकर मन्त्री राजा के महल मे गया और राजा के जलगृह के अधिकारी को वह जल राजा के उपयोग हेतु सौप दिया।

राजा के भोजन का समय हुआ। उसने जब जल दिया तो बडा आनन्दित हुआ। ऐसा सुस्वादु, अमृत-तुल्य जल आज कहाँ से आया? उसे विस्मय हुआ। साथ के अन्य लोगो ने भी ऐसा उत्तम जल कभी पिया नही था। प्रशसा के पुल बध गए, झडियाँ लग गई।

राजा ने जलगृह के अधिकारी को बुलाकर पूछा—

"कहाँ से आया आज इतना उत्तम जल ?"

"स्वामी! यह जल आज मुझे मन्त्रिवर ने लाकर दिया है।"

मन्त्री को बुलाया गया। उसके आने पर राजा ने कहा—

"अरे मन्त्री जी! इतना उत्तम जल कहाँ से ले आए? यह तो अमृत है। प्रतिदिन तुम मुझे ऐसा जल पीने के लिए क्यो नही देते ?"

मन्त्री ने सारी बात साफ-साफ कह दी। बोला—"स्वामी, यह जल तो उसी खाई का है।"

राजा तो जैसे आसमान से गिर पडा। उसे अत्यन्त आश्चर्य हुआ। बल्कि उसे मन्त्री की बात पर विश्वास ही नही हुआ। बोला—

"तुम्हारा दिमाग घूम गया है, मन्त्रिवर! तुम कह क्या रहे हो? होश मे तो हो? कहाँ यह अमृत के समान जल और कहाँ वह उस खाई का निकृष्ट, गन्दा पानी? असम्भव है · ।"

मन्त्री ने कहा—

"असम्भव नही, सम्भव है, तथा सत्य है स्वामी! याद कीजिए, मैंने आपसे कहा था कि पुद्गलो का परिणमन होता है। मनुष्य के प्रयत्न से तथा स्वाभाविक रूप से भी। किन्तु आपने मेरी बात पर विचार नही किया था। इसी हेतु मैंने उस पानी को शुद्ध करके आपके समक्ष प्रस्तुत किया है ताकि आप तत्व को समझ सके।"

राजा को विश्वास नही हुआ। बात ही ऐसी थी। उसने परीक्षा कर स्वयं निर्णय करने की ठानी, सेवको को आदेश दिया। सेवको ने आज्ञा का पालन करते हुए वही प्रक्रिया दुहराई जैसी कि मन्त्री ने प्रयुक्त की थी। परिणाम भी वही हुआ। खाई का दुर्गन्धयुक्त, गन्दा जल अमृत के समान, उत्तम और स्वास्थ्यवर्धक हो गया।

तब राजा जितशत्रु को मन्त्री की बात पर विश्वास हुआ। उसके तत्वज्ञान से वह प्रभावित हुआ। उसे बुलाकर कहा—

"मन्त्रिवर ! तुम सचमुच ज्ञानी हो। यथा नाम तथा गुण हो। क्षमा चाहता हूँ। मुझे जिनवचन सुनाओ।"

मन्त्री ने राजा को केवली-भाषित धर्म के तत्व समझाए। जीव-अजीव के भेद बताए। कर्म-बन्ध के कारण और निवारण के उपाय कहे।

राजा जितशत्रु का आत्मलोक प्रकाशित हो उठा। केवली भगवन्तो द्वारा कहे गए धर्म को सुनकर उसका हृदय आनन्द से भर उठा। आत्म-कल्याण का मार्ग उसे साफ-साफ दिखाई पडने लगा। उसने कहा--

"मन्त्रिवर ! तुमने मेरा बडा उपकार किया। मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ। मैं पाँच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रतो को तुम से ग्रहण करना चाहता हूँ।"

राजा ने श्रावकव्रत ग्रहण कर लिए। जीव-अजीव का ज्ञाता हो गया। साधु-साध्वियो की सेवा करता हुआ वह जीवन-यापन करने लगा।

लगभग बारह वर्ष पश्चात् चम्पा नगरी मे स्थविर मुनि का आगमन हुआ। उनके सदुपदेश से प्रभावित होकर राजा ने अपने पुत्र अदीनशत्रु का राज्याभिषेक किया और मन्त्री सहित दीक्षा ग्रहण कर ली।

दीक्षित होकर जितशत्रु मुनि ने ग्यारह अगो का अध्ययन किया। वर्षों तक दीक्षा पर्याय पालन कर अन्त मे एक मास की सलेखना कर उन्होने सिद्धि प्राप्त की।

सुबुद्धि मुनि ने भी ऐसा ही किया और मुक्त हुए।

एक के सहारे दूसरा जीव भी ससार-सागर के पार उतर गया।

—ज्ञाता० १।१२



१३

संयम-असंयम

कोई व्यक्ति वडे परिश्रम से जीवन भर मे कुछ पूँजी इकट्ठी करे और फिर उसे एक ही दिन मे उडा दे, अथवा वर्षों की मेहनत के बाद कोई सुन्दर भवन वनाया जाय और जब वह बनकर तैयार हो जाय तब उसमे आग लगा दी जाय, तो ऐसे व्यक्ति को और इस प्रकार का कार्य करने वालो को क्या कहा जाय ?

राजा पद्मनाभ ने वहुत वर्षों तक राज्य-सुख भोगा और फिर अन्त मे दीक्षा ग्रहण कर, वडे पुत्र पुण्डरीक को राज्य सौपकर विचरण करने लगा। छोटा राजकुमार कण्डरीक जीवन से विरक्त था। उसने भी कुछ समय पश्चात् दीक्षा ग्रहण कर ली।

कण्डरीक अनगार ने तप किया, साधना की और सयम की वहुमूल्य पूँजी एकत्र की। सयोगवश एक वार उन्हे दाह ज्वर ने पकड लिया। किसी भी प्रकार इस ज्वर ने उनका पीछा नही छोडा। सारे शरीर मे आग-सी लगी रहती। मुनि इस रोग से व्याकुल हो गए।

रोग ग्रसित, व्याकुल मुनि विचरते-विचरते पुण्डरीक की राजधानी मे आ पहुँचे। उनके आगमन की सूचना पाकर और उन्हे रोग से पीडित देखकर वडे भाई ने उनका समुचित उपचार कराया। धीरे-धीरे रोग शान्त हो गया।

रोग तो शान्त हो गया किन्तु मुनि का मन विचलित हो गया। यह व्याधि, मन की यह फिसलन, उस शरीर की व्याधि से भी अधिक भयकर सिद्ध हुई। चिकित्सालय की सुख-सुविधाओ के कारण मुनि कण्डरीक का मन विपय-भोगो मे आसक्त हो गया। भीतर ही भीतर तृष्णा की आग से

जलने लगे। मुनि जीवन होने के कारण मुख से कुछ कह भी नही सकते थे और संयम उनसे हो नही रहा था। बडी दुविधा मे समय बीतने लगा।

किन्तु सत्य तो छिपाए छिपता नही। भेद प्रकट होता ही है। रोग उपशान्त होने के बाद भी मुनि का वही जमे रहना तथा सयम मे शिथिलता बरतना पुण्डरीक को उचित नही जान पडा। उन्होने मुनि को मनोवैज्ञानिक रूप से, अप्रत्यक्ष तरीके से समझाने का प्रयत्न किया। मुनि के समक्ष उनकी प्रशंसा करते हुए वे बोले—

"महाराज ! आपका यह तपस्वी-जीवन धन्य है, आदर्श है। कठोर सयम का पालन करते हुए आप जनपद मे विहार करते हे तथा जन-कल्याण मे रत रहते है। क्षुधा-तृषा आदि को सहन कर साधना-पथ पर अडिग होकर आगे ही आगे बढते जाते है। हम लोग तो विषय-वासनाओ के दास है, पामर हैं। वीरोचित जीवन तो आपका ही है कि किसी भी वस्तु से, किसी भी व्यक्ति से किसी स्थान से, आप कोई मोह नही रखते। आप परम सयमी हैं। हम जैसे असंयमी व्यक्ति तो इन व्रतो को एक दिन भी निभा नही सकते।"

पुण्डरीक द्वारा की गई अपनी इस प्रकार की प्रशसा सुनकर मुनि कण्डरीक मन ही मन जल कर रह गए। अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा हेतु उन्हे उस स्थान से विहार कर चले ही जाना पडा, यद्यपि उनका मन पीछे ही छूट गया, भोगो के कीचड मे लिप्त।

साधु जीवन कठोर कंटको का मार्ग है। केवल वस्त्र बदल लेने से ही साधुता नही आ जाती। सच्चे मन से जब समस्त सासारिक आकाक्षाओ को निर्मूल कर दिया जाता है, जब संयम मे सुख का अनुभव होने लगता हे, तभी सच्ची साधुता आती है।

सुदीर्घ काल तक साधुवेश मे रहने पर भी मुनि कण्डरीक का मन साधना मे रत नही हो सका। अब वे राज्य त्याग कर साधु बन जाने की अपनी भूल मानते और पछताते थे। उनका मन बार-बार विषय-भोगो की कामना करता था और उन्ही की ओर भागता था।

अन्त मे जब उनसे नही रहा गया तो वे भाई पुण्डरीक की राजधानी मे लौट आए और साफ-साफ बोले—

भाई ! मैं इस मुनि धर्म से उकता गया हूँ। अब एक क्षण भी इसे स्वीकार करके मै नही रह सकता। क्षमा करे, मेरी आत्मा भोग की इच्छुक

है, योग की नही। मैं विवश हूं।"—कहते-कहते उनकी आँखो से आँसुओ की धारा वह चली।

पुण्डरीक नही चाहता था कि भाई अपने जीवन को नीचा गिरा ले और सारी मेहनत को व्यर्थ कर दे। उसने समझाने का यत्न किया, किन्तु कण्डरीक तो सयम-पालन मे अब अपने आपको बिलकुल असमर्थ पा रहे थे।

यह स्थिति देखकर राजा पुण्डरीक ने अपनी आत्मा को टटोला। वह जाग पडी थी और संयम-पालन के लिए प्रस्तुत थी। उन्होने कण्डरीक को राज्य सौपा और स्वय दीक्षित होकर चल पडे। जीवन-भर भोगो मे लिप्त रहने वाली आत्मा क्षणभर मे चैतन्य होकर योगी बन गई।

कण्डरीक अव राजा था। विषय-भोगो मे वह ऐसा लिप्त हुआ कि उसे अपने तन की भी कोई सुधि न रही। वह योग से भोग की ओर आकर उसमे आकण्ठ डूव गया। परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही उसे नाना प्रकार की व्याधियो ने ग्रस लिया। अन्त मे व्याधि-ग्रस्त विनष्ट शरीर को 'हाय-हाय' करता हुआ छोडकर वह आर्तध्यान वश प्राण त्याग कर सातवे नरक मे नैरयिक वना।

एक भव्य भवन क्षणमात्र मे धूलि-धूसरित हो गया। एक साधक की वर्षों मे कमाई हुई सयम की पूँजी लुट गई।

उधर पुण्डरीक मुनि ने अपने मन को पूरी तरह साध लिया था। जीवन की अन्तिम वेला मे वह राज्य से विरक्त होकर स्थविर मुनियो की सेवा मे गए, संयम व्रत अंगीकार किया, स्वाध्याय, ध्यान, तपस्या मे निरत रहे और अपनी आत्मा को उज्ज्वल से उज्ज्वलतर वनाते रहे।

शरीर क्षीणधर्मा होता है। रूखा-सूखा आहार ग्रहण करते-करते मुनि का शरीर कृश तथा रुग्ण हो उठा। तीव्र वेदना उत्पन्न होने लगी। किन्तु वे धैर्यपूर्वक इस वेदना को भी सहते रहे। अन्तिम क्षणो मे आत्मालोचन करते हुए समाधिपूर्वक शुभ भावो से मरण प्राप्त कर वे सर्वार्थसिद्ध विमान मे उत्कृष्ट स्थिति वाले देव के रूप मे उत्पन्न हुए।

सम्पूर्ण मन से की गई अल्प समय की सयम-साधना से भी पुण्डरीक को उत्कृष्ट स्थिति की देवयोनि प्राप्त हुई। जबकि दीर्घकाल तक मुनि जीवन व्यतीत करने के पश्चात् भी तनिक-सी विषयासक्ति के कारण कण्डरीक का सारा परिश्रम एव साधना व्यर्थ हो गई और उसे नरकगामी वनना पडा।

सयम-असयम के ये दो छोर है। —ज्ञाता १।१९

१४

दीप-शिखा

वारात लेकर यदुकुलभूपण राजकुमार नेमि चले । राजकुमारी राजमती प्रतीक्षा की घडियाँ गिन रही थी। उल्लास ओर आनन्द मन मे दवाए दवता नही था । चेहरे की सलज्ज स्मित के मिस फूटा पडता था ।

किन्तु कुछ अप्रत्याशित घटित होना था । वाजे-गाजे की मधुर-मगल ध्वनियो को चीरता हुआ कुछ पशुओ का करुण चीत्कार राजकुमार नेमि के कानो से जा टकराया ।

"इस समय यह चीत्कार कैसा ?" राजकुमार ने जानना चाहा ।

और जो कुछ राजकुमार ने जाना, उसे जानकर उनका जीवन सफल हो गया ।

कितने व्यक्ति ह जो यह मर्म जान पाते है कि जीवन किसी प्राणी को पीडा देने मे नही, प्रेम देने मे है ?

उन मूक पशुओ की पीडा को राजकुमार नेमि ने जाना जिनका वध केवल इसलिए किया जाता था कि एक राजकुमार का विवाह होगा, कुछ लोग मास और मदिरा से अपनी रसना को तृप्त करेगे ।

केवल इस हेतु हजारो निर्दोष पशुओ की निर्मम हत्या ! आपकी जीभ का स्वाद ही सब कुछ हुआ, उन जीवो के प्राणो का कुछ भी मूल्य नही ?

अनुचित है । जो अनुचित है, वह पाप है ।

राजकुमार नेमि ने विवाह करना तो दूर ससार ही त्याग दिया ।

उमग-उल्लास भरी राजकुमारी राजमती सोचती ही रह गई—क्या हो गया यह ? अव आगे क्या ?

किन्तु दीप-शिखा जल चुकी थी। उसके प्रकाश मे राजमती ने अपना मार्ग खोज लिया। हृदय से एक बार जिसे अपना पति मान लिया था, वही उसे मार्ग दिखा गया था।

रथनेमि ने राजमती के साथ विवाह करना चाहा। उसकी वासना उद्दाम थी। पर राजमती कौन-सी रुई की पुतली थी कि जो चाहे वह उसे फूँक मार कर उडा ले जाय? उसने कहा—

"जूठन खाइयेगा? किसी का वमन किया हुआ पदार्थ ग्रहण कीजिएगा? आपकी आत्मा क्या मर चुकी है?"

रथनेमि जाग पडा। मरी नही थी उसकी आत्मा, मूर्च्छित थी, मोह-विमूर्च्छित। वह जाग उठी। रथनेमि श्रमण बन गया।

दीप-शिखा जल चुकी थी न? उसके प्रकाश मे खोजना चाहने वालो को अपना-अपना मार्ग मिल सकता था।

एक बार राजमती भगवान नेमिनाथ के दर्शन कर गिरनार पर्वत से नीचे उतर रही थी। वर्षाकाल था। वर्षा हुई और उसके वस्त्र भीग गए। भीगे वस्त्रो को सुखा लेने के लिए वह पर्वत की एक कन्दरा मे प्रविष्ट हुई और वस्त्रो को सुखाने के लिए फैला दिया।

सयोगवश श्रमण रथनेमि उसी कन्दरा मे ध्यान कर रहे थे। निर्वस्त्रा राजुल को देख उनका हृदय फिर डोल गया। वासना के वेग ने उनकी तपस्या के तट पर भीषण पछाडे खाना आरम्भ कर दिया—

"राजुल! राजमती! चलो संसार मे लौट चले। सुख पाएँ। यह सौन्दर्य, यह यौवन क्या इस नीरस तपस्या के लिए है?"

एक बार फिर राजमती ने डूबते हुए को उबारा—

"रथनेमि! असावधानी मत करो। अमृत-फल का त्याग कर फिर उसी घृणित जूठन मे मुँह मारना चाहते हो? तुम मनुष्य हो अथवा · ?"

इतना ही पर्याप्त हुआ।

मनुष्य जाग पडा था और दीप-शिखा जल रही थी।

—दशवैकालिक–२

१५

गुरु और शिष्य

जो कुछ लिखा हुआ हो या गुरु द्वारा बताया गया हो, उसे केवल रट लेना और दुहरा देना ही वास्तविक पढाई नही है। सच्ची पढाई अथवा सच्ची शिक्षा तभी होती है जबकि वह आचरण मे उतर जाय।

भारत का बच्चा रामायण और महाभारत का नाम जानता है। राम और युधिष्ठिर की कहानियाँ भी वह सुनता रहता है। लेकिन ऐसे कितने बालक होगे जो उनके जीवन और चरित्र से सच्ची शिक्षा ग्रहण करते है?

युधिष्ठिर की ही एक बात लीजिए—

कौरव और पाण्डव जब बालक ही थे तब उनकी शिक्षा के लिए गुरु द्रोणाचार्य को नियुक्त किया गया। उनके आश्रम मे वे लोग रहते और पढते थे। शस्त्र चलाना भी सीखते थे और शास्त्र भी पढते थे।

उसी समय की एक छोटी सी, लेकिन बहुत महत्वपूर्ण घटना है—

एक दिन गुरु द्रोणाचार्य ने पाठ याद करने के लिए दिया—"सदा सत्य बोलो। क्रोध न करो।"

पढाई का समय समाप्त हुआ। बालक खेलने-कूदने मे लग गए। किन्तु केवल एक बालक ऐसा था जो एकान्त मे बैठा कुछ सोच रहा था।

वह बालक था—युधिष्ठिर, पाण्डवो मे सबसे बडा भाई।

और वह सोच क्या रहा था? वह सोच रहा था—सदा सत्य बोलो—कितना कठिन पाठ है? यह पाठ कैसे याद होगा? कभी झूठ बोलना ही नही है, चाहे कुछ भी हो जाय, हाँ, चाहे प्राण ही चले जायँ, किन्तु सत्य ही बोलना है, झूठ नही बोलना है—गुरु जी ने कहा है—इस पाठ को अच्छी तरह याद कर लो।

करना तो होगा ही। और यह भी याद करना होगा—क्रोध न करो।

बालक इस पाठ को याद करने मे मग्न हो गया।

दूसरे दिन पढाई के समय द्रोणाचार्य ने पूछा—

"बच्चो ! तुम सबने कल का पाठ याद कर लिया ?"

एक-एक कर सभी बालकों ने उत्तर दिया—

"हाँ गुरुजी ! याद कर लिया। बहुत सरल पाठ था कल तो—सदा सत्य बोलो, क्रोध न करो।"

गुरु द्रोण प्रसन्न हुए। किन्तु उसी समय उनकी दृष्टि मौन। निश्चल बैठे युधिष्ठिर पर पडी। उन्होने पूछा—

"अरे युधिष्ठिर ! तू कैसे चुप रह गया ? क्या तुझे पाठ याद नही हुआ रे ?"

युधिष्ठिर ने धीरे से अपना सिर ऊपर उठाया और बोला—

"हाँ गुरुवर्य ! मुझे कल का पाठ अभी याद नही हुआ। याद करने का प्रयत्न मैं अवश्य कर रहा हूँ।"

गुरु द्रोण को क्रोध चढ आया। इतना जरा-सा, दो वाक्य का पाठ, और वह भी याद नही हुआ ? उन्होने आव देखा न ताव, उठाई एक छडी—और लगे युधिष्ठिर की मरम्मत करने, पूरी निर्दयता से।

युधिष्ठिर का उत्तर सुनकर सारे बालक हँस पडे थे। हँसने की बात ही थी, इतना छोटा-सा पाठ भी उसे याद नही हुआ था ?

किन्तु जब द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर की पिटाई शुरू की तो ये सब बालक सन्न रह गये थे। दुर्योधन जैसे बालक तो सोच रहे थे कि यदि गुरुजी हमे इस प्रकार पीटते तो हम उल्टा सबक इन्हे ही सिखा देते, आखिर हम राजकुमार है, इस प्रकार क्या मार खाने के लिये है ?

किन्तु बालक युधिष्ठिर शान्त भाव से मार खाता रहा। उसने 'उफ' तक न की। अन्त मे गुरुजी ही थककर बडबडाते चले गये—निकम्मा कही का। आलसी परले सिरे का, मूर्ख ! दो वाक्य भी याद नही कर सका ? क्या पढाऊँ इसे—अपना सिर ?

दो-चार दिन बीते। भीष्म पितामह बच्चो की देखभाल करने आए। गुरु द्रोण से उन्होने पूछा—

"बच्चे कैसा पढ रहे ह ? सब ठीक तो चल रहा हे न आचार्यवर !"

"ओर तो सब ठीक ह । किन्तु यह युधिष्ठिर बडा मूर्ख प्रतीत होता हे । आज कितने दिन हो गये, दो वाक्य याद करने को दिये थे—सदा सत्य बोलो, क्रोध न करो—सो भी इसे याद नही हुए ।"—द्रोण ने बताया ।

भीष्म ने युधिष्ठिर से पूछा तो उसने उत्तर दिया—

"बाबा ! अब मुझे आधा पाठ याद होगया हे । गुरुजी ने कहा था—क्रोध न करो—वह मुझे अच्छी तरह याद हो गया । गुरुजी ने मुझे खूब पीटा, किन्तु मुझे तनिक भी क्रोध नही आया । किन्तु पाठ का प्रथम अश—सदा सत्य बोलो—अभी मुझे ठीक याद नही हुआ । बाबा ! बताइये, मै झूंठ कैसे बोलूं ?"

युधिष्ठिर का यह उत्तर सुनकर भीष्म ओर द्रोण दोनो ने युधिष्ठिर को अपनी बाहो मे भर लिया ।

प्रतापी आचार्य द्रोण की आँखो मे आँसू थे । वे बोले—

"अरे पुत्र ! बेटा युधिष्ठिर ! क्षमा कर मुझे । सच्चा सबक तो तूने ही सीखा हे । सच्चा पाठ तो तूने ही याद किया हे रे ! ओर तुझे आधा नही, पूरा पाठ याद हो गया हे । अहा ! मै धन्य हू कि मुझे तेरा जैसा शिष्य मिला ह आर मेरी शिक्षा भी आज धन्य हुई कि किसी एक बालक ने तो उसे ग्रहण किया । शेष ये सब निठल्ले ह, झूठे ह ।"

गुरु द्रोण की आँखो मे उस समय जो आँसू थे वे हर्ष के, सतोष के आर जीवन की चरम सार्थकता के अश्रु-बिन्दु थे ।

शेष बालको ने जब यह सुना कि—"ये सब तो निठल्ले ह, झूंठे ह" तो उन सब के चेहरो पर स्याही-सी पुत गयी थी और वे मन ही मन ईर्ष्या और क्रोध से उफन रहे थे, जो इस बात का प्रमाण था कि उनमे से किसी को पाठ याद नही हुआ था ।

युधिष्ठिर आचार्य के चरणो मे झुका पडा था आर आचार्य द्रोण का दाहिना हाथ उनके मस्तक पर आशीर्वाद की वर्षा कर रहा था ।

१६

अनिष्टकारी आसक्ति

किसी भी कर्म मे आसक्ति अच्छी नही है। बुरे कर्म मे आसक्ति तो बुरी है ही, किन्तु सत्कर्म मे भी यदि आसक्ति हो तो वह अहितकारी होती है।

एक वार भगवान महावीर जब राजगृह नगरी के वाहर गुणशील उद्यान मे विराजे थे तव दर्दुर नामक एक देव उनके दर्शन हेतु आया। वह देव वडा तेजस्वी था। उसे देखकर गणधर गौतम ने भगवान से प्रश्न किया—

"भगवन्! इस दर्दुर देव को यह अद्भुत तेज कैसे प्राप्त हुआ?"

भगवान ने वताया—

"गौतम! एक वार एक चतुर, समृद्ध मणिकार मेरा उपदेश सुनकर सन्तुष्ट हुआ और श्रावक व्रत लेकर धर्म-साधना करने लगा। कुछ समय वाद वह असयत और आसक्त मनुष्यो के ससर्ग मे रहकर धर्म मे शिथिल हो गया। पहिले जैसी दृढता अव उसके आचरण मे और भावना मे नही रही थी।

"ज्येष्ठ का महीना था। उस समय उसने तेला किया। तप करने वह पौपधशाला मे वैठ गया। किन्तु भयानक तृपा एव तीव्र क्षुधा से पीडित होकर वह समभाव न रख सका। वह सोचने लगा—तृपा वडी भयकर पीडा है। लोगो को इस तृपा से वचाने के लिए मैं राजगृह से वाहर एक

पुष्करिणी क्यों न बना दूँ ? उसका शीतल जल पीकर सभी जन शान्ति और सुख प्राप्त करेंगे।

"अपने इस विचार के अनुसार उसने कार्य कर भी डाला। समर्थ था, समृद्ध था। कोई बाधा उसे थी नहीं। एक विशाल पुष्करिणी उसने तैयार कराई। उसके चारों ओर चार सघन वनखण्ड थे। पूर्व के वनखण्ड में उसने चित्रशाला बनवाई। दक्षिण में पाठशाला, पश्चिम में औषधशाला और उत्तर में अलंकारशाला। इस प्रकार दूर-दूर के थके-माँदे यात्री आकर वहाँ विश्राम पाते। नन्द मणिकार के वे गुण गाते। घर-घर में उसका यश फैल गया।

"कुछ समय बाद वह मणिकार सोलह महारोगों से पीडित हुआ। अनेक प्रकार की चिकित्सा कराने पर भी वह स्वस्थ नहीं हुआ। उस समय रोगी रहते भी उसका मन अपनी पुष्करिणी में ही अटका रहता था, जिसने उसे लोगों की प्रशंसा का पात्र बना दिया था। पुष्करिणी के प्रति तीव्र आसक्ति के कारण वह मृत्यु को प्राप्त कर उसी पुष्करिणी में मेढक (दर्दुर) बनकर उत्पन्न हुआ।

"लोग उसी प्रकार वहाँ आते-जाते रहते थे। नन्द मणिकार की प्रशंसा करते थे। वह उस प्रशंसा को सुना करता और गंभीर विचार किया करता। होते-होते उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। अब उसे अपनी तीव्र आसक्ति के कारण होने वाली इस दुर्दशा पर बड़ा पश्चात्ताप होने लगा।

"गौतम! कालान्तर में मैं एक बार फिर राजगृह आया। पुष्करिणी पर स्नान ध्यान करने, जल पीने और जल भरने, आने-जाने वाले लोगों से उस मेढक ने भी मेरे आगमन का समाचार सुना और वह मेरे दर्शन करने के लिए चल पड़ा।

मार्ग में किसी घोड़े के पैर के नीचे कुचलने से वह आहत हो गया। आगे न बढ़ सका। अतः उसने वहीं से मुझे भक्तिपूर्वक वन्दन किया। उस समय अपनी पूर्व की आसक्ति पर उसे बड़ा पश्चात्ताप था।

"गौतम! पश्चात्ताप से दोष समाप्त होते हैं। मृत्यु के बाद वह मेढक ही यह तेजस्वी दर्दुर देव बना है।"

—ज्ञाता, १।१३



१७

वे बलिदानी

राजकुमार स्कन्दक बचपन से ही एक चपल और मेधावी बालक था। बडा होकर वह अवश्य कुछ ऐसे महान् कर्म करेगा कि जिन पर मानवता को गर्व हो सके, ऐसा विश्वास उस बालक को देखने पर सहज ही होता था।

वह श्रावस्ती के राजा जितशत्रु का पुत्र था। राजा जितशत्रु का तेज उसमे भी अवतीर्ण हुआ था। उसकी एक बहिन पुरन्दरयशा कुम्भकार-कटक के राजा दण्डकी को ब्याही गई थी। भाई-बहिन दोनो ही धर्म-प्रेमी और विचारवान थे।

स्कन्दक जब युवक हो गया तब धर्म शास्त्रो का उसका ज्ञान इतना हो चुका था कि वह किसी भी पण्डित से धर्म-चर्चा कर सकता था।

एक बार राजा दण्डक का पुरोहित पालक श्रावस्ती आया। अपने राजा के समान ही वह भी धर्म-द्वेषी और अहकारी था। राजा और पुरोहित दोनो एक ही थैली के चट्टे-बट्टे थे, अथवा दुष्टता के एक ही साँचे मे ढले हुए थे। कोई किसी से कम न था। उनमे से दुष्टता और क्रूरता के सन्दर्भ मे कौन सेर है और कौन सवा सेर यह कहना भी कठिन था।

पालक जब राजा जितशत्रु की राज्य सभा मे आया तो स्कन्दक के साथ उसकी धर्म-चर्चा छिड गई। अपने स्वभावानुसार पालक ने धर्म की निन्दा की। स्कन्दक ने धर्म की उत्तमता का प्रतिपादन किया और पालक के कुतर्कों का मुँहतोड उत्तर दिया। पालक पराजित हुआ। उसने अपने आपको अपमानित अनुभव किया अत चिढ गया।

उसने अपने मन मे गाँठ बाँध ली कि किसी दिन अवसर आने पर स्कन्दक से बदला अवश्य लूँगा। एक दुष्ट व्यक्ति का विचार इसके अतिरिक्त और हो भी क्या सकता था ?

समय का पक्षी उडता गया। एक बार स्कन्दक ने बीसवे तीर्थंकर भगवान मुनि सुव्रतस्वामी का उपदेश सुनकर, वैराग्य से प्रेरित होकर अपने पाँच सौ साथी कुमारो के साथ दीक्षा ग्रहण करली और मुनि बनकर विचरण करने लगा।

विचरते-विचरते एक बार मुनि स्कन्दक ने कुम्भकारकटक की ओर विहार कर अपने ससार-जीवन के बहिन-बहिनोई को उपदेश देने का विचार किया। भगवान से अनुमति चाही। भगवान केवलज्ञानी थे। उन्होंने कहा—

"स्कन्दक! कर्मों की गति को कोई नही रोक सकता। वहाँ तुम्हे भयकर उपसर्ग होगा। इतना भयकर कि तुम साधुओ के प्राण ही ले लेगा।

मुनि स्कन्दक की नसो मे वीर क्षत्रिय रक्त प्रवाहित था। मरने से वे क्या डरते? फिर मुनि बन जाने के बाद तो उनके लिए जीवन और मरण मे कोई भेद ही नही था। सयम की आराधना ही एक मात्र उनका इष्ट था। वे बोले—

"भगवन्! मृत्यु का तो कोई भय नहीं। किन्तु हम सयम के आराधक तो होगे न ?"

"हाँ, तुम्हारे अतिरिक्त शेष सभी होगे।"

स्कन्दक मुनि भगवान की आज्ञा लेकर चल पडे। कुम्भकारकटक पहुँच कर नगर से बाहर एक उद्यान मे ठहर गए।

पालक को सूचना मिली। उसने सोचा—शिकार स्वय ही चला आया है। अब अपने अपमान का बदला लूँगा। अपने वैर को शात करूँगा।

उपाय सोचा जाने लगा। उसकी दुष्ट बुद्धि मे एक उपाय सूझ भी गया। चुपचाप उस उद्यान मे उसने कुछ भयकर शस्त्र भूमि मे गडवा दिए और राजा के पास जाकर ढोंग करता हुआ बोला—

"राजन्! चेतिए। शीघ्रता कीजिए। स्कन्दक आपका राज्य हडपने के लिए अपने पाच सौ चुने हुए योद्धाओ के साथ नगर की सीमा पर आ पहुँचा है।"

"क्या कहते हो, पुरोहित ? स्कन्दक तो ससार-त्यागी मुनि है। उसने तो अपना ही राज्य त्याग दिया। भला मेरा राज्य वह क्यो हडपने लगा ? अवश्य तुम्हे भ्रम हुआ है।"

पालक अपनी जिद पर अडा रहा। उसने तो षड्यन्त्र रच लिया था। बोला—

"महाराज ! यह सन्यास और यह धर्म सब ढोग है। आइये मेरे साथ, मैं आपको सचाई के दर्शन कराता हूँ।"

राजा मान गया। पालक के साथ रात्रि के अन्धकार मे जाकर उसने वे शस्त्रास्त्र देखे जो स्वयं पालक ने छिपाए थे। मूढ राजा को पालक की बात पर विश्वास हो गया। उसने कहा —

"तुमने मुझे बचा लिया, पुरोहित ! तुम्हारी बुद्धि को धन्य है। अब तुम शीघ्रता करो। जैसे चाहो वैसे इन ढोगियो को दण्ड दो।"

दुष्टात्मा पालक को मनचाहा मिल गया।

जल्लादो को लेकर और एक विशाल कोल्हू को साथ ले जाकर दूसरे दिन वह स्कन्दक से बोला—

"स्कन्दक ! अब याद कर लो अपने परमात्मा को। पुकारो अपने धर्म को। मैं भी देखूँ कौन तुम्हारी रक्षा करता है। मेरा अपमान किया था न ? अब भुगतो उसका परिणाम। ये जल्लाद देख रहे हो ? ये कोल्हू देख रहे हो ? एक-एक कर तुम्हारे पाँच सौ शिष्यो को और तुम्हे इस कोल्हू मे पेलूँगा। माँस के लोथडे चील-कौवो को खिला दूँगा। पुकारो पुकारो अपने धर्म को ?"

स्कन्दक मुनि ने सारी परिस्थिति को देखा और समझा। भगवान के वचन उन्हे भूले नही थे—"वहाँ तुम्हे भयकर मारणातिक उपसर्ग होगा।" किन्तु महासागर की भाँति वे शान्त थे। अभय थे। प्रेमपूर्ण वाणी मे उन्होने कहा—

"पालक ! तुम भ्रम मे हो। न मैने कभी तुम्हारा अपमान किया था और न कोई अहित ही चाहा था। वह तो तुम्हारा वृथा अहकार ही था। आज भी तुम अज्ञान-वश अपने कर्तव्य-अकर्तव्य को जान नही रहे हो। ये

मुनि निरपराध है। इनका रक्त बहाकर तुम्हारा हित नही होगा। हिंसा से किसी का हित होता ही नही। दुष्कर्मों का परिणाम भयंकर होता है, पालक।"

किन्तु पालक तो पागल हो रहा था। उसकी सुबुद्धि लौटी नही। क्रूर अट्टहास करता हुआ वह एक-एक मुनि को उठाकर कोल्हू मे फेंकने लगा।

पवित्र मुनियो के रक्त से धरती लाल हो चली। खून की नदी बह गई। हड्डियो का ढेर लगता चला गया। चील-कौवे मॉस के लोथडो पर मँडराने लगे।

भावी अटल है। मुनि स्कन्दक धैर्य, साहस और शान्ति के सुमेरु बने रहे और अपने शिष्यो का मनोबल बढाते हुए, शान्तिपूर्वक मृत्यु के मुख मे जाने से पूर्व उन्हे समाधिनिष्ठ बनाते रहे।

कृतकर्मों की आलोचना, प्रत्यालोचना और संलेखना कर, जीवन के उच्चतम आदर्श पर आरूढ होकर वे धर्मवीर पवित्र मुनि एक-एक कर मृत्यु की बलिवेदी पर चढते चले गए।

चार सौ निन्यानवे मुनि जीवित कोल्हू मे पेल दिए गए और स्कन्दक अपने हृदय को अचल रखे शान्त भाव से देखते रहे। शेष था एक छोटा-सा साधु। बडा ही सुकुमार, विनीत, आज्ञाकारी, आचारनिष्ठ। उसे भी उस भयंकर मृत्यु की ओर जाते देख आचार्य स्कन्दक का हृदय भी हिल गया। सागर कभी अपनी मर्यादा नही तोडता। किन्तु धैर्य के महासागर स्कन्दक की मर्यादा अब टूट गई। उन्होने कहा—

"पालक! अरे पापी! यदि अपमान ही किया था तो मैने किया था। इस कोमल बालक-साधु ने तेरा क्या बिगाडा था? इसे तो छोड दे। जो कुछ चाहता हो, वह मेरे साथ कर ले। अब भी मान जा, अति बुरी होती है।"

तमाम हत्याकाड के बावजूद मुनि स्कन्दक को शान्त और अविचलित देखकर पालक को सन्तुष्टि नही हो रही थी। अब जब उसने देखा कि अन्तिम बाल-मुनि की ओर स्कन्दक का विशेष स्नेह-भाव है तो वह दुष्टात्मा बडा प्रसन्न हुआ। मुख को विकृत करता हुआ बोला—

"यह शिष्य तुझे विशेष प्रिय है ? अच्छा हुआ । तेरी आँखो के सामने पहले इसे ही अच्छी तरह कोल्हू मे पेलता हूँ, फिर तेरी बारी आयेगी ।"

बाल-मुनि प्रशान्त था । उसने कहा—

"गुरुदेव ! आप विचलित न हो । मुझे तनिक भी क्षोभ नही । आप अपनी आराधना कीजिए । मेरा अन्तिम वन्दन !"

सब समाप्त हो गया ।

आचार्य स्कन्दक ने सीमा का अतिक्रमण करने वाले पालक से कहा—

"पापी ! सावधान ! तेरे पाप का घट भर गया है । अब परिणाम भुगतने के लिए प्रस्तुत रहना । मैं तुझे, तेरे परिवार को, तेरे राजा को, तेरी सारी इस नगरी को भस्म कर दूँगा .. ।"

निष्ठुर पालक ने आचार्य को भी उठाकर कोल्हू मे पेल दिया ।

हरा-भरा वह उद्यान भयानक नर-हत्या के परिणामस्वरूप भीषण श्मशान बन गया ।

एक गीध किसी मुनि के रक्तरंजित रजोहरण को मास का पिण्ड समझकर उसे अपनी चोंच मे दबाकर उड गया । भारी होने के कारण कुछ देर बाद उसकी चोंच से छूटकर वह महारानी पुरन्दरयशा के महल मे गिर पडा ।

रानी ने वह रक्तरंजित रजोहरण देखा और आशका से उसका हृदय धडक उठा । उसने तुरन्त मुनियो का कुशलक्षेम पुछवाया और जब उसे वस्तु-स्थिति की सूचना मिली तब वह चीखती हुई मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पडी ।

किसी दयावान देवता ने यह देखा और रानी को उठाकर भगवान मुनि सुव्रत स्वामी जहाँ विहार करते थे वहाँ उसे रख दिया । रानी जब होश मे आई तब भगवान की अमृतवाणी सुनकर विरक्त होकर दीक्षित हो गई ।

आचार्य स्कन्दक अपने पूर्व सकल्पानुसार अग्निकुमार देव हुए । अपने ज्ञान से उन्होंने अपनी मृत्यु का कारण देखा, पाँच सौ मुनियो की देह के टुकडे-टुकडे देखे और वे विकराल रूप धर कर आए । कुम्भकारकटक का आकाश अग्निमय हो गया । देव ने कहा —

"पालक ! अपने पाप का परिणाम भोग। अब तेरी रक्षा नही है।"

आकाश से अंगारे बरस पड़े। सारी नगरी धू-धू कर जल उठी। एक भी जीवित प्राणी शेष न रहा। दृष्टि की सीमा तक केवल जली हुई भूमि और भस्म की ढेरी ।

कहते है वर्षों तक वह अग्नि बुझी नही और पुराणकारो की दृष्टि मे वही भूमि आज का दण्डकारण्य है जो अपने भीतर उस अविवेकी राजा दण्डक ओर पापी पालक की पाप-कथा समेटे शून्य मे सिसकता रहता है।

— उत्तराध्ययन



१८

प्रकाश ही प्रकाश

शुभ अध्यवसाय हो, और निरन्तर उनका विकास होता रहे तो कुछ भी असाध्य नही रहता।

आर्या मृगावती का प्रसग है। कौशाम्बी मे भगवान महावीर का समवसरण लगा था। सभी भगवान के दर्शन हेतु गए थे। यहाँ तक कि सूर्य और चन्द्र भी। मृगावती भी गई थी।

किन्तु सूर्य-चन्द्र भी चूंकि स्वस्थान पर उस समय नही थे, अतः समय का ठीक अनुमान नही हो सका। मृगावती को लौटने मे विलम्ब हो गया।

उसे विलम्ब से आया देख आर्या चन्दना ने कहा—"तुम उत्तम कुल मे उत्पन्न हो। फिर भी लौटने मे तुमने इतना विलम्ब क्यो किया ? यह उचित नही।

भूल-सुधार के लिए यह सामान्य संकेत था।

किन्तु यही सकेत मृगावती के लिए वरदान वन गया। अपनी भूल के लिए उसने क्षमा माँगी तथा यह सकल्प व्यक्त किया—"भविष्य मे ऐसी भूल कदापि नही होगी।"

उस समय कोई नही जानता था कि भविष्य, वल्कि निकट भविष्य के ही गर्भ मे क्या है ? स्वय मृगावती भी नही।

आर्या चन्दना तो सो गई, किन्तु मृगावती को नींद कहाँ ? वह एकाग्र होकर अपनी भूल का पश्चात्ताप कर रही थी। सोचती थी—"मुझसे

भूल हो गई। क्यो की मैंने ऐसी भूल ? मुझे अपने कार्य मे अप्रमत्त नही होना चाहिए।"

यही विचार शुद्धि करते-करते तथा एकाग्रता से मृगावती के शुभ अध्यवसायो की परिणति वढती रही। वढते-वढते सर्वोच्च विन्दु पर पहुँचते ही मृगावती को दुर्लभ, विशुद्ध केवलज्ञान प्राप्त हो गया। मृगावती का मन-मस्तिष्क-हृदय पूर्ण ज्ञान के प्रकाश का स्रोत वन गया। विश्व का कोई पदार्थ, कोई काल अव इससे अजाना न रहा।

रात्रि थी। वाहर सृष्टि मे घनघोर अन्धकार व्याप्त था। हाथ को हाथ न सूझे ऐसा निविड अन्धकार। उस समय उस अन्धेरे मे एक सर्प उधर आ गया। केवलज्ञान के प्रकाश से सृष्टि की सभी वस्तुओ को हस्तामलकवत् देखने वाली मृगावती ने उसे देखा और धीरे से आर्या चन्दना का हाथ उठा कर सर्प को निकल जाने दिया।

चन्दना की नीद खुल गई। आश्चर्य हुआ उसे—मृगावती क्यो जाग रही है ? क्यो उसने उसका हाथ उठाया ? पूछा—

"तुमने मेरा हाथ ऊपर क्यो उठाया ?"

मृगावती ने कहा—

"सर्प था। उसे धीरे से निकल जाने दिया।"

चन्दना को और भी आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—"किन्तु तुम्हे इस घोर अन्धकार में सर्प दिखाई कैसे दिया ? उसका वोध तुम्हे हुआ कैसे ?"

मृगावती ने नम्र, शान्त स्वर मे उत्तर दिया—

"अव मेरे लिए अन्धकार कही शेष नही रहा। सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश है। केवल प्रकाश—शुद्ध, अखण्ड, अनन्त।"

आर्या चन्दना एकटक मृगावती को देखती रही। सत्य को उन्होने जान लिया।



१६

देवताओं ने क्या देखा ?

देवता सुन्दर होते है। किन्नर भी सुनते है कि सुन्दर होते है। आइये, जरा देखे कि मनुष्य भी सुन्दर होते हैं क्या ?

और यह भी देखे कि कौनसे मनुष्य सुन्दर होते है ? क्योकि यदि यह न देखा, तो फिर देखा ही क्या ?

सनत्कुमार चक्रवर्ती थे। राज्य से भी, और अपनी देह की असामान्य सुषमा से भी। उनका रूप भी चक्रवर्ती था। राज्य के प्रसंग मे जैसे उनके सामने कोई अन्य राजा नही था, उसी प्रकार सौंदर्य के प्रसंग मे भी वे अद्वितीय थे। साक्षात् कामदेव भी, जो कि सौदर्य के देवता है, उनके सामने पानी भरे, ऐसा था चक्रवर्ती सनत्कुमार का रूप।

देवो के राजा इन्द्र यह जानते थे। किसी प्रसंग मे उन्होने अपनी सभा मे कहा—

"धन्य है यह भारत भूमि! आज तक जैसा रूप पृथ्वी पर कभी देखा नहीं गया, वैसा रूप है वहाँ के चक्रवर्ती सनत्कुमार का। देवताओ! जहाँ तक सौदर्य का प्रश्न है, सनत्कुमार देवो का भी देव है।"

अन्य देवता तो कुछ न बोले, किन्तु विजय और वैजयन्त देवो से एक मनुष्य के सौंदर्य की यह प्रशसा सही न गई। उन्हे ईर्ष्या हुई। बोले—

"देवराज! हमे सशय है। परीक्षा करने की अनुमति चाहते है।"

अनुमति मिल गई। दो वृद्ध ब्राह्मणो का रूप धर कर वे पहुँचे हस्तिनापुर, चक्रवर्ती की राजधानी मे।

वे जव महल मे पहुँचे तव चक्रवर्ती स्नान कर रहे थे। द्वारपाल ने पूछा—

"कहिए विप्रवर! कैसे पधारना हुआ?"

"चक्रवर्ती के दर्शन हेतु।"

"कुछ प्रतीक्षा करे। अभी चक्रवर्ती स्नान कर रहे ह।"

"भाई, हम वृद्ध हे। हमारी साँस का क्या ठिकाना? किस क्षण बुलावा आ जाय, कौन जानता है? दूर से चलकर आए है। मरने से पहले एक वार चक्रवर्ती के दर्शन पा लेने की साध है। कृपा करो।"

द्वारपाल ने चक्रवर्ती से आज्ञा प्राप्त करली। विप्र-वेशधारी देव पहुँचे चक्रवर्ती के समक्ष। उवटन लगाकर वे स्नान को चले ही थे। पूछा—

"कहिए विप्रवर! क्या आज्ञा है?"

"अहा! आज जीवन धन्य हुआ। आपके रूप की प्रशंसा सुनी थी। देखने को आँखे तरस रही थी। आज आँखे भी ठण्डी हुईं। हृदय भी शीतल हुआ।"

चक्रवर्ती प्रसन्न हुए। अपने रूप की ऐसी प्रशसा सुनकर कोन प्रसन्न न होगा? होगा कोई मुनि जो न हो, चक्रवर्ती तो मुनि नही थे।

कुछ गर्व से वे वोले—

"विप्रदेव! अभी क्या देखा, कुछ समय वाद जव वस्त्राभूपणो से सजधज कर राजसभा मे आऊँ तव देखना।"

ब्राह्मण लौट गए।

राजसभा मे चक्रवर्ती का सजाधजा रूप देखते ही वनता था। उनकी देह की कान्ति पर नेत्र ठहरते ही नही थे। चक्रवर्ती ने एक दृष्टि स्वय अपने ही शरीर पर डालते हुए ब्राह्मणो से पूछा—

"अव कहिए, महाराज! है न कोई रूप? कभी देखा था ऐसा रूप?"

किन्तु चक्रवर्ती को वह उत्तर नही मिला जिसकी उन्हे आशा थी। उत्तर जो मिला वह था—

"महाराज ! वह वात नही रही अव । इसमे सहजता नही रही । आडम्वर आ गया है । आपका वह सोदर्य सहज, निराडम्वर था । काया नीरोग थी । अव वह वात नही रही ।"

"क्यो, विप्रवर ! अव उस काया को क्या हो गया ?"

"रोगो ने घर वना लिया है । महाराज ! आपकी देह मे अव अनेक व्याधियाँ प्रविष्ट हो चुकी है ।"

"प्रमाण ?"

"व्राह्मण झूठ नही वोलते । हाथ कंगन को आरसी क्या ? अपने थूक की परीक्षा तो कर देखिए जरा ।"

सचमुच चक्रवर्ती के थूक मे दुर्गन्धि थी । रोग के कीटाणु थे ।

चक्रवर्ती सनत्कुमार के जीवन मे एक मोड आ गया ।

उस मोड पर खडे होकर उन्होने पीछे देखा—नश्वरता । निस्सारता । अनित्यता । रोग, शोक और दु ख ।

उस मोड पर खडे होकर उन्होने आगे देखा—वैराग्य । साधना । आत्मा का अमरलोक ।

देवता अपने वास्तविक रूप मे प्रकट होकर अपने द्वारा ली गई परीक्षा की वात वताकर अन्तर्ध्यान हो गए ।

और सनत्कुमार भी फिर पीछे नही लौटे । उस मोड से वे आगे वढ गए । आगे वढते ही चले गए ।

अपना चक्रवर्तित्व क्षण भर मे ठुकराकर वे मुनि वन गए । उनके शरीर पर भयानक कुष्ठ रोग ने आक्रमण कर दिया । किन्तु सामान्य जन के लिए असह्य पीडा को भी शान्ति और सद्भाव से सहन करते हुए वे अपनी तपस्या और आत्म साधना मे रत रहे । अनेको प्रकार की लब्धियाँ और सिद्धियाँ उन्हे प्राप्त हुई । किन्तु वे सभी से तटस्थ थे । न रोग से चिन्ता, न सिद्धि का अहंकार । उनका धैर्य हिमालय की भाँति अचल और अडिग था ।

देवो के राजा इन्द्र यह वात भी जानते थे । और जव किसी प्रसग मे उन्होने मुनि सनत्कुमार के अडिग धैर्य की प्रशसा की तव वे ही दोनो देव फिर से उनकी परीक्षा लेने को उद्यत हुए ।

इस बार वे वैद्य का रूप बनाकर आए। उन्होने मुनि के समीप जाकर उनसे अपने रोग का उपचार करा लेने की बहुत अनुनय-विनय की और कहा—

“केवल एक बार हमारी औषधि का प्रयोग कर लीजिए। आप रोग-मुक्त हो जायँगे।”

किन्तु मुनि तो समभाव मे स्थित थे। उन्हे रोग की कोई चिन्ता ही नही थी। चिन्ता तो दूर, उसकी ओर उनका ध्यान ही नही जाता था। बार-बार वैद्यो के आग्रह करने पर मुनि ने पूछा—

“आप शरीर के रोगो की औषध ही जानते है, अथवा कर्म-रोग की भी ?”

प्रश्न विचित्र था और उत्तर भी एक ही था—“शरीर के रोग ही दूर किए जा सकते है। कर्म-रोग का इलाज तो हमारे पास नही है।”

तब मुनि मुस्कराए। उन्होने अपनी एक अँगुली पर थूका। वह अँगुली कचनवर्णी होकर चमक उठी। यह प्रयोग देह पर और भी जहाँ-जहाँ किया गया, वही-वही काया नीरोग हो उठी। यह देखकर देवो को जो आश्चर्य हुआ उसका शमन करने हेतु मुनि ने कहा—

“शरीर की व्याधियो का उपचार तो मेरे पास भी है। वैद्यराज ! लेकिन मुझे तो इस शरीर से कोई प्रयोजन है नही। इसके रोगी या नीरोग रहने से मुझे कोई बाधा नही है। मुझे तो अपनी आत्मा पर चढे कर्म-रज की मलीनता को दूर करना है। शरीर के सौदर्य को बहुत देखा, अब तो आत्मा के सौदर्य को देखना है।”

इस अद्भुत मुनि को प्रणाम कर देव अपने लोक मे चले गए।

देवेन्द्र को उन्होने कहा—

“प्रभु ! आप ठीक ही कहते थे। सनत्कुमार जैसा सुन्दर पुरुष सृष्टि मे दूसरा नही है।”

—उत्तराध्ययन सूत्र

२०

दया के सागर

"यह विप है, वत्स ! इसे किसी ऐसे स्थान पर डालना जहाँ कोई प्राणी इसे खाकर मृत्यु को प्राप्त न हो। किसी जीव को कष्ट न हो।" गुरु ने आदेश दिया था।

मुनि ने अनेक एकान्त स्थानो पर जाकर ऐसे किसी स्थान की खोज की। किन्तु ऐसा तो कोई स्थान मिला नही। एक ही ऐसा स्थान था— स्वयं का उदर; जहाँ उस विप को रख लेने से किसी जीव को कष्ट न होता।

और मुनि ने वह भयानक विप अपने ही उदर मे रख लिया।

कौन थे वे करुणामूर्ति मुनि ?

वात वहुत पुरानी है। एक नगरी थी चम्पा। सोमदेव, सोममूर्ति और सोमदत्त नामक तीन ब्राह्मण वन्धु वहाँ निवास करते थे और उनकी पत्नियाँ थीं—नागश्री, यज्ञश्री और भूतश्री। मिल-जुलकर घर का काम करती थी। जीवन की गाडी चल रही थी।

एक दिन नागश्री भोजन वना रही थी। उसने लौकी का साग वनाया। वडे परिश्रम से खूब मिर्च-मसाले डाले ताकि साग स्वादिष्ट वने और सव प्रसन्न हो।

किन्तु साग वन जाने पर जव परीक्षा के लिए नागश्री ने उसे जरा-सा चखा, तव उसने पाया कि दुर्भाग्यवश वह तुम्वी तो कडवी थी। सारा साग एकदम कडवा हो गया था—विप वन गया था।

नागश्री ने उस साग को अलग हटा दिया और झटपट दूसरा साग बनाकर समय पर सबको भोजन करा दिया। कडवे साग को बाद मे कही फेंक दूँगी, ऐसा विचार उसने कर लिया था।

संयोग से उस समय उस नगरी मे आचार्य धर्मघोष अपने शिष्य-समुदाय सहित पधारे हुए थे। उनके एक शिष्य धर्मरुचि भिक्षा हेतु नगर मे निकले और नागश्री के द्वार पर जा पहुँचे। उस आलसी स्त्री ने सोचा कि चलो, झंझट मिटी। कौन इस साग को कही फेंकने जाता? यह मुनि स्वयं ही चले आए है तो इन्ही को यह साग दिए देती हूँ। एक पंथ दो काज सहज ही हो गए।

मुनि ने पात्र वढाया। नागश्री ने सारा ही साग उस पात्र मे उँडेल दिया। मना करने का अवकाश ही उसने नही छोडा। सरल मुनि ने देखा कि उतना साग ही क्षुधापूर्ति के लिए पर्याप्त है। अत उन्होने और किसी घर से कोई भिक्षा न ली और लौट गए।

आचार्य के समक्ष जब वह साग मुनि धर्मरुचि ने रखा तो ज्ञानी गुरु ने जान लिया कि वह साग विपाक्त हो चुका है। शान्त भाव से उन्होने कहा—

"वत्स! यह विप है। इसे किसी ऐसे स्थान पर डाल आओ, जहाँ कोई जीव इसे खा न सके, किसी जीव को कष्ट न हो।"

मुनि धर्मरुचि ऐसे किसी स्थान को खोज मे चले। एक एकान्त स्थान खोजकर उन्होने उस साग का एक बिन्दु परीक्षा हेतु भूमि पर गिराया। किन्तु उन्होने देखा कि कुछ ही क्षणो मे उस साग की गन्ध पाकर सैकडो चीटियाँ वहाँ आ गईं और उसे खाकर तत्क्षण तडप-तडप कर मर गईं।

मुनि का हृदय करुणा से भर आया। उन्होने सोचा कि ऐसा तो कोई स्थान है नही जहाँ मै इस साग को डाल दूं और कोई भी जीव उसे खा न पाये। तब क्या करूँ? किसी भी स्थान पर यदि मैने इसे डाल दिया तो हजारो चीटियो की हत्या हो जायगी। वे बेचारी अबोध चीटियाँ इस साग को खाकर कष्ट पायेगी और मृत्यु को प्राप्त करेगी।

सोचते-सोचते मुनि को एक ही उपाय सूझा। उन्होने वह साग स्वय ही खा लिया। वे जानते थे कि यह भयकर विप है। इसे खाकर उन्हे

भीषण वेदना होगी और निश्चित रूप से मृत्यु भी होगी। किन्तु अपनी वेदना और मृत्यु की चिन्ता उन्होने नही की। चिन्ता उन्हे केवल चीटियो की थी। उनकी पीडा और प्राणो की थी। उन्हे मुनिवर ने बचा लिया।

परिणाम जो होना था वही हुआ। शीघ्र ही मुनि का शरीर नीला पड गया, भयानक वेदना से ऐठने लगा, पीडा की कोई सीमा नही थी।

किन्तु दया और करुणा की मूर्ति धर्मरुचि अनगार की आत्मा शान्त और स्थिर थी। उनके हृदय मे करुणा का समुद्र लहरा रहा था।

अपनी आसन्न मृत्यु को देखकर उन महामुनि ने अनशन धारण किया, आत्मालोचना की, समस्त कषायो का उपशमन कर समाधि ग्रहण की और शरीर का त्याग कर दिया।

संसार के समस्त प्राणियो के प्रति मैत्री और करुणा की भावना लिए वे ऊपर अपने आत्मलोक को चल पडे।

—ज्ञाताधर्मकथा—१।१६



२१

मैं हूँ, और मेरी आत्मा है।

प्राचीन काल मे, जवकि भारतवर्ष सोने की चिडिया कहलाता था, मगध जैसा विशाल राज्य और उस पर शासन करने वाला श्रेणिक जैसा शक्तिशाली सम्राट ! उस सम्राट को क्या अभाव हो सकता था ? उसकी शक्ति की क्या सीमा हो सकती थी ?

किन्तु एक वार ऐसी घटना भी घटी कि वह सम्राट् श्रेणिक भी स्वय को तुच्छ और असहाय अनुभव करने लगा।

हुआ यह, कि एक वार सम्राट् श्रेणिक वायु-सेवन करता हुआ अपने अश्व पर सवार होकर अपनी राजधानी राजगृही से वाहर निकल पडा। घूमता-घामता वह 'मण्डित कुक्षि' नामक एक सुन्दर और विशाल उद्यान मे जा पहुँचा। वह उद्यान प्रकृति की शोभा का एक शानदार और भव्य नमूना था। सैकडो प्रकार के वृक्ष हरे-भरे और पुष्पो तथा फलो से लदे हुए शीतल पवन से अठखेलियाँ कर रहे थे। पुष्पो पर भ्रमर मतवाले होकर टूटे पड रहे थे और वीसियो प्रकार के पक्षी कलरव करते हुए इधर से उधर उड रहे थे। वातावरण ऐसा था कि मनुष्य वहाँ पहुँच कर अपना भान ही भूल जाय और योगियो की ध्यान-साधना भी भंग हो जाय।

किन्तु उसी उद्यान मे, उसी वातावरण मे एक वाल-योगी किसी वृक्ष के नीचे आसन लगाए ध्यानस्थ वैठा था और अपनी आत्मा के ससार मे डूवा हुआ सारी सृष्टि के व्यापारो के प्रति उपेक्षा का भाव धारण किए था।

अपने विशाल साम्राज्य, अपनी असीम शक्ति और अपने अटूट ऐश्वर्य का विचार करता और परम आनन्द के अनुभव मे डूबा हुआ सम्राट् श्रेणिक टहलता-टहलता उसी स्थान पर आ पहुँचा।

उस बाल-योगी को देखकर सम्राट् को बडा अचम्भा-सा लगा। वह सोचने लगा—इस तरुण आयु मे यह योगी कैसा? और योगी भी कोई सामान्य नही, अद्भुत तेज और महिमा से मण्डित। ललाट विशाल, मुख गौर, नासिका के अग्रभाग पर स्मित, नेत्र भी विशाल और तेजोमय, सारा शरीर कान्तिवान।

सम्राट् उस योगी को देखता ही रह गया। उसके मस्तिष्क मे एक सन्देह भी उत्पन्न हुआ कि यह कोई मानव योगी ही है अथवा कोई देवकुमार?

सम्राट् इसी पशोपेश मे पडा था कि योगी की समाधि टूटी। उसने सम्राट् को देखा और एक दिव्य मुस्कान उसके अधरो पर खेल गई। सम्राट् अपने कुतूहल को रोक न सका। उसने पूछा—

"मुनिवर! आपको देखकर विस्मित हूँ। इस आयु मे आपका यह वेश? यह आयु तो ससार के सुखो का भोग करने की है। भला ऐसी आयु मे आपको यह योग कैसे आ गया? अनुचित न समझे तो बताने की कृपा करे।"

योगी उसी मन्द, मधुर मुस्कान के साथ बोला—

"श्रीमन्! इसमे आश्चर्य की क्या बात? यही समझ लीजिए कि मैं असहाय था, अनाथ था, निरुपाय था, बस इसीलिए भिक्षु बन गया।"

सम्राट् को योगी का उत्तर तो युक्ति-सगत लगा कि एक असहाय, अनाथ, निरुपाय व्यक्ति यदि भिक्षु न बन जाय तो और भला क्या करे? किन्तु इस उत्तर से उसे कहो अपने हृदय के भीतर एक चोट भी लगी। उसने सोचा—मै मगध साम्राज्य का सर्वशक्तिमान अधीश्वर, और मेरे ही राज्य मे कोई इस प्रकार अनाथ, असहाय हो? यह तो मेरे लिए ही लज्जा की बात हुई। यदि मैं अपनी प्रजा का सहायक न बन सका, अनाथो का नाथ न बन सका तो फिर मैं राजा कैसा?

श्रेणिक को कर्तव्य बोध हुआ। वह तुरन्त बोला—

"योगी ! मेरे रहते कोई अनाथ नहीं होगा। यदि तुम्हे इसी कारण भिक्षु बनना पडा है तो अब छोडो यह जीवन और चलो मेरे साथ। आज से मै तुम्हारा नाथ बनता हूं। मै समर्थ हूँ।"

योगी फिर मुस्कराया। इस बार उसकी मुस्कराहट और भी गम्भीर थी। उसमे गूढ अर्थ भी निहित था।

सम्राट् ने योगी को केवल मौन रहकर मुस्कराते देखा तो पूछा—

"क्यो योगी ! क्या मेरी बात पर विश्वास नही होता ?"

"हाँ, श्रीमान् ! विश्वास नही होता।"

'क्यो ?"

"इसलिए, कि मैं सोचता हूँ कि जो स्वय ही अनाथ है, वह दूसरो का नाथ कैसे हो सकता है ?"

योगी की यह स्पष्टोक्ति सुनकर राजा मानो आकाश से भूमि पर आ गिरा। आज तक उसने ऐसी उक्ति कभी सुनी नही थी। मगध के सम्राट् को अनाथ कहने वाला व्यक्ति आज ही उसने देखा था। किस सिरफिरे का ऐसा साहस हो सकता था ? अपने जीवन से ऊबकर कौन अपनी मृत्यु का आह्वान करना चाहता था ?

कुछ क्षण तो राजा अवाक् रह गया। लेकिन तभी उसे विचार आया कि शायद उस तरुण योगी ने उसे पहिचाना नही है। अत वह बोला—

"योगी ! प्रतीत होता है कि तुमने मुझे पहिचाना नही, इसीलिए तुम मेरी उपेक्षा कर रहे हो। मैं श्रेणिक हूँ। सम्राट् श्रेणिक। मगध का सम्राट्—श्रेणिक।"

योगी की दिव्य मुस्कान कुछ और मधुर हो गई। उसने उत्तर दिया—

"राजन् ! मगध के प्रतापी सम्राट् को कौन अभागा न जानेगा ? हवाएँ भी जिसका यशोगान करती हुई दिशाओ मे लहराती है, उस श्रेणिक को मै क्यो न जानूंगा ? और आपकी उपेक्षा करने का भी मुझे क्या प्रयोजन ?"

"तब तुमने मुझे अनाथ कहने का दुस्साहस कैसे किया ?"—कुछ-अधीर होते हुए श्रेणिक ने पूछा।

"सत्य कटु प्रतीत हुआ क्या, राजन् ! क्षमा करिए। मेरा आशय आपको दु खी करने का नही है। किन्तु सत्य तो सत्य ही है, भला उसका मै क्या करू ँ ?"—योगी पूर्ण स्वस्थता से वोला।

"यह सत्य है ? कैसे सत्य है ? क्या मैं अनाथ हूँ ? इतनी अतुल शक्ति और सम्पत्ति का एकछत्र स्वामी, मैं अनाथ कैसे हूँ ? क्या तुम पहेलियाँ वुझा रहे हो ?"

"नही, राजन् ! हल निकाल रहा हूँ। आप जिस शक्ति और सम्पत्ति की वात कर रहे है, जिस ऐश्वर्य के आप स्वामी है—वह सारा ऐश्वर्य और शक्ति क्या आपकी रक्षा कर सकेगी ? क्या आपको व्याधि घेर नही लेगी ? क्या वृद्धावस्था आपके ऐश्वर्य, आपकी शक्ति और सम्पत्ति को एक किनारे रखकर आपके शरीर को जीर्ण नही कर देगी ? क्या एक दिन काल आपको अपना ग्रास नही वना लेगा ? आप स्वयं को अनाथो का नाथ मानते है। किन्तु उस समय आपका नाथ कौन होगा ?"

अव श्रेणिक की समझ मे आया कि वह अद्भुत योगी क्या कहना चाहता था। किन्तु वह कोई समुचित उत्तर खोजकर कुछ कहे उससे पूर्व ही योगी कहने लगा—

"राजन् ! आप उदार है। महान् है। आपने मुझे आश्रय देना चाहा, यह आपकी पहली कृपा है। मैं उपकृत हुआ। किन्तु, आपके समान नही, फिर भी यह सारा वैभव तो वहुत कुछ मेरे पास भी था। मुझे भी कोई कमी तो नही थी। धन भी था। इष्ट-मित्र, वन्धु-वान्धव भी थे। राजन् ! मैं कौशाम्वी का निवासी था। धन्य श्रेष्ठि मेरे पिता थे। सुन्दरी पत्नी भी थी। सभी कुछ था।"

"फिर क्या हुआ ?"—राजा ने जिज्ञासा प्रदर्शित करते हुए पूछा।

"एक दिन मेरे नेत्रो मे पीडा हुई। उपचार का कोई साधन ऐस नहीं जिसका प्रयोग न किया गया हो। दूर-दूर से वैद्य आए। मन्त्र-तन्त्र को भी आजमाया गया। किन्तु मेरी पीडा शान्त नही हुई। मैं छटपटाता रहा। मेरी वेदना को देखकर मेरे सभी प्रियजन दु खी थे। किन्तु स निरुपाय थे। किसी की कोई शक्ति या युक्ति काम नही आई। सम्पत्ति प सडती रही। सहानुभूति व्यर्थ रही। सेवा तो सभी करते थे, किन्तु प का निवारण किसी के वश का नही था। राजन् ! एक शब्द मे ही स

लीजिए कि मैं भी अनाथ था ओर मेरे प्रियजन भी अनाथ थे। अव तो आपने मुझे क्षमा कर दिया न ? मैं पुन दुहराता हूँ कि मेरा आशय आपको दुखी करने या आपका अपमान करने का नही था। किन्तु आपने कहा था, तो मुझे भी सत्य तो कहना ही चाहिए था न ?"

"हाँ, हाँ, योगी ! मैंने बुरा नही माना। मुझे केवल विस्मय हुआ था। लेकिन फिर क्या हुआ ?"—राजा ने पूछा।

"फिर क्या, राजन् ! मैंने विचार किया—क्या है यह जीवन ? क्या भरोसा है इस संसार का ? कितना असहाय है मनुष्य ? क्या अर्थ है उन सासारिक सम्वन्धो का ? माता-पिता, भाई-वहिन, पत्नी-पुत्र—कोई भी तो किसी के काम नही आ पाते। जव दु ख आता है, जव विपत्ति आती हे तो कोई उसे वँटा नही पाता। सव टुकुर-टुकुर देखते ही रह जाते हे ।"

"मैने निश्चय कर लिया—कोई किसी का नाथ नही है। कोई किसी का सहायक और साथी नही है। आत्मा अकेला है। वही अपना सेवक-स्वामी-सखा, जो कुछ भी मानिए सो है। इसके अतिरिक्त कुछ नही हे। आत्मा ही आत्मा का रक्षक है—अत्ताहि अत्तनो नाथो।"

"राजन् ! पीडा से व्याकुल मैं यही विचार करता-करता जाने कव सो गया। मुझे इन विचारो से, सत्य के इस साक्षात्कार से कुछ शान्ति मिली थी, इसलिए उस रात शायद नीद आ सकी।"

"प्रात काल होने पर तो फिर मैं अपनी आत्मा की खोज मे निकल पडा। किसी के रोके रुका नही। क्योकि जैसा कि मैं कह चुका हूँ—कोई किसी का है ही नही।"

"अव मैं मुनि हूँ। आत्मा के सान्निध्य मे रहता हूँ। मुझे कोई कष्ट नही है। मैं हूँ और मेरी आत्मा है।"

—उत्तराध्ययन सूत्र, २०



२२

अपनी-अपनी दृष्टि

श्रीकृष्ण के अनेक गुणो मे एक विशेष गुण था, उनकी गुण-ग्राहकता। सामान्य से सामान्य वस्तु हो, साधारण से साधारण प्राणी हो, किन्तु कृष्ण थे कि उस वस्तु अथवा प्राणी मे से भी कोई न कोई गुण खोज ही लेते थे।

दृष्टि की बात है। देखने वाली आँख चाहिए। वह देखने वाली आँख हो तो बुराई मे भी कही छिपी हुई कोई अच्छाई दीख जाती है। ऐसी दृष्टि श्रीकृष्ण के पास थी।

देवेन्द्र इन्द्र ज्ञानी थे। वे इस रहस्य को जानते थे। उन्होने सोचा—देवताओ का ध्यान इस ओर दिलाना चाहिए। एक बार अपनी सभा मे उन्होने कहा—

"श्रीकृष्ण बडे गुणग्राही है। संसार मे उनके समान गुणग्राही व्यक्ति अन्य कोई भी नही। गुणग्राहकता की ऐसी उच्च भूमि पर वे हैं कि बुरी से बुरी वस्तु मे से भी वे अच्छाई देख लेते है।"

एक देवता चल पडा इस बात की परीक्षा लेने। एक मनुष्य की ऐसी प्रशसा उससे सुनी न गई।

उस समय श्रीकृष्ण भगवान अरिष्टनेमि के दर्शन करने रैवताचल पर्वत की ओर जा रहे थे, सदल बल।

वह देव उसी मार्ग पर एक मृत, काले कुत्ते का रूप धारण करके पड गया। सडा हुआ दुर्गन्धयुक्त शरीर, कीडे कुलबुला रहे है, फटे मुख से रक्त

वह रहा है। देखते ही घृणा उत्पन्न हो, दूर से ही निकल जाने की इच्छा हो, ऐसी स्थिति।

श्रीकृष्ण के साथियो ने जव देखा तो नाक पर हाथ लगाए, मुँह से थू-थू ओर छी-छी करते इधर-उधर हट गए।

किन्तु श्रीकृष्ण ने उस कुत्ते के मुख मे उसकी चमचमाती हुई दन्त-पंक्ति देखी और कहा—

"देखो, इस श्वान की दन्त पक्ति कैसी स्वच्छ, कैसी चमकीली है। मोती के समान चमक रही है।"

हमने कहा न, कि देखने वाली आँख चाहिए। वह दिव्य दृष्टि चाहिए जो बुरी से बुरी वस्तु मे से भी अच्छाई के दर्शन करले। अपनी-अपनी दृष्टि है। औरो ने मात्र श्वान की सडी-गली देह देखी, कृष्ण ने देखी उसकी धवल दन्त-पंक्ति।

देवता विस्मित रह गया। अपने वास्तविक स्वरूप मे आकर, श्रीकृष्ण को वन्दन कर लौटा और मन ही मन कहता चला—"सचमुच, श्रीकृष्ण के पास दिव्य गुण-दृष्टि है।"

—आवश्यक 'चूर्णि'



२३

शुभ-संयोग

श्रीकृष्ण अपनी लीला का संवरण कर विदा हो चुके थे। द्वारिका का वैभव अतीत की घटना वनकर रह गया था। यादव जाति का शौर्य और प्रताप इतिहास की वात बन चुकी थी।

एक सूर्य जो अपने असीम तेज से आकाश और पृथ्वी को प्रकाशित किये हुए था, वह अस्त हो चुका था।

इस अन्धकार और निराशा की स्थिति ने श्रीकृष्ण के बडे भाई वलभद्र के हृदय मे वैराग्य उत्पन्न कर दिया था और वे साधु बनकर विचर रहे थे।

शेष सब कुछ परिवर्तित हो गया था, किन्तु वलभद्र के शरीर की कान्ति और सौंदर्य वैसा ही था। शायद सरल साधु वेश के कारण वह और भी अधिक स्वाभाविक होकर खिल उठा था।

ऐसा सात्विक सौंदर्य, कि देखने वाले की आँख एक वार उठे तो फिर वही टिक कर रह जाय। दृष्टि उनके सौम्य-सुन्दर मुख पर से फिर हटाए हटे ही नही। मन अतृप्त ही वना रह जाय। ऐसी इच्छा हो कि उस सौंदर्य को देखता ही रह जाय, एकटक, निर्निमेप।

ऐसे वलभद्र एक दिन भिक्षाटन हेतु किसी नगर मे प्रवेश करने को थे कि नगर से वाहर एक पनघट मार्ग मे पडा। मुनि निर्द्वन्द्व अपने मार्ग पर जा रहे थे। एक पानी भरने वाली युवती ने मुनि को देखा। उनके

अद्भुत रूप की भव्य कान्ति को देखकर वह ऐसी मग्न हुई कि उसे ससार ओर स्थिति की ठीक-ठीक सुध-बुध ही न रही।

पानी भरने के लिए रस्सी से वाल्टी को वॉधने के स्थान पर वह वेचारी सुधिहीना अपने वालक को ही रस्सी से वॉधकर कुएँ मे उतारने लगी। मुनि ने यह देखा और चिन्तित होकर युवती से कहा—

"अरे, क्या अनर्थ कर रही हो वहिन ?"

"क्या हुआ मुनिवर ! मैं तो पानी खीच रही हूँ।"

"पर किससे ? भोली वहना, जरा देखो तो सही। तुमने रस्सी मे क्या वॉधा है ?"

युवती ने देखा—वाल्टी के स्थान पर असावधानी से उसने अपने वालक को ही वॉध दिया है। वडी लज्जित हुई। मुनि को सादर वन्दन कर वोली—"धन्य है मुने ! आपने मेरे वालक का जीवन वचा लिया।"

मुनि वलभद्र फिर आगे नही वढे। वे पीछे ही लौट गए। भिक्षा भी उस दिन उन्होने ग्रहण न की। मन मे निश्चय कर लिया कि अव कभी नगर की ओर जाऊँगा ही नही। अरण्य मे ही रहूँगा। मेरे रूप को देखकर यदि इसी प्रकार और लोग भी असावधान होते रहे तो किसी दिन कोई अनर्थ हो जायगा। उस संभावना का आधार, उसका कारण ही समाप्त कर देना चाहिए।

वलभद्र अव अरण्यवास ही करते। वही अपनी तपस्या ओर ध्यान समाधि लगाते। आते-जाते पथिको से जव जो कुछ शुद्ध आहार मिल जाता, वह ग्रहण कर लेते, वरना भूखे ही रह जाते।

एक दिन एक वहुत प्यारा-सा मृग-शावक उधर भटककर आ पहुँचा। ध्यानमग्न मुनि को देखकर वह भोला मृग ऐसा आकर्षित हुआ कि निर्भय होकर वह मुनि के समीप ही रहने लगा। उन्हे छोडकर कही अन्यत्र जाने की उसकी इच्छा ही न होती। मुनि की प्रशान्त, सौम्य मुद्रा को देखकर उसे जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया था ओर पूर्व जन्म की स्मृतियो के कारण वह मुनि के समीप ही रहने लगा। मुनि अपनी साधना मे लगे रहते। मृग शावक को कभी कोई पथिक भोजन करता हुआ दिखाई दे

जाता तो वह दौडकर मुनि के पास आता और अपने सरल सकेतों से खीच-कर उन्हे उन पथिको के पास ले जाता। इस प्रकार मुनि को भिक्षा मिल ही जाती और नही मिलती तो चिन्ता किसे? महत्त्व तो उस भोले मृग की मनोभावना का था।

एक वार राजा ने अपने रथकार को रथ वनाने के लिए लकडी लेने जंगल मे भेजा था। उत्तम लकडी की खोज करते-करते रथकार मुनि के साधना-स्थल के समीप ही एक अच्छे, विशाल वृक्ष को देखकर वही ठहर गया। उसने सोचा—इस वृक्ष का काष्ठ उत्तम है। यही लेना चाहिए। भोजन करलूं, फिर लकडी काट लूंगा।

यह विचार कर वह भोजन करने वैठा। मृग-शिशु घास चरता-चरता वहाँ पहुँचा। उसने रथकार को भोजन की तैयारी करते देखा तो दौडकर मुनि को खीच लाया।

रथकार ने मुनि को आया देखा, हर्प से विभोर होकर उनकी वन्दना की और मुनि को आहार देने लगा। उसका तन-मन पुलकित था—भाग्यवश इस अरण्य मे भी मुनिवर के दर्शन हो गए और उन्हे आहार प्रदान करने का सौभाग्य और पुण्य प्राप्त हुआ।

मृग भी मुनि को भिक्षा प्राप्त हुई, यह देखकर प्रसन्न-पुलकित था। मन ही मन अपनी मूक भाषा मे मानो वह कहता था—यह रथकार धन्य है, ऐसे मुनि को भिक्षा देने का सौभाग्य इसे मिला है। यदि मैं मनुष्य होता, तो मझे भी यह पुण्य-अवसर प्राप्त होता।

इस प्रकार एक साथ तीनो के हृदय मे शुद्ध, शुभ भावो की उत्तम, अपूर्व धारा उमड रही थी। रथकार के मन मे उदात्त भाव से दान-धारा, मुनि की शान्त, समभाव से भिक्षा-ग्रहण धारा और मृग को रथकार के सुव्रतानुमोदन की धारा। तीनो स्थानो पर परम विशुद्ध भाव थे। पापो के प्रक्षालन के लिए इससे अधिक उत्तम सयोग और क्या हो सकता था?

सयोग ही तो था। अति उत्तम, अति पवित्र संयोग। और सयोगवश उसी समय आंधी आई। प्रवल झकोरे से उस पुरातन, जीर्ण वृक्ष की एक विशाल शाखा चरमराकर टूटी और एक साथ ही मुनि, रथकार और मृग

पर आ गिरी। तीनो एक साथ ही उस विशुद्ध भाव-स्थिति मे अपने अपने शरीरो को त्याग कर काल को प्राप्त हुए।

मुनि बलभद्र अपना आयुष्य पूर्ण कर ब्रह्म देवलोक मे महान् ऋद्धि-शाली देवता के रूप मे जन्मे। रथकार और मृग भी अपनी शुभ भावनाओ के परिणामस्वरूप उसी विमान मे बलभद्र देव के सेवाभावी देव बने।

ऐसे शुभ संयोग कदाचित् ही उपस्थित होते है। वे जब-जब भी उपस्थित हो, उन्हे पहिचानना चाहिए, और अपने आत्म-कल्याण को साधने मे चूक नही करनी चाहिए।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित



२४

राजाओं का राजा

कुछ आश्चर्य की बात तो अवश्य है, किन्तु था ऐसा ही कि राजा परदेशी और जितशत्रु मे आपस मे मैत्री थी।

परदेशी जितना क्रूर, अधर्मी और अहंकारी था, जितशत्रु उतना ही दयालु, धर्मनिष्ठ और सरल। दोनो राजा थे, उनकी मैत्री निभ रही थी। परदेशी कैकय देश मे श्वेताम्बिका नगरी मे शासन करता था और जितशत्रु कुणाल देश मे श्रावस्ती मे।

कोई भी नई वस्तु किसी एक को मिले तो वह दूसरे को अवश्य दिखाता, उपहार मे भेजता। इस प्रकार उपहारो के आदान-प्रदान के साथ दोनो राजाओ के सम्बन्ध चल रहे थे।

एक वार राजा परदेशी ने अपने मंत्री चित्त को कुछ उपहार लेकर जितशत्रु के पास भेजा। साथ ही यह भी कहा—

"मंत्रिवर! तुम चतुर हो, बुद्धिमान हो। श्रावस्ती जा रहे हो तो कुछ दिन रहकर वहाँ की राजनीति का भी अध्ययन करते आना।"

राजा की आज्ञा शिरोधार्य कर चित्त श्रावस्ती पहुँचा। उपहार आदि जितशत्रु को भेट कर वही ठहरा और अध्ययन करने लगा।

श्रावस्ती के सौभाग्य से उस समय वहाँ श्रमण केशी का पधारना हुआ। भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के वे विद्वान आचार्य थे। उनके

दर्शन और कल्याणी वाणी के श्रवण से अनेकों भूले-भटके लोग सन्मार्ग पर आते और अपने भाग्य को सराहते थे।

चित्त भी आचार्य केशी का प्रवचन सुनने गया। आचार्य की वाणी सुनकर वह तो इतना प्रभावित और मुग्ध हुआ कि उसने उसी समय श्रावक के वारह व्रत ग्रहण कर लिए और जब तक श्रावस्ती में रहा, प्रतिदिन आचार्य का प्रवचन सुनता रहा।

लौटने का समय जब हुआ तो उसने आचार्य से सविनय प्रार्थना की—

"भंते! श्वेताम्बिका के नागरिकों पर कृपा कीजिए। एक बार उधर भी पधारिए।"

आचार्य मौन रहे। उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया।

चित्त ने दूसरी बार प्रार्थना की। आचार्य फिर भी मौन रहे। तीसरी वार प्रार्थना की, फिर भी आचार्य मौन रहे।

आचार्य के मौन का कारण चतुर चित्त मंत्री समझ गया। उसने जान लिया कि उसका राजा परदेशी मूर्ख है, अधर्मी है, स्वार्थी है। शरीर के सुख के अतिरिक्त वह और कुछ जानता ही नहीं इसीलिए आचार्य मौन हैं। वे नहीं चाहते कि धर्म और संघ की कोई अवज्ञा हो। स्वयं वे तो अभय हैं।

यह समझकर चित्त ने पुनः कहा—

"भंते! आप धर्म की सेवा और प्रभावना हेतु श्वेताम्बिका अवश्य पधारें। कोई अन्यथा विचार न करें।"

विचरते-विचरते आचार्य केशी श्वेताम्बिका पहुँचे। नगरी से बाहर मृगवन में वे विराजे। नागरिक हर्ष से विभोर हो गए। प्रातःकाल होते ही उन्हें एक ही कार्य सूझता था। अब—मृगवन में जाकर आचार्य की मधुर वाणी का श्रवण कर अपने जीवन को धन्य करना।

चतुर चित्त मंत्री चाहता था कि किसी प्रकार राजा को आचार्य के पास ले जाए। बस, उसके बाद तो आचार्य के व्यक्तित्व का प्रभाव ही ऐसा पड़ेगा कि उसे सीधा मार्ग दिखाई देने लगेगा।

अस्तु, एक दिन मंत्री ने राजा से कहा—

"राजन्! कुछ नए अश्व खरीदे गए हैं। परीक्षा करके देखना चाहिए।"

राजा तुरन्त प्रस्तुत हो गया। अश्वों पर सवार होकर वे वन की ओर चल पड़े।

घूमते-घामते वे मृगवन की ओर से ही निकल पड़े। आचार्य केशी प्रजा को धर्म-देशना दे रहे थे। उन्हे देखकर राजा शीघ्रता से वहाँ से हट जाना चाहता था। बोला—

"चलो चलो, चित्त! इधर कहाँ ले आए मुझे। चलो, लौट चलो।"

"जैसी आज्ञा, महाराज! चलिए।"—मंत्री ने सहज भाव से कहा।

राजा ने अपने अश्व को एक एड लगाई। वह तेज दौडने लगा कि तभी राजा ने लगाम खीचते हुए कहा—

"लेकिन मंत्री, जरा ठहरो तो सही। जाने क्या बात है कि एक क्षण रुककर इन मुनि जी को देखने का मन करता है। यह तो राजाओं के भी राजा प्रतीत होते है।"

अश्व ठहरा लिए गए। राजा चुपचाप दूर से आचार्य को देखने लगा ·····।

जीवन मे महान् परिवर्तन के क्षण इसी प्रकार चुपचाप चले आते है ···।

राजा आचार्य की सौम्य मुद्रा को, तेजस्वी व्यक्तित्व को देखने लगा और देखते-देखते ही, बिना स्वयं जाने, किसी अज्ञात प्रेरणा के वशीभूत होकर, घोडे को धीरे-धीरे आगे बढाता हुआ धर्म-सभा के समीप आ पहुँचा।

मंत्री का हृदय हर्ष से उछलने लगा। उसने जान लिया कि आज तक जो राक्षस था, अब उसके देवता बनने का शुभ संयोग आ पहुँचा था। बिना एक भी शब्द बोले वह राजा के पीछे-पीछे चला आया।

राजा अश्व से नीचे उतरा और सभा मे जाकर बैठ गया। ऐसा प्रतीत होता था कि मानो वह लोहे की पुतली हो और आचार्य चुम्बक हो, जिनसे खिचकर वह स्वत· उनके पास जा पहुँचा हो।

एक विचित्र विमूर्च्छना की-सी स्थिति मे था राजा परदेशी। उसके कानो मे आचार्य की वाणी पड रही थी—

"यह ससार तो असार है भव्य जीवो! जो सार है वह आत्मा है। उसे जानो।"

"इस संसार की माया का क्या लोभ? इस ससार के धन-वैभव का क्या अहकार? अपनी आत्मा की अनन्त निधि को जानो, भव्य जीवो! ·· · · ।"

देशना की समाप्ति हुई और राजा आचार्य के चरणो मे जा गिरा, यन्त्रचालित-सा, भाव-विभोर, विचार-मग्न।

अपनी जिज्ञासा की शान्ति के लिए उसने आचार्य से छह प्रश्न किए। उनका समुचित समाधान पाकर वह कृतकृत्य हो गया और बोला—

"भते! मेरे जीवन की पुण्य घडी आ पहुँची। अपने चरणो मे मुझे शरण दीजिए।"

राजा परदेशी की दृष्टि खुल गई। अन्धकार से वह प्रकाश मे आ गया, अधर्म से धर्म मे आ गया। बारह व्रतो को स्वीकार कर वह अब ऐसा व्यवहार करने लगा जैसे कोई दूसरा ही व्यक्ति हो।

आचार्य केशी के व्यक्तित्व ने उस व्यक्ति को बदल दिया था।

किन्तु अभी एक परीक्षा शेष थी। रानी सूर्यकान्ता को राजा का यह सरल, धार्मिक जीवन रुचा नही। राजा ससार और स्वय उसकी ओर से विरक्त होकर धर्म मे अनुरक्त होकर जीवन-यापन करे, यह स्थिति वह विलासी रानी सह न सकी। उसने राजा को विष दे दिया।

रानी अपने कुकृत्य मे सफल तो नही हो सकी, किन्तु राजा और भी विरक्त हो गया। पौषधशाला मे जाकर उसने जीवन की आलोचना करके सलेखना करली। उसके मन मे अब किसी के प्रति कोई द्वेष या रोष नही था—रानी के प्रति भी नही। वह शान्त, प्रशान्त, उपशान्त था।

उसे समाधिमरण प्राप्त हुआ और देवलोक के सूर्याभविमान मे वह सूर्याभ देव बना। वहाँ से महाविदेह क्षेत्र मे होकर वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होगा।

—रायपसेणिय

अपराजेय अर्हन्नक

चम्पानगरी का धनश्रेष्ठी सत्यासत्य को जानने वाला श्रावक-श्रेष्ठ था। दूर-दूर देशो तक व्यापार करके उसने खूब धन अर्जित किया था और उस धन का उपयोग उदारतापूर्वक समाज के हित मे करके खूब यश भी अर्जित किया था। उसका पुत्र अर्हन्नक भी अपने पिता के योग्य ही सन्तान था। पिता के धवल यश को उसने अपने गुणो से द्विगुणित कर दिया था। यहाँ तक कि देवेन्द्र इन्द्र ने भी उसकी प्रशसा अपनी देवसभा मे करते हुए कहा था—

"अर्हन्नक वडा धर्मनिष्ठ है। उसे धर्म से विमुख करना सम्भव नही।"

एक देवता ने यह प्रशसा सुनकर अर्हन्नक की परीक्षा लेने का निश्चय किया और पृथ्वी लोक की ओर चल पडा।

उस समय अर्हन्नक व्यापार के लिए समुद्र-यात्रा पर था। उसका जलपोत सागर की मन्द-मन्द लहरियो पर वडी शान से थिरकता हुआ-सा आगे वढता चला जा रहा था।

देवता ने अपनी शक्तियो का प्रयोग किया और समुद्र मे एकाएक भीषण तूफान गरज उठा। नन्ही-नन्ही लहरियाँ अव भयानक अजगरो की भाति मुँह फाडकर पोत को निगल जाने के लिए आतुर दिखाई देने लगी। तेज पवन पोत को उडा ले जाने पर तुल गया और अन्धकार उसे ग्रसने के

लिए घिर गया। प्रतीत होता था कि पोत डूबेगा और एक भी प्राणी उसमे से जीवित नही बच सकेगा।

भयानक विपत्तिकाल था। जीवन और मृत्यु का सघर्ष था, जिसमे मृत्यु का पलडा भारी है, ऐसा स्पष्ट दीख पडता था। पोत के सभी यात्री भयभीत होकर भगवान को याद कर रहे थे।

किन्तु उस पोत मे अर्हन्नक भी था, जो अभय था। उसे मृत्यु की चिन्ता नही थी। उसने अपने मन मे दृढ सकल्प कर लिया था—यदि इस उपसर्ग से बच गया तो भक्त-पान ग्रहण करूँगा, नही तो मुझे चारो आहारो का परित्याग है।

इस प्रकार अर्हन्नक भगवान की स्तुति करता हुआ निश्चल बैठा रहा।

देव ने सभी प्रयत्न किए, किन्तु अर्हन्नक के हृदय को भयभीत या विचलित करने मे वह सफल न हो सका। अन्त मे थककर उसने अपने अन्तिम शस्त्र को आजमाते हुए कहा—

"अर्हन्नक ! तू व्यापारी है। धन कमाने निकला है। मैं तुझे जितना मांगेगा उतना धन दूँगा। अमूल्य रत्नो से तेरा भडार भर दूँगा। तू केवल एक ही बार अपने धर्म को मिथ्या और असत्य कह दे।"

कोई सामान्य व्यक्ति होता तो यही सोचता कि एक बार, केवल एक बार अपने धर्म को मिथ्या और असत्य कह देने मे क्या हानि है? यथेच्छ धन मिल जायगा। पीढियो तक सुख रहेगा।

किन्तु अर्हन्नक किसी और ही धातु का बना था। वह अपने पवित्र धर्म की ध्वजा को विमल रखने के लिए अपने प्राण तक दे सकता था। तब वह धर्म को मिथ्या कैसे कहता? कोई भी भय अथवा कैसा भी लोभ उसे डिगा नही सकता था, और न डिगा सका।

यदि ऐसा न होता तो क्या देवराज इन्द्र सहज ही किसी मनुष्य की प्रशसा कर सकते है? वे तो मनुष्यो मे जो श्रेष्ठतम मनुष्य होते है, नर-रत्न होते है, उन्ही की प्रशसा करते है।

देव ने हारकर अर्हन्नक से क्षमा मागी और एक सुन्दर, बहुमूल्य कुण्डलो की जोडी उसे भेटकर लौट गया। जाते-जाते कहता गया—

"अर्हन्नक ! तुम धन्य हो। जब तक इस धरती पर तुम जैसे धर्मवीर उत्पन्न होते रहेंगे तब तक हम देवता भी यहाँ जन्म लेने के लिए तरसते रहेंगे। तुम्हारे पास यह जो धर्म का धन है, उसके आगे संसार का सारा वैभव तुच्छ है। अतः मैं तुम्हें अब क्या दूँ ? बस, ये दिव्य कुन्डल तुम मेरी मैत्री के चिह्न स्वरूप स्वीकार करो।"

अनिच्छा होते हुए भी अर्हन्नक ने वे कुण्डल ले लिए।

चलते-चलते, अर्थात्, समुद्र-यात्रा करते-करते वह मिथिला पहुँचा। वहाँ के राजा कुम्भ की राजकुमारी मल्लि के अद्भुत गुणों का समादर करने के लिए उसने वे कुण्डल उसे भेंट कर दिए।

सच है, कुछ व्यक्ति होते हैं जो धर्म और गुणों को संसार की श्रेष्ठतम वस्तु मानते हैं।

—ज्ञाता० १।१२



२६

अडिग व्रती

प्राचीन काल मे अम्बड नामक एक तपस्वी था। वह विद्वान था। भगवान महावीर की साधना से वह बहुत प्रभावित था। उनके प्रति गहरी निष्ठा उसके हृदय मे थी। सन्यासी के वेष मे रहता था, किन्तु उसने भगवान महावीर से बारह व्रत अगीकार किए थे। उसके सात सौ शिष्य थे। वह स्वयं भी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कठोरता से करता था और अपने शिष्यो से भी उसी प्रकार उसका पालन कराता था।

उसने एक बार राजगृही जाने का निश्चय किया और भगवान से पूछा—

'मैं राजगृही की ओर जा रहा हूँ। कोई सेवा-सन्देश हो तो कृपा कर कहिए।"

भगवान को क्या कार्य हो सकता था? उन्होने राजगृही मे निवास करने वाले नाग गाथापति की पत्नी सुलसा को धर्म-सन्देश कहलाया।

अम्बड ने सोचा कि यह सुलसा अवश्य ही धर्म मे दृढ होनी चाहिए, तभी तो स्वयं भगवान ने उसे स्मरण रखा है और धर्म-सन्देश कहलाया है। किन्तु मैं तनिक परीक्षा करके देखूंगा कि ऐसी वह कितनी दृढ है धर्म मे?

परीक्षा की दृष्टि से अम्बड सुलसा के पास जब गया तो उसने अनेक रूप बनाए। यहाँ तक कि स्वय भगवान का रूप भी बनाया। किन्तु सुलसा ने उसे नमस्कार नहीं किया। उसकी यह दृढता और अपने धर्म मे अगाध श्रद्धा देखकर अम्बड बहुत प्रसन्न हुआ।

एक बार अम्बड के सात सौ शिष्य गगा के किनारे-किनारे कंपिलपुर से पुरिमताल जा रहे थे। वह भयंकर ग्रीष्मकाल था। ग्रीष्म का ताप चतुर्दिक वनस्पतियो को झुलसा रहा था। प्राणी त्राहि-त्राहि पुकार रहे थे।

सात सौ तपस्वियो को बहुत जोर से प्यास लग आई थी। उनके कंठ जले जा रहे थे। समीप ही गंगा की शीतल धारा प्रवाहित थी। किन्तु विना किसी गृहस्थ की आज्ञा के वे जल कैसे ग्रहण करते ?

किसी गृहस्थ के आने की वे प्रतीक्षा करते रहे और धैर्यपूर्वक भयानक तृषा को सहते रहे। किन्तु कोई नही आया। वे तपस्वी शीतल जल तो ग्रहण करते थे, किन्तु विना आज्ञा के नही ले सकते थे। अपने अस्तेय व्रत का वे इतनी कठोरता से पालन करते थे।

प्यास वढती जा रही थी। सूर्य प्रचण्डता से तप रहा था, और पास ही शीतल गंगा वह रही थी।

किन्तु कोई आया ही नही। न आए, तपस्वी शान्त थे। भूमि का शोधन कर वे अनशन करके लेट गए। अरिहन्त भगवान महावीर तथा गुरु अम्वड को उन्होने वही से भाव-वन्दन किया। अपने व्रतो की आलोचना की। इस प्रकार जीवन का शोधन कर, काल करके वे ब्रह्म लोक मे गए।

व्रत का भग उन्होने नही किया, प्राण ही त्याग दिए।

इसी प्रकार कालान्तर मे अम्वड भी काल करके पाँचवे ब्रह्मलोक मे गया।

धर्मवीर, तपस्वी व्यक्ति कैसी भी परिस्थिति हो, अपने व्रत से विचलित नही होते। विकट से विकट स्थिति को भी वे शान्त, प्रशान्त और उपशान्त रहकर स्वीकार करते है।

अम्वड का भविष्य उज्ज्वल है। सव साधन-सुविधाएँ होते हुए भी वह काम-भोगो मे लिप्त नही होगा। जल मे वह कमलवत् रहेगा। अन्त मे ससार का परित्याग कर दीक्षित होगा। कठोर साधना, उग्र तप और सयम ने अपनी आत्मा को भावित कर, एक मास की संलेखना कर वह सिद्ध, वुद्ध और मुक्त होगा।

—उववाईसूत्र



२७

पछतावा

मगध सम्राट कोणिक के अन्य भाइयो मे हल्ल और विहल्ल नामक भी दो भाई थे। उनके पिता बिम्बसार जब जीवित थे, तब वे अपने दोनों पुत्रो को दो बहुमूल्य वस्तुएँ दे गए थे—हल्लकुमार को सेचनक गन्धहस्ती और विहल्लकुमार को वक चूल हार।

कोणिक तो सन्तुष्ट थे। अपने योवन काल मे उनके हृदय मे जो असन्तोष और अहंकार था, वह अब समाप्त हो चुका था। किन्तु उनकी रानी पद्मावती मन ही मन इन दोनों अमूल्य वस्तुओं को किसी न किसी प्रकार हथियाने की योजनाएँ बनाया करती थी। एकबार उसने कोणिक से कह भी दिया—

"गन्धहस्ती और वक चूल हार मुझे चाहिए। आप शक्तिशाली है, महा बलवान है। इतना-सा काम नही कर सकते ?"

कोणिक ने शान्ति से समझाया था—

"सामर्थ्य का प्रश्न नही है, रानी ! न्याय का प्रश्न है। पिता ने ये वस्तुएँ मेरे भाइयो को स्वय प्रदान की है। उनके पास ही रहने दो। मेरे तो है वे, कोई पराये तो है नही। हमे कमी भी किस बात की है ?"

किन्तु त्रिया जब अपने चरित्र पर उतर आए तब किस का वश चले ? कोणिक ने अपनी पत्नी की हठ के आगे आखिर घुटने टेक दिए और हल्ल-विहल्ल से वे दोनों वस्तुएँ मागी।

हल्ल-विहल्ल बेचारे इतने समर्थ नही थे कि कोणिक का सामना

कर सके। वे अपनी रक्षा के लिए अपने नाना चेटक के पास चले गए। हाथी और हार साथ लेते गए। चेटक वैशाली गणतन्त्र के अधिपति थे। कोणिक और हल्ल-विहल्ल की माता चेलना उनकी पुत्री ही थी।

कोणिक ने जब सुना कि हल्ल और विहल्ल ने उसकी माँग को ठुकरा दिया है और चेटक के पास चले गए है तो उसे क्रोध चढ गया और हठ ने उसके हृदय मे जड जमा ली—अब तो चाहे जो हो, मैं हाथी और हार लेकर ही रहूँगा।

उसने चेटक पर चढाई कर दी। सेनाएँ रणभूमि मे आमने-सामने अड गई। महा भयानक युद्ध हुआ। रथ से रथ, हाथियो से हाथी, घोडो से घोडे और पैदल से पैदल भिड गए। खून की नदियाँ वह गई। दिशाएँ घायल सैनिको की चीत्कारो और कराहो से काँप गईं। चेटक ने भीषण मग्राम किया। अपने अचूक वाणो से उसने कालीकुमार आदि दस कुमारो को वीध डाला।

यह देखकर कोणिक अत्यन्त क्रुद्ध होकर विकट संग्राम करने लगा। उसने महाशिलाकण्टक और रथ-मूसल व्यूह की रचना कर अपनी सारी शक्ति युद्ध मे झोक दी।

अन्तत चेटक को पराजित होना पडा और कोणिक जीत गया।

किन्तु कोणिक की यह खूनी विजय पराजय से कुछ भी अधिक सिद्ध न हुई। उसके हाथ कुछ भी न लगा। न उसे हार मिला, न हाथी, और न ही हल्ल-विहल्ल। वंक हार को देव ले गया। हाथी अग्नि को अर्पित कर दिया गया, और हल्ल तथा विहल्ल भगवान महावीर की शरण मे जाकर दीक्षित होकर शान्त हृदय से आत्म-साधना मे लीन हो गए।

चेटक भी युद्ध मे अपने प्राण त्याग चुके थे।

कोणिक सोचता और पछताता ही रह गया—क्यो इतना भीपण नर-सहार किया गया ? इससे किसी को भी क्या लाभ हुआ ?

—निरयावलिआसुत्त



२८

कलाकार

कृष्ण कलाकार थे। कलाकार का साधन है कौशल। उसके बल पर वे अनेक ऐसे कार्य करने मे समर्थ और सफल हो जाते थे, जिन्हे अन्य व्यक्ति बल होते हुए भी न कर पाते।

एक बार बलदेव, सत्यक और दारुणि के साथ वे वन-विहार को गए। वन मे ही जब सूर्यास्त हो गया तो रैन-बसेरा जगल मे ही कर लिया। एक विशाल वट-वृक्ष को आश्रय बना लिया।

वन था। वन मे अनेक उपद्रवो की आशका रहती है, जीव-जन्तुओ की भी, और भूत-पिशाचो की भी। अत निर्णय हुआ—एक एक कर चारो व्यक्ति पहरा दें, शेष सो ले।

प्रथम प्रहर मे दारुणि जागा। जब वह पहरे पर था तब एक पिशाच आया। बहुत समय से भूखा रहा होगा। आज तृप्त होकर भोजन करना चाहता था। बोला—

"भूखा हू। तेरे इन सोए हुए साथियो को खाऊँगा।"

दारुणि ने तलवार खीच ली। उसके रहते उसके साथियो को कौन खाएगा?

युद्ध हुआ। किन्तु मनुष्य, मनुष्य है और पिशाच, पिशाच। पिशाच से मनुष्य कैसे जीत सकता था? मनुष्य-बल क्षीण होता चला गया और पिशाच-बल बढता गया। अन्त मे दारुणि पराजित होकर गिर पड़ा।

इसी प्रकार एक-एक कर दूसरे और तीसरे प्रहर मे सत्यक और

वलदेव भी उठे, उन्होने भी अपने साथियो की रक्षा के लिए पिशाच से युद्ध किया और अन्त मे परास्त होकर गिरे।

अव कलाकार की बारी आई। कृष्ण उठे। उन्होने सारी स्थिति को देखा और समझा। पिशाच बोला—

"अव तू चाहे तो अपनी शक्ति आजमाले। किन्तु मैं अब तेरे साथियो को खाऊँगा ही। वहुत भूखा हूं।"

कृष्ण ने धैर्य से उत्तर दिया—

"तेरी इच्छा है। जो चाहे इच्छा तू कर सकता है। अपने मन का तू स्वामी है। किन्तु मुझे जीते विना तेरी इच्छा पूरी होने की नही।"

पिशाच पिल पडा।

किन्तु कृष्ण तो कलाकार थे। जानते थे कि मनुष्य की शक्ति और पिशाच के वल मे कितना अन्तर है। अत. वे शान्त रहकर अकेले पिशाच को लड़ाते रहे। कहते रहे—'अरे शावाश! तू तो वडा बलवान है। भारी योद्धा है। वीर है। मल्ल है ।"

मूर्ख पिशाच उत्साहित होकर चारो ओर उछल-कूद मचाता रहा।

और कलाकार?

कलाकार कृष्ण खडा मुस्कराता रहा और कहता रहा—"अरे, तू तो वडा वीर है, भाई, तू तो वडा योद्धा है··· ···।"

धीरे-धीरे पिशाच थक गया। उसका वल क्षीण हो गया और वह भूमि पर गिरकर ढेर हो गया।

प्रात काल होने पर जव कृष्ण के साथी उठे तव कृष्ण ने अपने विस्मित साथियो के सामने रहस्योद्‌घाटन करते हुए कहा—

"अरे भाई! पिशाच से लडने के लिए कला की आवश्यकता होती है। केवल वल से काम नही चलता। तुम भी लडे, और लडा तो मैं भी। किन्तु तुम घायल हुए, मै घायल नही हुआ। वस्तुत मैं उससे स्वयं लडा ही नही, उसी को लडाता रहा। मैं तो शान्त भाव से खडा होकर उसे वहलाता रहा, उकसाता रहा, और परिणाम तुम्हारे सामने है।"

सुनकर साथी खूव हँसे। कहने लगे—"तुम वडे चतुर हो। इसीलिए शायद लोग तुम्हे छलिया कहते है।"

—उत्तरा०



२९

वज्रादपि कठोराणि

आचार्य अर्हन्‌मित्र एक वार अपने शिष्यवर्ग सहित तगरा नगरी मे पधारे। उनके धर्मोपदेश को सुनकर उस नगरी के अनेक व्यक्ति धर्म की उपासना की ओर उन्मुख हुए। वणिकदत्त नामक एक गृहस्थ को भी वैराग्य भावना उदित हुई और वह अपनी पत्नी भद्रा तथा पुत्र अरणक के साथ प्रव्रज्या ग्रहण कर आचार्य के साथ विचरण करने लगा।

माता ओर पिता को अपने पुत्र से सहज ही स्नेह होता हे। मुनि वन जाने के वाद भी वणिकदत्त मुनि के हृदय से इस सासारिक सम्वन्ध की मोह-ममता पूरी तरह से दूर नहीं हुई। वह अरणक के लिए भिक्षा लेने स्वय ही जाता, यह सोचकर कि उसके कोमल शरीर को कष्ट न हो।

किन्तु इसका परिणाम अरणक के लिए हितकारी नही हुआ। वह तप न सका। जैसा कोमल ओर शिथिल था, वैसा ही रह गया। जव वणिकदत्त मुनि का देहावसान हो गया तव कुछ दिन तक तो अन्य साथी भिक्षु अरणक के लिए भिक्षा लाते रहे, किन्तु वाद मे स्वय उसे ही भिक्षा लेने जाना पडता।

एक दिन, ग्रीष्म ऋतु मे, अरणक भिक्षा लेने नगर मे गया। गर्मी वहुत अधिक थी। धरती जल रही थी। हवा आग लगाती चल रही थी। अरणक को अभी कठोर जीवन का अभ्यास पड़ा नहीं था। थककर और भयंकर ग्रीष्म से बेचैन होकर वह एक स्थान पर मकान की छाया मे खड़ा हो गया।

उसे इस प्रकार थका-माँदा, क्लान्त वहाँ खडा देखकर एक तरुणी सुन्दरी नारी ने अपनी दासी को भेजकर मकान मे बुलवा लिया और उससे पूछा—

"आप इस भीषण गर्मी मे वहाँ वाहर खड़े क्या कर रहे है ? आप कौन है ? किस प्रयोजन से वहाँ खडे है ?"

जब अरणक ने बताया कि वह भिक्षु है और भिक्षा लेने निकला है, तो उस तरुणी ने कहा—

"भला यह अवस्था भी कोई भिक्षु बनने की है ? यह तो ससार के भोगो का सुख लूटने की अवस्था है। आप व्यर्थ ही अपने आपको कष्ट दे रहे है।"

अरणक स्वय ही शिथिल हो रहा था। अब उसे उस तरुणी द्वारा सयम के त्याग करने का प्रोत्साहन भी मिल गया। और वह सन्मार्ग से भटक गया। साधु वेश का त्याग कर वह उस तरुणी के साथ ही रहने लगा और विषयोपभोगो मे डूब गया।

जब अरणक बहुत समय तक लौटा ही नही तो उसके साथी भिक्षुओ को बडी चिन्ता हुई—क्या हो गया अरणक को ? लौटा क्यो नही ? खोज करनी चाहिए।

खोज हुई, किन्तु कुछ पता न चल सका। उसकी साध्वी माता तो उसके इस प्रकार से अदृश्य हो जाने से इतनी दुखी हुई कि पगला ही गई। पगली-सी होकर वह गली-गली घूमने और मार्ग मे आते-जाते लोगो से पूछने लगी—

"भाई, आपने कही मेरे पुत्र को देखा है ? वह ऐसा है। उसका नाम अरणक है।"

किन्तु पता न लग सका। किसी ने अरणक को देखा नही था। देखा हो भी तो जानते-पहिचानते नही थे। वे सहानुभूति दिखाते हुए उत्तर देते—"माता ! हमने तो तेरे पुत्र को कही देखा नही।"

एक बार अरणक की दृष्टि गवाक्ष मे बैठकर बाहर नगर की सौंदर्य-सुषमा को देखते हुए एक पगली स्त्री पर ठहर गई। वह पहिले तो कुतूहल और कुछ सहानुभूति से उसे देखता रहा, किन्तु जब उसे आकृति कुछ जानी-पहिचानी लगी तो गौर से देखा—अरे, यह तो उसकी माता ही है। हाय,

इसकी यह दशा कैसे हो गई ? अवश्य ही यह मेरे वियोग में ही दुख के कारण पगली हो गई है। अरे, यह मैं क्या देख रहा हूं ? मैंने यह क्या कर डाला ? यह तो मैंने बडी भयानक भूल की ।"

इस प्रकार आन्तरिक हृदय से पश्चात्ताप करते हुए अरणक तुरन्त घर से बाहर निकला और दौडकर अपनी माता के चरणों में जा गिरा—"मां ! मेरी माता ! मुझे क्षमा कर। बस, एक बार क्षमा कर। मुझसे भयानक भूल हुई। भविष्य में कभी न होगी।"

भूला राही ठीक मार्ग पर आ गया। आचार्य के पास जाकर उसने आलोचना की, शुद्धि की तथा आज्ञा लेकर जलते हुए शिलाखण्ड पर पादोपगमन संथारा लेकर अचल होकर स्थित हो गया।

उसके हृदय से अब सारी शिथिलता और भय दूर हो चुका था। जितना वह कोमल था, उतना ही दृढ अब बन चुका था। वज्र से भी अधिक कठोर।

—उ० अ० नि० गा० ९२



३०

मैं श्रमण हूँ

ससार है। इसमे छोटी-वडी घटनाएँ प्रतिदिन, प्रतिक्षण घटित होती ही रहती हे। किन्तु कभी-कभी कोई विवेकवान व्यक्ति जव किसी छोटी से छोटी घटना पर भी पूरा ध्यान देता है और विचार करता है, तब उस छोटी-सी घटना मे से भी उसे जीवन का वह सार प्राप्त हो जाता है जो वडे-वडे ज्ञानियो को भी सहज ही प्राप्त नही हो पाता।

वाराणसी नगरी मे ब्राह्मण कुलोत्पन्न दो भाई रहते थे—जयघोप और विजयघोष। दोनो साथ जन्मे, पले और शिक्षित हुए थे। वेद-वेदागो का साथ ही उन्होंने अध्ययन किया था। दोनों विद्वान थे।

एक वार जयघोप गगा के तीर पर स्नानार्थ गया था। उसकी दृष्टि एक साप पर पडी जिसने एक मेढक को पकड़ रखा था। और उसी सर्प को पकड लेने के लिए एक मयूर प्रयत्नशील था।

यह दृश्य देखकर जयघोप अन्तर्मुखी होकर विचार करने लगा—कैसा है यह जीवन ? हम उसमे भ्रमित रहते हे और नही जानते कि किसी भी क्षण काल हमे ग्रस लेगा। एक क्षण का भी भरोसा नही। हमारी शक्ति वस्तुत शून्य के समान है। काल हमसे वहुत अधिक वली है।

ऐसा विचार करते-करते उसने अपने जीवन को शीघ्रातिशीघ्र सुसस्कृत वना लेने का निश्चय किया और वह श्रमण वन गया। अव वह अपनी आत्मा के कल्याण हेतु तपस्या करने लगा, साधना मे रम गया।

विजयघोप उसी लकीर पर चला जा रहा था। एक वडा यज्ञ वह वाराणसी मे करा रहा था। उसी समय मासखमण के पारने के निमित्त

जयघोष नगरी मे आया। घूमता हुआ वह विजयघोष की यज्ञशाला तक जा पहुँचा। वहाँ उपस्थित अनेक ब्राह्मणो ने उसके श्रमण वेश को देखकर उसकी हँसी उडाई, व्यग किए और ब्राह्मणत्व से सम्बन्धित क्रिया-कर्म का बढ-चढकर बखान करने लगे।

जयघोष शान्त रहा। वह सद्धर्म को जान चुका था। उसने न क्रोध किया और न दुखी ही हुआ। किन्तु उसने विजयघोष से धर्म सम्बन्धी कुछ प्रश्न किए। विजयघोष उन प्रश्नो का कोई उत्तर नही दे सका।

तब जयघोष ने विजयघोष को धर्म और यज्ञ का वास्तविक स्वरूप समझाते हुए कहा—

"इन्द्रियो का निग्रह करना और मनोवृत्तियो का निरोध करना ही सच्चा यज्ञ है। अन्य किसी प्रकार के यज्ञ से न आत्मा का कल्याण हो सकता है और न ही सुख प्राप्त हो सकता है।

"सत्य, प्रेम, अचौर्य और अपरिग्रह ही धर्म है। सच्चा ब्राह्मण सत्य बोलता है, सबसे प्रेम करता है, चोरी नही करता, किसी प्रकार का परिग्रह नही रखता और अपनी वासनाओ पर विजय प्राप्त करता है। जो भी व्यक्ति इसके विपरीत आचरण करता है, वह ब्राह्मण नही हो सकता।

"जाति का झूठा अभिमान आत्मा को गिराता है। जाति तो कर्म से ही बनती है। जो व्यक्ति जैसा अच्छा या बुरा कर्म करता है, उसे वैसी ही जाति का मानना चाहिए। जन्म से ही कोई उच्च अथवा नीच नही होता।"

आज विजयघोष को सच्चे धर्म का स्वरूप ज्ञात हुआ। वह मुग्ध होकर जयघोष की वाणी सुनता रहा। जब जयघोष मौन हुए तब वह बोला—

आज से मै भी श्रमण हूँ।"

विजयघोष श्रमण भी तप-त्याग-साधना मे लीन हो गए।

दोनो श्रमण जीवन के अन्त तक साधना मे लीन रहे और अन्त मे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए।

—उत्तराध्ययन



३१

कोणिक नहीं माना

शक्ति और सम्पत्ति इसलिए होती है कि मनुष्य उनका सदुपयोग करे और जितना जो कुछ है, उसमे सन्तुष्ट रहे ।

किन्तु मनुष्य मे जव यह ज्ञान नही होता तो शक्ति उसे मदान्ध वना देती है और सम्पत्ति असंयमी ।

मदान्ध और असंयमी व्यक्ति निश्चय ही विनाश को प्राप्त होता है ।

कोणिक राजा के साथ ऐसा ही हुआ । वह स्वयं को चक्रवर्ती मानता था, चक्रवर्ती होने से कम मे वह सन्तुष्ट नही था । राजा था, कोई कमी तो थी नही, अटूट वैभव था । चाहता तो सदा सुखी रहता और अपनी शक्ति और सम्पत्ति से प्रजा को भी सुखी रखता । मानव-कल्याण मे कुछ योग देता ।

किन्तु हुआ इसके ठीक विपरीत । वह तो स्वयं को चक्रवर्ती सिद्ध करने के लिए विवेक को तिलाजलि देकर अपने विनाश को निमन्त्रित कर वैठा । यदि उसमे कुछ भी विवेक रहा होता तो क्या वह स्वय भगवान के वचनो पर अश्रद्धा करता ? उसने भगवान महावीर से पूछा था—

"भन्ते ! जो चक्रवर्ती अपने जीवन मे कामभोगो का परित्याग नही कर सकता वह मृत्यु के उपरान्त किस योनि को प्राप्त करता है ?"

भगवान ने वताया था—

"देवानुप्रिय ! ऐसा चक्रवर्ती सातवे नरक मे उत्पन्न होता है ।"

"तब तो भगवन् ! यदि मैं कामभोगों से मुक्त न हो सका तो मरकर सातवें नरक में ही जाऊँगा ?"

भगवान सब जानते थे। वे कोणिक के हृदय में व्याप्त अहंकार को भी जानते थे। उन्होंने शान्त स्वर में, स्पष्ट कथन किया—

"तुम छठे नरक में जाओगे, कोणिक।"

"क्या भंते ! अभी तो आपने कहा कि चक्रवर्ती कामभोगों में आसक्त रहकर सातवें नरक में जाते हैं। तब मैं छठे नरक में क्यों जाऊँगा ?"

"इसलिए कोणिक ! कि तू चक्रवर्ती नहीं है।"

कोणिक अधीर हो गया, बोला—

"भंते ! मेरे पास इतना विपुल वैभव है, इतनी विशाल सेना है, मैं इतने बड़े साम्राज्य का अधिपति हूं। तब मैं चक्रवर्ती क्यों नहीं बन सकता ?"

भगवान ने दयापूर्ण, कोमल वचन कहे—

"कोणिक ! अहंकार ठीक नहीं। लालसा अच्छी नहीं। जो है उसमें सन्तोष मानना चाहिए। तुम्हारे पास उतने रत्न और निधि नहीं हैं जितने एक चक्रवर्ती के पास होने चाहिए। अतः तुम उस पद को प्राप्त नहीं कर सकते। व्यर्थ में भटकना नहीं चाहिए।"

किन्तु कोणिक माना नहीं। कामना उसके कलेजे में कुंडली मारे बैठी थी।

कृत्रिम रत्न बना-बनाकर उसने अपना खजाना भर लिया। और फिर विजेता बनने के लिए तमिस्रा गुहा में प्रविष्ट होने लगा। गुहा के प्रतिपालक देव ने निषेध किया—

"कोणिक चक्रवर्ती बारह ही होते हैं, और वे हो चुके हैं। आप चक्रवर्ती नहीं हैं। कृपया अनधिकार प्रवेश न करें। ऐसा करने पर आपका अमंगल होगा।"

कोणिक नहीं माना। उसने अनधिकार प्रवेश करना ही चाहा। परिणामस्वरूप देव के प्रहार से मृत्यु प्राप्त कर वह छठे नरक में उत्पन्न हुआ।

—दशवैकालिक ६

३२

हंस का जीवित कारागार

अपनी काया सभी को प्रिय है। मनुष्य इसे कंचन-काया मानता है। वह इसके मोह मे भूला-भूला फिरता है। किन्तु इसकी वास्तविकता क्या है, यह भी विचार कभी किया है ?

पुरानी कहानी है। वीतशोका नामक नगरी मे राजा 'वल' राज्य करता था। चूँकि राजा न्यायी और प्रजा का पालक था, अत नगरी का नाम सार्थक था, वहाँ किसी को कोई दु.ख या शोक नही था। राजा का पुत्र था महावल। नाम के अनुरूप ही वह महावली और प्रतापी था। स्वर्ण मे सुहागे वाली वात तो यह थी कि वलवान होने के साथ ही वह विनयवान भी था। उसे अपनी शक्ति का तनिक भी अभिमान नही था।

एक समय जव उस नगरी मे मुनि धर्मघोप पधारे तव उनके उपदेश सुनकर राजा वल को वैराग्य उपजा और वह राज्य-सिहासन पर अपने पुत्र महावल को विठाकर मुनि वन गया।

महावल राजा हो गया। उसके छह वाल-मित्र थे—अचल, धरण, पूर्ण, वसु, वैश्रमण और अभिचन्द। महावल अव राजा था, किन्तु मित्रो की मित्रता तो वैसी ही वनी रही। सज्जन पुरुप ऐसे ही होते है। शक्ति या अधिकार के मद मे वे अपना भान कभी नही भूलते। महावल राज्य का कार्य अपने मित्रो की सलाह से ही करता था।

कुछ काल उपरान्त मुनि धर्मघोप विचरण करते हुए पुन उस नगरी मे पधारे। राजा महावल ने भी उनका उपदेश सुना और अपने पिता की